

एम.ए.(हिन्दी) पूर्वाद्ध

सेमेस्टर-II

प्रश्नपत्र 202 : आधुनिक हिन्दी काव्य-I

अध्ययन सामग्री : इकाई (1-4)



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी-विभाग

प्रश्नपत्र-202 : आधुनिक हिन्दी काव्य-I

अध्ययन सामग्री : इकाई (1-4)

इकाई-1 : साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

(क) महाकाव्यत्व और उसमें नवम सर्ग की सार्थकता

(ख) उर्मिला की विरह-भावना

(ग) मैथिलीशरण गुप्त की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना

(घ) काव्य सौन्दर्य (नवम सर्ग के सन्दर्भ में)

(ङ) उर्मिला का चरित्र

-स्व. डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त

-डॉ. रमेश कुमारी खनेजा

इकाई-2 : कामायनी : जयशंकर प्रसाद

(क) परिचय और विशेषताएँ

(ख) दार्शनिकता

(ग) रूपक तत्त्व

(घ) व्याख्या

(ङ) कामायनी रचना की पृष्ठभूमि

(च) कामायनी की विभिन्न व्याख्याएँ

(छ) कामायनी : संवेदना और शिल्प

(ज) पाठ्यक्रम में निर्धारित सर्गों का 'कामायनी' में महत्त्व

(झ) कामायनी का दर्शन

-डॉ. वेदज्ञ आर्य

-डॉ. रमेश कुमारी खनेजा

-डॉ. रेणुबाला

-शंभुनाथ

इकाई-3:(क) राम की शक्ति-पूजा : निराला

(ख) राम की शक्ति-पूजा

(ग) 'राम की शक्ति-पूजा' : एक लघु आख्याना

-डॉ. रामविलास शर्मा

-दूधनाथ सिंह

-आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी

इकाई-4 : अन्धेरे में : मुक्तिबोध

-डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

सम्पादक :

हिन्दी विभाग



मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय

5, कैवेलरी लेन, दिल्ली-110007

साकेत : मैथिलीशरण गुप्त

—स्व. डॉ. शान्ति स्वरूप गुप्त

(क) महाकाव्यत्व और उसमें नवम सर्ग की सार्थकता

मैथिलीशरण गुप्त के महाकाव्य 'साकेत' की रचना हिन्दी साहित्य के इतिहास में अनेक दृष्टियों से एक महत्वपूर्ण घटना थी। यह रामकथा अवश्य है, पर उसमें कवि की दृष्टि उर्मिला पर केन्द्रित है। इसलिए उसे 'राम का चरण-चिह्न न मानकर उर्मिला का स्मारक' कहा गया है। इस ग्रन्थ का आरम्भ सन् 1916 में हुआ पर वह पूरा हो पाया सन् 1932 में। समय-समय पर उससे संशोधन-परिवर्द्धन होते रहे। आरम्भ में इसका नाम 'उर्मिला-उत्ताप' अर्थात् 'उर्मिला-काव्य' रखा गया, क्योंकि महाकवि रवीन्द्रनाथ ने बंगला भाषा में लिखे गए अपने निबन्ध 'काव्ये उपेक्षिता' में रामकथा के भीतर 'अव्यक्त वेदना' देवी उर्मिला के प्रति भारतीय कवियों की उपेक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट किया था और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' लेख द्वारा हिन्दी कवियों से अनुरोध किया था कि वे इस उपेक्षा को दूर करें। अपने काव्य-गुरु द्विवेदी जी से संकेत पा गुप्तजी ने 'साकेत' लिखना शुरू कर दिया। ग्रन्थ के 'निवेदन' में इसका स्पष्ट संकेत है—

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद।

महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।।

गुप्तजी परम वैष्णव रामभक्त थे, उनका लक्ष्य अपने इष्टदेव राम का गुणगान करना था। अतः एक ओर अपनी अन्तःप्रेरणा, दूसरी ओर गुरु का अनुरोध—दोनों साधक बन जाएँ, इस उद्देश्य की पूर्ति में 'साकेत' नाम रखा गया और उसमें राम गुणगान, उर्मिला के त्याग, बलिदान, कष्ट-सहिष्णुता का गौरवगान करने के साथ-साथ कवि ने रामकथा के अभावों को दूर करने, राष्ट्र की व्यापक हलचल, युग की चेतना और भारतीय संस्कृति के सुमधुर चित्र उरेहने का भी प्रयास किया।

'साकेत' में आरम्भ में से अन्त तक एक कथा गुथी हुई है। अतः वह एक प्रबन्ध-काव्य है। आचार्यों ने प्रबन्ध-काव्य के तीन भेद किए हैं—खण्डकाव्य, एकार्थकाव्य और महाकाव्य। 'साकेत' में मात्र किसी एक घटना अथवा जीवन के एक पक्ष का चित्रण नहीं है। अतः इसे खण्डकाव्य नहीं कहा जा सकता है। 'खण्डकाव्य भवेत् काव्यस्य एकदेशानुसरि च। यद्यपि डॉ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'साकेत' और 'कामायनी' दोनों को एकार्थ काव्य कहा है। परन्तु साकेत का कथा-विस्तार, उदात्त चरित्र, सृष्टि एवं महान् उद्देश्य को देखकर उसे एकार्थकाव्य कहना भी अनुचित होगा।

'साहित्य दर्पण' आदि प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में महाकाव्य के जो लक्षण बताए गए हैं, वे सभी 'साकेत' में मिल जाएँगे। उसकी कथा लोक-प्रख्यात है; इसका आकार भी बृहद् है, क्योंकि

उसमें 12 सर्ग हैं। मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निन्दा, धीरोदत्त नायक, रस, नाट्य-संधिया, छन्द-योजना आदि की शास्त्रीय कसौटी पर भी 'साकेत' महाकाव्य कहा जा सकता है।

गुप्तजी चेतना-प्रवण कवि हैं; युग की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करना और युग-बोध को आत्मसात् करना उनके लिए सहज था। 'साकेत' घटना-प्रधान काव्य न होकर चरित्र-प्रधान और काव्य-प्रधान है। उसका केन्द्र राम न होकर उर्मिला है और उसी का मानसिक विकास दिखाने तथा मनोभावों का विश्लेषण करने के लिए घटनाओं को आनुवांशिक महत्त्व दिया गया है। अतः उसमें प्राचीन महाकाव्यों के सदृश क्रमबद्धता नहीं है, अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा से पूर्णतः सम्बद्ध नहीं हो पाई हैं; उन्हें उर्मिला से जोड़ने के पीछे कवि का आयास स्पष्ट झलकता है; धारा-प्रवाह बीच-बीच में टूट गया है। इसका कारण गुप्तजी की विभक्त आस्था और मानसिक द्विविधा भी है। कभी वह अपने आराध्य राम की गौरव-गाथा गाना चाहता है और कभी उपेक्षिता उर्मिला को काव्य केन्द्र बनाना चाहता है। आठवें सर्ग तक लगता है कि कवि रामकथा कह रहा है; नवम और दशम सर्ग उर्मिला से सम्बद्ध हैं; ग्यारहवें सर्ग में वह रामकथा की ओर पुनः मुड़ता है और फिर अन्त में उसे उर्मिला का ध्यान आता है। जिस 'कार्य' (लक्ष्मण-उर्मिला मिलन) को ध्यान में रखकर कथा की योजना की गई थी, उसमें व्याघात उत्पन्न होता है—मुख्य कथा गौण और गौण कथा मुख्य प्रतीत होने लगती है। उर्मिला काव्य की नायिका भले ही हो पर घटनाओं के संचालक राम ही रहते हैं। उसमें अनुपात दोष भी है—'मानस' के अयोध्याकाण्ड की कथा को आठ सर्गों में विस्तार दिया गया है, जबकि 14 वर्षों में वनवास की कथा केवल दो सर्गों में निबद्ध की गई है। नवम सर्ग में उर्मिला के विरह-वर्णन को अनावश्यक विस्तार दिया गया है। उसमें प्रयत्न की सजीवता नहीं, वह गतिशील न होकर स्थिर है। प्रबन्ध-काव्य की अपेक्षा यह गीत काव्य के लिए अधिक उपयुक्त है, क्योंकि विरह की जिन परिस्थितियों, प्रसंगों और मनःस्थितियों को चुना गया है, वे मुक्तक काव्य की-सी स्वच्छन्दता के साथ छूँटे गए हैं। दृश्यों में तारतम्य नहीं है। इस प्रकार क्रमबद्धता, वर्णनों की समानुपातिकता, अव्याहत प्रबन्धधारा, मुख्य कथा के साथ प्रासंगिक कथाओं की योजना आदि की दृष्टि से साकेत का कथा संगठन दोषपूर्ण है।

आज महाकाव्य में कथावस्तु को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता, उसमें जीवन की अभिव्यक्ति पर बल दिया जाता है, "The accent is not upon the plot but upon the observation of human life." अब नायक के कार्यों का वर्णन किया जाता है, उसके भावों का विश्लेषण और प्राणशक्ति का अन्वेषण अधिक होता है। उसमें व्यक्ति के माध्यम से मानव-जीवन की व्याख्या करने का प्रयास होता है, मानव-मन का विश्लेषण होता है, जीवन की घनीभूत, विशद और निगूढ़ अनुभूतियों को चित्रित किया जाता है। 'साकेत' भी ऐसा ही महाकाव्य है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सफल प्रबन्ध-काव्य की कसौटी बताते हुए लिखा था, "जिस कवि में कथा के मार्मिक और भावात्मक स्थलों को पहचानने की जितनी अधिक क्षमता होगी, वह उतना ही उत्कृष्ट कोटि का प्रबन्धकाव्य होगा।" 'साकेत' में पाठक की रागात्मिका वृत्ति को लीन करने वाले अनेक मार्मिक स्थल हैं। प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला की विनोद-वार्ता, राम का अयोध्या-परित्याग, उर्मिला-विरह, अयोध्यावासियों की रण-सज्जा आदि मार्मिक प्रसंगों में ऐसी रमणीय भाव-योजना की गयी है कि भाव की दृष्टि से उसमें महाकाव्योचित गरिमा स्वतः आ गयी है। मानस-भावों के कुशल चितरे गुप्तजी ने मानव-हृदय के कोने-कोने को झाँककर ऐसी भाव-योजना की है कि पाठक रसमग्न हो उठता है।

प्राचीन आचार्यों ने महाकाव्य में शृंगार, वीर, शान्त तथा करुण रसों में से एक के अंगीरस होने तथा शेष सभी रसों के अंग-रूप में होने की बात कही है। अंगीरस का निर्णय करने के लिए कसौटियों का निर्धारण भी उनके द्वारा किया गया है—(1) रस की सर्वाधिक व्याप्ति, (2) पाठक की स्थायी मनःस्थिति का निर्माण, (3) नायक या नायिका का मूल-वृत्ति से सम्बन्ध और (4) मूल उद्देश्य या फलागम का आस्वाद्य। ‘साकेत’ में सभी रस विद्यमान हैं। अंगीरस के लिए प्रतिद्वन्द्विता है दो रसों में—वीर और शृंगार में। बहुव्याप्ति की दृष्टि से शृंगार रस अंगीरस होने का अधिकारी है, क्योंकि प्रथम सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला के प्रणयालाप में, चतुर्थ सर्ग में लक्ष्मण-उर्मिला की विदाई के अवसर पर, पाँचवें तथा आठवें सर्गों में राम-सीता की विनोद-वार्ता में, नवम् तथा दशम् सर्गों में उर्मिला के विरह-चित्रण में तथा अन्तिम सर्गों से लक्ष्मण-उर्मिला के मिलन में शृंगार ही प्रधान है। शृंगार रस ‘साकेत’ के आधे से अधिक भाग को आच्छन्न किए हैं, जबकि वीर रस की व्याप्ति केवल कुछ अंशों में ही है।

‘साकेत’ पढ़ने के उपरान्त पाठक के हृदय पर जो स्थायी प्रभाव पड़ता है, उसका सम्बन्ध विरहिणी उर्मिला की दयनीय, करुण स्थिति से है, असुरों का दलन करने वाले राम के शौर्य पराक्रम से नहीं। पुस्तक की समाप्ति पर हमारा हृदय उत्साह से नहीं भरता राम के प्रति उतना श्रद्धानत नहीं होता, जितना उर्मिला के प्रति करुण भावना से आर्द्र हो उठता है।

‘साकेत’ राम की गौरव-गाथा न होकर उर्मिला का स्मारक है उसका मुख्य पात्र राम न होकर उर्मिला है और उर्मिला की मूल-वृत्ति वीरता न होकर रति-भाव की है। संयोग के क्षणों में उसका उल्लास हृदय में नहीं समा पाता और वियोग की स्थिति में वह अवधिशिला को अपनी अश्रु-धार से तिल-तिल काटती है। काव्य के मूल उद्देश्य की दृष्टि से भी, ‘साकेत’ का प्रधान रस वीर नहीं शृंगार है। गुप्तजी का उद्देश्य राम के अवतार-रूप की प्रतिष्ठा करना नहीं था, उपेक्षिता नारी-पात्रों, विशेषतः उर्मिला की करुण कहानी कहकर उसके त्याग पर प्रकाश डालना था, उसकी मानसिक तरंगों का चित्रण-विश्लेषण करना था। काव्य का अन्त भी राम-विजय के साथ न होकर लक्ष्मण-उर्मिला मिलन के साथ होता है।

त्यागी प्रेम-त्याग के व्रती वे कृती जायापती।

पान करते थे गल-बाह दिये आया होम।।

× × × ×

समुदित चन्द्र किरणों का चीर ढारता था।

आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम।।

इस प्रकार कवि के उद्देश्य एवं मुख्य पात्र की उपलब्धि की दृष्टि से भी ‘साकेत’ का अंगीरस शृंगार ही माना जायेगा। शृंगार के दो भेद हैं— संयोग और विप्रलम्भ। ‘साकेत’ में विप्रलम्भ शृंगार की प्रधानता है। कवि की वृत्ति जितनी नायिका के हृदय की विरह-कातर मनःस्थिति, उदारता, संवेदनशीलता, सहानुभूति आदि के चित्रण में रमी है उतनी उसकी शृंगारमयी भावनाओं के वर्णन में नहीं। वियोग-वर्णन में भी करुणा का प्राधान्य है, उर्मिला की दयनीय स्थिति हमारे मन में करुणा उत्पन्न करती है, अतः ‘साकेत’ का अंगीरस शुद्ध शृंगार न होकर करुण मानना चाहिए।

महाकाव्य का नायक उदात्त चरित्र का होना चाहिए। ‘साकेत’ नायिका-प्रधान काव्य है और उर्मिला अपनी उदारता, सदाशयता, कष्टसहिष्णुता, त्याग आदि गुणों के कारण उदात्त पात्र कहलाने की पूर्ण अधिकारी है। पात्रों के बाह्य विरूपण की दृष्टि से साकेत के पात्र भले ही उतने प्रभावपूर्ण प्रतीत न हो

जितने वाल्मीकि रामायण, इलियड, ओडेसी आदि प्राचीन महाकाव्यों के पर पात्रों के मानस में पैठकर, उसके अन्तस की गइराई में डूबकर उन्होंने जो भाव-मुक्तक चुने हैं, वे अनमोल हैं। चाहे कैकेयी का वात्सल्य और ग्लानि भाव हो—

कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य मान क्या तेरा?
पर आज अन्य सा हुआ भरत भी मेरा॥

और चाहे उर्मिला का अन्तः संघर्ष

अधम उर्मिले, हाय निर्दया?
पतित नाथ हैं। तू सदाशया?

× × × ×

सदय वे, बता किन्तु चंचला;
वह क्षमा सही जायगी भला?

सर्वत्र ये भाव-मणि अपनी दीप्ति से पाठक को अभिभूत कर लेते हैं।

राम यदि समूची मानवता के अभ्युत्थान के लिए कार्य करते दृष्टिगत होते हैं तो उर्मिला नारी जीवन के गौरव का प्रतिनिधित्व करती है। 'साकेत' के पात्रों का आन्तरिक विश्लेषण, उनके मन में उठते अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण, इस रचना को महाकाव्य की गरिमा प्रदान करता है।

पाश्चात्य मनीषियों ने महाकाव्य के लिए आवश्यक माना है कि वह जाति या राष्ट्र के समग्र जीवन का चित्रण करे, जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं को वाणी दे, "The epic must express the feelings of a large group of people living in or near his own time." इस दृष्टि से देखने पर भी 'साकेत' का महाकाव्य असंदिग्ध है। गाँधी-युग में लिखा गया यह काव्य देश की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक भावनाओं और आकांक्षाओं को उद्घाटित करता है। युग के वैतालिक गुप्तजी ने उसमें अपने युग के विभिन्न आन्दोलनों, विचारों और सामाजिक-राजनीतिक आदर्शों की झलक दी है। सीता का तकली चलाना, वन कन्याओं को प्रशिक्षण देना, राम-वन-गमन के समय अयोध्यावासियों का राम को रोकने के लिए उनके रथ के आगे लेट जाना, प्रजातन्त्र और किसानों की महिमा 'सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं', शृंखलाबद्ध, भारतमाता का उद्धार करने के लिए उद्बोधन—

भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बन्धन में,
सिन्धु पार वह विलंब रही है अपने मन में॥

आदि के माध्यम से कवि ने युग का दर्पण ही प्रस्तुत कर दिया है। इसी को देखकर डॉ. नन्ददुलारे वाजपेयी ने लिखा था, "युग के विकासोन्मुख जीवन का साक्षात्कार करने और उसे वाणी का परिधान पहनाकर नयनाभिराम बना देने के कारण इस युग में गुप्तजी जन-समाज के प्रथम कृति कवि कहे जायेंगे।"

समसामयिक जीवन और उसकी समस्याओं का चित्रण करने के अतिरिक्त गुप्तजी ने मानवतावाद का जो सन्देश दिया है, वह देश-काल की सीमाओं को पार कर सभी देशों और सभी कालों के लिए उपयोगी हो सकता है। वह मानव-मात्र का अभ्युदय चाहते हैं, शोषितों और उत्पीड़ितों के उद्धार में ही सच्चा मोक्ष मानते हैं, इस भू-तल को ही स्वर्ग बनाना सच्चा कर्तव्य बताते हैं। भोग और योग, ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर बल देते हुए गुप्तजी 'साकेत' के विभिन्न पात्रों के माध्यम से जो सन्देश देते हैं, उनमें प्रमुख हैं—पाप से घृणा करो, पापी से नहीं, समष्टि के लिए व्यष्टि का बलिदान करना चाहिए, 'हम

ही समष्टि के लिए बलिदानी', जन-भार वहन करने में ही सच्चा गौरव है। कर्मण्यता, निग्रह, पर-सेवा और त्याग बलिदान का संदेश देने वाली रचना निष्प्राण नहीं हो सकती। फिर भी उसमें जीवन-दर्शन की वह विराट व्यंजना नहीं है जो 'कामायनी' में उपलब्ध है। प्राचीन आदर्शों को ही दुहराया गया है और उनकी अभिव्यक्ति में भी महाकाव्य की महार्घता नहीं आ पाई है।

ग्रीक आचार्य लॉजाइनस ने अपने ग्रन्थ "on the sublime" काव्य में औदात्य लाने के लिए भव्य भाषा और गरिमामय रचना-विधान को आवश्यक बताया था। इलियट ने "classic" की चर्चा करते हुए मस्तिष्क और शील की प्रौढ़ता के साथ-साथ भाषा की प्रौढ़ता पर बल दिया है। एवरक्राम्बी के अनुसार कोई काव्य केवल अपने बृहद् आकार के कारण महाकाव्य नहीं हो सकता, जब तक कि उसकी शैली गरिमामंडित न हो। भारतीय आचार्यों ने भी अभिव्यक्ति कौशल के महत्त्व को स्वीकार किया है। यद्यपि खोजने पर 'साकेत' में सुष्ठु अलंकार-योजना, सुन्दर बिम्ब विधान, चित्रमयता, प्रतीकों का प्रभावशाली प्रयोग, ऐश्वर्यमंडित कल्पना मिल जायेगी, परन्तु उनकी शैलीगत दुर्बलता के कारण ही कुछ आलोचक उसे महाकाव्य कहने से संकोच करते हैं। निर्जीव तुकों की बहुलता, बिना तराशी हुई शब्दावली, शब्दों का लचर प्रयोग आदि 'साकेत' की प्राणशक्ति को कम कर देते हैं।

'साकेत' के नवम् सर्ग की योजना उसके कथा-संगठन और प्रबन्ध-कौशल में कहाँ तक साधक है, यह भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। नवम् सर्ग में कथा की गति रुक गई है; उसमें केवल विरहिणी उर्मिला की विभिन्न मनःस्थितियों और विरहोद्गारों को प्रस्तुत किया गया है। माना कि 'साकेत' घटना-प्रधान काव्य न होकर चरित्र-प्रधान और भाव-प्रधान महाकाव्य है, फिर भी कवि को यह स्वतन्त्रता नहीं है कि वह अनुपात का ध्यान छोड़कर किसी एक सर्ग को इतना बोझिल बना दे कि कथा का प्रवाह रुक जाए। उर्मिला के विरह-वर्णन में प्रयत्न की सजीवता होती तो यह सर्ग लम्बा होते हुए भी भारी न पड़ता परन्तु कवि कथा को भूल, उर्मिला के चित्र को पाठक के स्मृति-पटल पर उभारने के उद्देश्य से बार-बार एक ही बात को भिन्न प्रकार से कहता है। यह रुदन और विलाप गीति-काव्य के लिए उपयुक्त हो सकता था, परन्तु महाकाव्य की धारा में अवरोध उत्पन्न करने के फलस्वरूप वह बाधक ही हुआ है। कवि ने विरह के अन्तर्गत जिन परिस्थितियों और प्रसंगों को चुना है, वे मुक्तक की सी स्वच्छन्दता के साथ छाँटे गए हैं। जिसके कारण उर्मिला का विरह रंग-बिरंगे छन्दों की प्रदर्शनी मात्र बनकर रह गया है। दृश्यों में तारतम्य नहीं है, अतः कथा-प्रवाह में शिथिलता ही नहीं आयी है, वह एकदम से रुक गई है। घटनाओं और भाव में संतुलन नहीं है, परस्पर सम्बन्ध नहीं है अतः भावात्मकता में ये बाधक ही रहे हैं। नवम् सर्ग प्रगीत शैली में लिखा गया है और प्रगीत-तत्त्व साधारणतः महाकाव्य के लिए बाधक होता है। 'कामायनी' जैसे अन्तर्मुख प्रकृति वाले काव्य में यह गीत-तत्त्व भले ही साधक रहा हो, परन्तु बहिर्मुख प्रकृति वाले 'साकेत' में वह अपनी अनुपातहीनता एवं गतिहीनता के कारण बाधक ही माना जायेगा।

'साकेत' की शैली भव्य और सार्वभौम नहीं है, उसके द्वारा दिया गया सन्देश 'कामायनी' के उद्देश्य की भाँति सार्वकालिक और सार्वभौम नहीं है, उसमें किसी विराट जीवन-दर्शन की व्यंजना नहीं है अतः कुछ आलोचक उसे महाकाव्य मानने में संकोच करते हैं। आचार्य शुक्ल की दृष्टि से 'साकेत' महाकाव्य न होकर एक बड़ा प्रबन्ध-महाकाव्य है। डॉ. नगेन्द्र जहाँ 'कामायनी' को लॉजाइनस के उदात्त तत्त्व पर आधारित महाकाव्य की देशकाल-निरपेक्ष कसौटी पर खरा बताते हुए उसकी प्रशंसा करते हैं, वही जीवन में गुप्तजी के अत्यन्त निकट रहने पर उसे महाकाव्य न कहकर 'जीवन-काव्य' कहते हैं। डॉ.

कमलाकान्त पाठक भी सामान्य, सौन्दर्य भावना, कल्पना की स्थूलता, विशृंखल वस्तु-योजना, विराट तत्त्व की कल्पना न कर सकने के कारण 'साकेत' को प्रथम श्रेणी का महाकाव्य मानने में संकोच करते हैं। हमारा भी यही मत है कि वह 'कामायनी' की कोटि का महाकाव्य तो नहीं है, पर उसे महाकाव्य न मानना भी कवि के साथ अन्याय होगा।

(ख) उर्मिला की विरह-भावना

वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता गल जाती है। अंग्रेजी कवि ने कहा है, 'Love is loveliest when emblamed in tears'...। कवियों ने मानव हृदय की सामान्य भावभूमि पर विरह की ऐसी गंगा प्रवाहित की है, जिसकी धारा में हृदय का सारा कलुष बह जाता है। विरह की प्रतिमा गुप्तजी के हृदय में उर्मिला का रूप धारण कर अवतीर्ण हुई है।

'साकेत' का पृष्ठ-पृष्ठ उसके संतप्त आँसुओं से गीला हो उठा है। वियोग का समय वियोग से अधिक दारुण होता है। प्रिय के प्रवास के समय न जाने कितने भाव विरहिणी के हृदय में उद्दीप्त होते हैं। उर्मिला के हृदय में भी वे उद्दीप्त हुए होंगे, पर वह पति के मार्ग में न आकर, सब कुछ सहने के लिए तैयार है।

हे मन-तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन

प्राचीन विरह-वर्णन की प्रणाली के अन्तर्गत आचार्यों ने जिन दस कामदशाओं का उल्लेख किया है उनमें से सबका अनुसरण तथा उपयोग तो आधुनिक कवि नहीं करते, परन्तु अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग-उन्माद आदि स्वाभाविक दशाएँ स्वतः विरह-काव्य में आ जाती हैं। 'साकेत' में भी इनका समावेश हुआ है। अतीत की स्मृतियों की टीस रह-रहकर उठती है और उर्मिला की भावनाओं को तीव्र कर देती है, जिससे वह अर्द्ध-मूर्च्छितावस्था में प्रलाप करने लगती है। इसी प्रलापावस्था में काल्पनिक सखियाँ बनाकर वह सुरभि, गूँगी निन्दिया, सारिका और चातकी आदि से अपनी करुण कथा कहती है। मिलन की तीव्र अभिलाषा भी उसमें है।

बीच-बीच में उन्हें देख लूँ, मैं झुरमुट की ओट।

जब वे निकल जायें लौटूँ उसी धूल में लोट।।

उद्वेग-दशा का वर्णन यदि—

अधम उर्मिले हाय निर्दया।

पतित नाथ हैं, तू सदाशया।।

में हुआ है, तो वर्षा की रात घटना का स्मरण 'मैं निज अलिंद में खड़ी थी सखि, एक रात' स्मृति का द्योतक है।

गुप्तजी की उर्मिला में सूर की गोपियों की भाँति ईर्ष्या की भावना नहीं। सूर की गोपियाँ तो मधुबन को सम्बोधन करते हुए कहती हैं—

मधुबन, तुम कत रहत हरे।

विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाड़े क्यों न जरे।।

पर उर्मिला के हृदय में पशु-पक्षियों के प्रति सहानुभूति है। वह मकड़ी का जाला तक नहीं हटाना चाहती, क्योंकि उससे उसको पीड़ा होगी। वह परपीड़न से अधिक आत्मपीड़न को श्रेयस्कर मानती है और इसीलिए सखी से कहती—

सीचें ही बस मालिने कलश लें कोई न ले कर्त्तरी।

शाखा फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी॥¹

विरहावस्था में वह इतनी पर दुःखकातर हो उठती है कि सबकी पीड़ा को कम करने में प्रयत्नशील है—

प्रोषितपतिकाएँ हों जितनी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ।

समदुःखिनी मिलें तो दुःख बँटें, जा प्रणयपुरस्सर ले आ॥²

इसी संवेदना और सदाशयता के कारण यह बन्धन पड़े पक्षियों को उड़ा देने का आदेश देती है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों में उर्मिला अपने प्रिय की छवि देखती है—

फैला उनके तन का आतप, मन ने सर सरसाये।

घूमे वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ आये॥

फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बंदूक सुहाये।

स्वागत, स्वागत शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये॥

सवर्ण प्रकृति में उसे अपनी ही मनोदशा का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है—वायु निःश्वास शैली, आकाश रोष-दृष्टि कोयल कूक भरती, जलधारा सूखती हुई और पत्र-पुष्प बिखरते दिखाई देते हैं—

वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है।

पूर्व और पश्चिम की लाली रोष-दृष्टि करती है।

रोष है निःश्वास समीरण, सुरभि धूलि चरती है।

उचल सूखती है जलधारा, यह धरती मरती है॥³

उर्मिला विरह-वेदना को श्रेयस्कर मानती है, क्योंकि उसके कारण वह सदैव सजग रहती है और समाधि में लीन रही गाती है वह अपने अन्तर में ही प्रिय के दर्शन कर लेती है—

वेदने तू भी भली बनी।

× × × ×

अपने को, प्रिय को, जगती को देखू खिंची-तनी॥⁴

जायसी की नागमति की भाँति वह भी अपना राजरानी पद भूल सामान्य स्त्री के समान आचरण करती है और अपनी विवशता का उल्लेख करती है—

बंध कर घुलना अथवा जल पल-भर दीपदान कर खुलना,

तुझको सभी सहज है, मुझको कर्पूरवर्ति, बस घुलना॥

1. साकेत, नवम् सर्ग, 207

2. वही, पृ. 275

3. वही, पृ. 302

4. वही, पृ. 280

साकेतकार ने विरह वर्णन के प्रसंग में कतिपय ऐसे कार्यक्रमों का भी उल्लेख किया है, जिसमें उर्मिला की सहृदयता, उदारता, लोकमंगल की कामना आदि सद्वृत्तियों पर भी प्रकाश पड़ता है। चित्रकारी संगीत आदि के अतिरिक्त वह परिवार के कामों—रसोई बनाने, सासों की सेवा करने आदि में व्यस्त रहकर अपना समय काटती है। वह ऐसे काम भी करती है जिनसे प्रजा का कल्याण होता है। प्रेषित पत्रिकाओं को बुलवाकर उनकी दुःख-गाथा सुनना, पुरबाला-शाखा और उन्हें विविध ललित कलाओं का ज्ञान प्रदान करना आदि इसी प्रकार के कार्य हैं—

मैं निज ललित कलाएँ भूल न जाँँ वियोग वेदना में।

सखि, पुरबाला-शाखा खुलवा दे क्यों न उपवन में।¹

गुप्तजी की उर्मिला का विरह एकान्तिक नहीं, वह शुक्लजी के शब्दों में 'सापिन भई सेजियाँ' और बैरिन भइ रसिक तक सीमित नहीं। इसका विस्तार एक ओर महल की चार-दीवारी को लाँँकर प्रसाद से संलग्न उपवन तक है और दूसरी ओर गृहस्थ-जीवन में कर्तव्य-पालन और नगर के कल्याण-मंगल की चिन्ता से भी। यदि वह एकान्त में अधिक रहती भी है, तो उसका कारण यह है कि उसकी दयनीय दशा देख उसकी तीनों सासों और तीनों बहनें क्षुब्ध होने लगती हैं, देवर शोकाकुल हो उठते हैं और वह उन्हें पीड़ा नहीं देना चाहती। उस दिन शोकाकुल स्थिति में भी उसे बराबर प्रजा का ध्यान बना रहता है और जब-तब उसके विषय में देवों से पूछ-ताछ करती रहती है—

पूछी थी सुकाल-दशा मैंने आज देवर से

कैसी हुई उपज कपास, ईख, धान की?²

परम्परागत भारतीय सती नारी के समान वह पति की सिद्धि में ही अपनी सिद्धि समझती है और उसके पथ की बाधाओं को स्वयं ओढ़ने के लिए तत्पर है—

शिशिर, न फिर गिरि-वन में।

जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।।

अनुभूति की तीव्रता के कारण अर्ध-विस्मृति की अवस्था में विरह-वर्णन 'साकेत' की नूतन और सर्वप्रथम वस्तु है। उसमें रूढ़ि आदि का पालन नहीं, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है। इस अर्धसंज्ञा की ओट में इस युग में मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। उसके हृदय में आदर्श और कामना के बीच संघर्ष है। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसके अर्धचेतन के मूल में बहती है।

उसके अवचेतन मन की दमित वासना ही उसे यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि अवधि पूर्ण हो गयी और लक्ष्मण लौट आए।

सुभग आ गये, कान्त आ गये।

परन्तु उसका आदर्शवाद उसे ग्लानि से भर देता है और वह लक्ष्मण की भर्त्सना करने लगती है—

वह नहीं फिरे! क्या तुम्हीं फिरे।

हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे।

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ. 276

2. वही पृष्ठ 306

धिक! तथापि हा सामने खड़े।
तुम अलंज्ज से क्यों यहाँ अड़े।¹

चेतन-अचेतन का यह संघर्ष और उसको अभिव्यक्त करने के लिए अन्तःसलाप (Interior monologue) का प्रयोग कवि की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि एवं नवीन शिल्प ज्ञान का परिचायक है। जैसे विद्यापति का राधा 'अनुक्षण माधव माधव रटयित राधा मेल मघाई' स्वयं को कृष्ण समझने लगती है और पुनः कुछ देर बाद स्वयं को राधा मान दोनों ही स्थितियों में विरह-यातना सहती है, उसी प्रकार उर्मिला भी कभी स्वयं को उर्मिला मान लक्ष्मण की भर्त्सना करती है और जब उसे पता लगता है कि वास्तव में लक्ष्मण नहीं आए थे, वह उसका उन्माद मात्र था, तो वह स्वयं ही उन्माद की स्थिति में लक्ष्मण की ओर से अपने आपको बुरा-भला कहने लगती है।

प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं? भला।
मत छुओ मुझे, लौट मैं चला।
हट सुलक्षणे, रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों।²

और जब सखी से वस्तु-स्थिति का ज्ञान होता है, तो वह स्वयं को किस प्रकार उपालम्भ देती है, वह सब कवि की अवस्था में बैठने वाली और वहाँ की भाव-वीपियों को पकड़ने वाली सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचायक है—

अधम उर्मिल, हाय निर्दया।
पतित नाथ है! तू सदाशया।।

यह केवल परम्परागत प्रलाप और उन्माद की दशा का वर्णन नहीं, मनोवैज्ञानिक आधार से पुष्ट है। विरह की तीव्र वेदना में व्यक्ति अपना विवेक, तर्क-शक्ति खो बैठता है और वह भावोन्माद में अतर्क्य कार्य करने के लिए उतावला हो जाता है। उर्मिला ऐसे ही एक क्षण में अवधि को मिटाने के लिए स्वयं तैयार है। वह भूल जाती है कि यदि वह स्वयं मिट गई तो अवधि के समाप्त होने और लक्ष्मण के लौटने से उसे क्या मिलेगा—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपने को आप मिटाकर, जाकर उनको लाऊँ।।

कभी वह अपने आँसुओं को दुकूल में सहेजकर रखना चाहती है। और कभी नयन-नीर को मानस-भाजन में जमा कर सुरक्षित रखने की अभिलाषा प्रकट करती है।

उर्मिला निरन्तर वियोग-व्यथा सहती हुई भी निराश नहीं है, वह अवधि-शिला का गुरु भार तिल-तिलकर अपने आँसुओं से काटती है क्योंकि उसे आशा है कि प्रिय एक दिन अवश्य आयेंगे—

रो आवेगा फिर भी बसन्त, जैसे मेरे प्रिय प्रेमवन्त।

'साकेत' के विरह-वर्णन में गुप्तजी ने अनेक प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं और अभिव्यंजना-शैलियों का प्रयोग किया है। वह अपने को रीतिकालीन विरह-काव्य की अभिव्यंजना-पद्धति से मुक्त नहीं कर पाए

1. वही पृ., 334-335

2. साकेत, नवम् सर्ग, पृ. 308

हैं, मार्मिक गीतों तक में वह श्लेष आदि अलंकारों के मोह का संवरण नहीं कर पाये हैं। इस अलंकार-योजना के उक्ति को चमत्कार भले ही बना दिया हो, मार्मिकता एवं संवेदनशीलता में किसी प्रकार की कोई श्री-वृद्धि नहीं की है—

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द।

व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द॥

बिहारी जिन ऊहात्मक उक्तियों के लिए बदनाम हैं, वैसी 'साकेत' में भी मिलती है। उर्मिला का शरीरताप भी मलयानिल को लू बनाने की सामर्थ्य रखता है—

जा, मलयानिल, लौट जा यही अवधि का शाप।

लगे न लू होकर कहीं तू अपने को आपा।¹

रीतिकालीन नायिका के समान ही उर्मिला सखी को पंखा झलने से रोकती है, क्योंकि उसे भय है कि उससे तो उसकी विरहाग्नि शान्त होने की बजाय और भी धधक उठेगी—

उहर अरी, इस हृदय में लगी विरह की आग।

ताल वृन्त से और भी धधक उठेगी जागा।²

मध्यकालीन हिन्दी कवियों के समान ही गुप्तजी ने भी उर्मिला के विरह-वर्णन में षड्ऋतुओं का आधार लेकर उसकी व्यथा का चित्रण किया है। प्रत्येक ऋतु में प्रकृति का उद्दीपनकारी रूप उसे किस प्रकार व्यथित करता है, इसके लिए उन्होंने परम्परागत पदार्थों—चातक, कोकिल, चन्द्रमा, वर्षा की झड़ी, मलयानिल आदि का ही आश्रय लिया है। फफोलों तक का वर्णन कर कवि ने सीके-कबाब वाली फारसी पद्धति का अनुसरण किया है—

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाया।

तो क्या अरी न आह भी भरूँ आज निरूपाया।³

उर्मिला की विरह-भावना तथा उसके मन की विविध अन्तर्दशाओं को प्रकाशित करने के लिए जिस भाषा शैली, अलंकार-विधान तथा गीति-शैली का कवि ने प्रयोग किया है उसमें नवीन तत्त्व पाये जाते हैं। शरद्-ऋतु में ज्योत्स्ना-स्नात कुंजों को देख उर्मिला उनकी तुलना उस शिशु से करती है, जो रो-रोकर सो गया है और जिसके शरीर पर भी वे सफेद चादर उढ़ा दी है—

हा मेरे कुंजों का कूजन रोककर निराश होकर सोया।

यह चन्द्रोदय उसको उढ़ा रहा है धवल बसन्त-सा धोया।⁴

निश्चय ही यह उत्प्रेक्षा बिलकुल मौलिक और नवीन है। कवि छायावादी-काव्यशैली से भी प्रभावित है। अतः उसने विरह-वर्णन में मानवीकरण अलंकार, लाक्षणिक भाषा और उपचार वक्रता का आश्रय लिया है—

1. साकेत, नवम् सर्ग, पृ., 313

2. वही, पृ. 290

3. वही, पृ. 277

4. वही, पृ. 301

श्रुति-पुट लेकर पूर्वस्मृतियाँ खड़ी यही पुट बोल।

देख आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।।

लोकगीतों का प्रभाव भी साकेत के विरह-वर्णन पर देखा जा सकता है।

आज भीगते ही घर पहुँचे, जन-जन के जन बरसो।

सारांश यह है कि यदि एक ओर उर्मिला के विरह में आदर्श का गौरव और स्वार्थ का विरोध है, तो उसकी अभिव्यक्ति में प्राचीन शास्त्रकारों की छाप के साथ-साथ नूतनता का भी समावेश है।

(ग) मैथिलीशरण गुप्त की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना

मैथिलीशरण गुप्त भारतीय संस्कृति के अनन्य प्रस्तोता कहे जाते हैं। वस्तुतः यह हिन्दू संस्कृति के महान् समर्थक रहे हैं और उनका व्यक्तित्व पूर्णतः भारतीय रहा है। महाकाव्य जातीय जीवन का कोष होता है, उसके जीवन की नाना परिस्थितियों का चित्रण रहता है। अतः गुप्तजी की सर्वोत्कृष्ट काव्यकृति 'साकेत' में भारतीय संस्कृति के चित्र मिलना स्वाभाविक है। दूसरे, 'साकेत' के चरित्र-नायक राम आर्य संस्कृति के महान् प्रतिष्ठापक हैं अतः 'साकेत' का सांस्कृतिक आधार अत्यन्त स्पष्ट है और गुप्तजी की सांस्कृतिक चेतना अत्यन्त समृद्ध है।

संस्कृति मानव की दीर्घकाल से चलती आ रही विविध साधनाओं का प्रतिफल होती है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक आदर्श, भौतिक जीवन की रीति-नीति, विचार-विश्वास और आस्था उसके अभिन्न अंग हैं। भारतीय संस्कृति विश्व की संस्कृति का अंग होते हुए भी अपना विशिष्ट निजीपन रखती है और उसकी विशेषताएँ हैं—सहिष्णुता, त्याग, तपस्या, वैष्णवभावना, समन्वयवाद, सम्मिलित परिवार, वर्गाश्रम आदि। ये सभी तत्त्व 'साकेत' में विद्यमान हैं।

भारतीय दर्शन आत्मा और परमात्मा में अंशांशि सम्बन्ध मानता है। गुप्तजी जीव और ब्रह्म की स्थिति पृथक् मानते हैं। वह अवतारवाद में विश्वास करते हैं। गीता के समान 'साकेत' में भी अवतार का कारण भू-भार बताया गया है।

हो गया निर्गुण सगुण-साकार है,

ले लिया अखिलेश ने अवतार है

× × × ×

दूर करने के लिए भू-भार को।

पापियों का जान लो अब अन्त है।

× × × ×

भूमि का प्रकटा अनादि अनन्त है।।

भारतीय आस्था के अनुसार यह संसार सत्य पर टिका है। गुप्तजी भी सत्य को सम्पूर्ण धर्मों का सार बताते हैं—

सत्य से ही स्थिर संसार।

सत्य ही सब धर्मों का सार।।

भारतीय संस्कृति में सत्य के साथ-साथ अहिंसा-पालन पर बल दिया गया है। भगवान बुद्ध से महात्मा गाँधी तक अनेक मनीषियों ने सत्य व अहिंसा के मार्ग पर चलने का आग्रह किया है। गुप्तजी

इसका समर्थन तो करते हैं, पर गाँधी के समान कतिपय परिस्थितियों में हिंसा की भी अनुमति देते हैं। उसका कथन है कि आत्म-सम्मान और स्वाधिकार की रक्षा के लिए हिंसा अपना अनुचित नहीं है, कर्तव्य है। शान्ति-स्थापना के लिए शस्त्र-बल का प्रयोग उचित बताते हुए लक्ष्मण कहते हैं—

**इसी हेतु है जन्म टंकार का।
न टूटे कभी तार झंकार का।।**

× × × ×

**हमें शान्ति का भार जो है मिला।
इसी चाप की कोटियों से झिला।।**

अपरिग्रह और त्याग मानव को उदात्त बनाने के लिए आवश्यक माने गए हैं। 'ईशावास्य उपनिषद्' का पहला मन्त्र ही 'माँ गृधः कस्यचित् धनम्' अपरिग्रह की शिक्षा देता है। 'साकेत' में राम-सीता के संवाद में राम अपरिग्रह का सन्देश देते हैं—

**जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,
वह दस्यु लोक-धन लूट-लूट धरता है।।**

केवल राम ही राज्य को तृण-तुल्य नहीं समझते, भरत भी उसे नहीं चाहते। चित्रकूट-सभा में दोनों एक-दूसरे से आग्रह करते हैं कि राजा बने—

देने को उल्टा राज्य द्वन्द्व लड़ता है।

दोनों के जीवन का आदर्श अपरिग्रह और त्याग है। पर इनका त्याग वैराग्य पर आधारित न होकर अनुराग और कर्तव्य-भावना से सम्पुष्ट है। डॉ. नगेन्द्र ने उनके त्याग को भावुकता का प्रसाद बताया है; वह ज्ञान का परिणाम नहीं है। भारतीय संस्कृति में प्रारब्ध और पुरुषार्थ को पक्षी के दो पंख बताया गया है; जैसे एक पंख की क्षति भी पक्षी के लिए अहितकर है, उसी प्रकार प्रारब्ध और पुरुषार्थ में से एक का भी अभाव मनुष्य के लिए घातक होता है। गुप्तजी भाग्यवाद के ऊपर कर्म को प्रधानता देते हैं, भाग्य को पूर्व-कर्म का योग बताते हैं। 'साकेत' के सभी प्रमुख पात्र, नारियाँ तक स्वयं भी कर्म के पथ पर चलते हैं और दूसरों को भी कर्म का संदेश देते हैं। 'सीता अंचलपट कटि' में खोंस कछोटा मारे वृक्षों को सींचती हैं, भरत और शत्रुघ्न अयोध्या जनपद को अपने प्रयत्नों से सम्पन्न बनाते हैं, उर्मिला, माण्डवी और श्रुतिकीर्ति वीर क्षत्राणी हैं, अयोध्या की सामान्य स्त्रियाँ भी अपने-अपने पति को युद्ध का उद्बोधन देती हैं—

**जाओ अपने राम-राज्य की आन बढ़ाओ,
वीरवंश की बान, देश का मान बढ़ाओ।।**

संस्कृति का विकास सामाजिक जीवन के बीच ही होता है और मर्यादित जीवन समाज को ऊँचा उठाता है। भारतीय समाज का मेरुदण्ड मर्यादा मानते हुए गुप्तजी ने राम के द्वारा मर्यादा की स्थापना करायी है। राम का जन्म ही मर्यादा को अक्षुण्ण बनाने के लिए होता है—

मैं आया, जिसमें बनी रहे मर्यादा।

मर्यादित जीवन ही श्लाघ्य है और वह तभी सम्भव है, जब समाज का प्रत्येक सदस्य अपने कर्तव्य का पालन करे, मर्यादित आचरण करे, समूह के लिए व्यष्टि बलिदान करने को तत्पर रहे। पर मर्यादा के नाम पर गुप्तजी व्यक्ति स्वातन्त्र्य का अपहरण भी नहीं चाहते। वह एक ओर उच्छृंखलता का विरोध करते हैं तो दूसरी ओर व्यक्ति की स्वतन्त्रता का समर्थन—

जितने प्रवाह है बहें—अवश्य बहें वे,
निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।

भारतीय समाज की संघटना का मूल आधार है परिवार। 'साकेत' में कवि ने आदर्श, मर्यादाशील आचरण करने वाले सुखी परिवार का चित्र अंकित किया है। उसके पारिवारिक जीवन के चित्र अत्यन्त मधुर और आह्लादकारी हैं। सपत्नियों के होते हुए भी दशरथ का जीवन सुखी है—

त्रिवेणी-तुल्य रानियाँ तीन।
बहातीं सुख-प्रवाह नवीन।

राजकुल की मर्यादा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए सदा सचेष्ट उनके पुत्र और पुत्र-वधू परिवार के अन्य सदस्यों के साथ परस्पर सहयोग, स्नेह और सौहार्द का आचरण करते हैं। राम को विश्वास है कि अपने कर्तव्य-पालन में उन्हें अपने भाइयों का पूर्ण सहयोग मिलेगा—

रहेगा साधु भरत का मन्त्र।
मनस्वी लक्ष्मण का बलतन्त्र॥

दाम्पत्य सम्बन्धों की मधुरता गृहस्थ को स्वर्ग बनाती है और उनकी कटुता उसे नरक-तुल्य कर देती है। भारतीय परिवार में पत्नी त्याग, तपस्या, पतिनिष्ठा के लिए सदा विख्यात रही है। 'साकेत' में सभी दम्पति पति-पत्नी का आदर्श पालते हैं। उर्मिला कहती है—

खोजती हैं किन्तु आश्रय मात्र हम,
चाहती हैं एक तुमसा पात्र हम।

पुत्र माता-पिता की आज्ञा पालन करने में तत्पर हैं, पुत्र-वधू, सास-ससुर की सेवा में संलग्न रहती हैं, गुरुजनों का सदा सम्मान होता है—सर्वत्र आत्म-संयम और त्याग की भावना है। अयोध्यावासियों के सम्मुख दशरथ के पारिवारिक जीवन का आदर्श सदा उन्हें प्रेरणा देता है, और वे उनका अनुसरण करते हुए सुख-शान्ति से जीवन बिताते हैं—

नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में
हैं सन्तुष्ट तथा सब शान्त
उनके आगे सदा उपस्थित
दिव्य राजकुल का दृष्टान्त

इस प्रकार 'साकेत' के गृहस्थ जीवन के चित्र भारतीय संस्कृति का परमोज्ज्वल रूप प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय समाज-व्यवस्था का मूल आधार वर्णाश्रम-व्यवस्था रही है। गुप्तजी वर्णाश्रम धर्म को स्वीकार तो करते हैं, परन्तु उनकी सामाजिक चेतना अधिक सजग और प्रगतिशील है। वह तुलसी के सामान गुण-कर्महीन द्विज को वन्दनीय नहीं मानते, ब्राह्मणत्व मात्र को पूजा-योग्य नहीं समझते, आततायी और अत्याचारी ब्राह्मण के वध में उन्हें दोष नहीं दिखाई देता—

द्विजता तक आततायिनी
वध में हैं कब दोषदायिनी।

इसके विपरीत निम्न जाति का होने पर भी गुहराज राम का सुहृद बनता है, सीता किरात-भिल्ल बालाओं के साथ सखी का-सा व्यवहार करती है। इस प्रकार गुप्तजी की वर्णाश्रम व्यवस्था का आधार जन्म नहीं, कर्म और आचरण है। वह 'कर्मणता भवति ब्राह्मणः' में विश्वास करते हैं।

नारी, परिवार और समाज रूपी रथ की धुरी है। उसी पर समाज की सुख-शान्ति और प्रगति निर्भर करती है। गुप्तजी ने अपने सभी काव्यों में उसे उचित सम्मान और प्रतिष्ठा प्रदान की है। वह उसे भोग्य मात्र स्वीकार नहीं करते, जीवन संगिनी और अर्द्धांगिनी मानते हैं। उनकी दृष्टि में पुरुष और नारी एक-दूसरे के पूरक हैं, परस्पर सहयोग से ही अपना और समाज का हित कर सकते हैं। इसलिए 'साकेत' की नारी आदर्श माता और पत्नी ही नहीं है, सजग, कर्मशील राष्ट्रीय चेतना से सम्पन्न वीरांगना भी है। विभीषण की पत्नी सरमा सेवा-कार्य में तल्लीन हो सीता से स्नेह और साधुवाद पाती है तो मेघनाद की पत्नी सलोचना सती के रूप में मांडवी से सहृदयता। इस प्रकार राक्षस-कुल की स्त्रियाँ भी गौरव-मण्डित दिखाई गई हैं। नारी को यह सम्मान देकर कवि ने आर्यों की उक्ति को पुनः प्रतिष्ठित किया है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यते रमन्ते तत्र देवता'। स्त्री पतिव्रत का पालन करती है तो पुरुष एक पत्नीव्रत का। सीता ने विषम परिस्थिति में भी राक्षस-राज रावण के घृणित प्रस्ताव को ठुकराकर राम को ही वरेण्य माना तो लक्ष्मण एक पत्नीव्रत को अपनी सबसे बड़ी शक्ति मानते हैं—

यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना

तो, बस, अब तू संभल, बाण यह मेरा छूटा।।

सामाजिकता की दृष्टि से शिष्टाचार का विशेष महत्त्व है—वह नीति का ही अंग हैं। पारस्परिक सम्बन्धों को मधुर बनाने में उसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। 'साकेत' में इस शिष्टाचार का विशद चित्रांकन है। राज परिवार ऋषियों और विद्वानों का सत्कार करने और उनके साथ विनम्रपूर्वक व्यवहार करने में विशेष रूप से सतर्क रहते हैं। परिवार में भी प्रत्येक सदस्य अपनी वय और स्थिति के अनुसार शिष्टाचार और मर्यादा का पालन करता है। राम आज्ञाकारी पुत्र हैं, पर नारी की ओर आँख तक नहीं उठाते, भरत राम की चरण-पादुकाओं को सिंहासन पर स्थापित कर प्रकट कर देते हैं कि वह बड़े भाई के अनुगामी हैं, लक्ष्मण तो उनके साथ वन जाते ही हैं; बहुएँ सास-ससुर की सेवा करती हैं। राम चित्रकूट पर आए लोगों को अतिथि मानकर पहले उन्हें भोजन परोसते हैं और फिर स्वजनों के साथ भोजन करते हैं। गुहराज राम की चरण-रज को सर्वाधिक मूल्यवान समझते हैं। परस्पर अभिवादन और सम्बोधनों में शील-भ्रष्टाचार का ध्यान रखा गया है। राम सुमन्त्र को 'काका' कहते हैं, बड़े भाई को 'आर्य' और भाभी को 'आर्या' कहकर पुकारा जाता है। पत्नी पति के लिए आर्यपुत्र, प्रियतम, नाथ आदि शब्दों का प्रयोग करती हैं तो पति पत्नी को भद्रे, शुभे, प्रिये आदि से सम्बोधित करता है।

भारतीय संस्कृति में व्रत, उपवास, जप-तप, यज्ञ-अनुष्ठान, पूजा-अर्चना, तीर्थ-स्नान आदि का विशेष महत्त्व है। 'साकेत' में सीता की माँ व्रत रखती हैं, उर्मिला की माँ चारों पुत्रों को पूजा के लिए भेजती है, माँ कौशल्या पूजा के बाद प्रसाद बाँटती है। पूजा के समय मन्त्रों का उच्चारण होता है, ऋषि-आश्रमों में शुक-सारिका तक मंत्र-पाठ करते हैं। वेद-वाणी, गिरी-कानन तक में गूँजती है। राम ऋषियों की रक्षा के लिये ही तपोवन में जाते हैं। स्वयं साकेत नगरी में स्थान-स्थान पर अध्वर-यूप वहीं होने वाले यज्ञों का संकेत करते हैं। स्वयं राम अनेक विघ्नों के बीच व्रतोद्यापन करते हैं और अयोध्यावासी भरत सुशासन में यज्ञ, तप, व्रत, पूजा-पाठ करते दिखाये गये—

होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब जप-समाधि-जप-पूजा-पाठ,
यश गाती है मुनि कन्याएँ कर व्रत-पर्वोत्सव के ठाठ।

हमारे यही तीर्थों की बड़ी महिमा मानी गई है। 'साकेत' में विभिन्न तीर्थ-स्थानों एवं पुण्य-भूमियों का स्तवन किया गया है। सीता गंगा की प्रार्थना करती है तो स्वयं कवि अयोध्या, सरयू, चित्रकूट की दिव्यता, पवित्रता और महानता का वर्णन करता है। 'चित्रकूट' को सिद्धि शिलाओं का आधार कहा गया है। सरयू को स्वर्ग-गंगा से भी महान-

वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती।

भारतीय संस्कृति के चिर-प्रचलित रीति-रिवाजों का भी 'साकेत' में विशद चित्रण है। राज्याभिषेक से लेकर अन्त्येष्टि और श्राद्ध तक का वर्णन यही मिलता है। राम के राज्याभिषेक के साथ-साथ दशरथ की सुर-धाम यात्रा का दृश्य बड़ा उदात्त है और राम को पिता की मृत्यु की सूचना पा तर्पण करते दिखाया गया है-

प्रभु ने मुनियों के मध्य श्राद्ध-विधि साधी।

ललित कलाओं के अभाव में संस्कृति विकलांग होती है। गुप्तजी ने साकेत के समाज में ललित कलाओं-संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला आदि का अबाध प्रसार दिखाया है। 'साकेत' के ग्यारहवें सर्ग में शत्रुघ्न द्वारा प्रस्तुत प्रजा की समृद्धि और कला-साधना के विवरण में तन्तुवायों, स्वर्णकारों, वैद्यों और भूगर्भ-वैज्ञानिकों का उल्लेख मिलता है-

वैद्य नवीन वनस्पतियों से प्रस्तुत करते नवयोग,
जिनके गन्धस्पर्श मात्र से मिटें गात्र के बहुविधि रोग।

गुप्तजी को राजतन्त्र ही विशेष रूप से मान्य है। हाँ, उनके द्वारा परिकल्पित राजतन्त्र प्रजातन्त्र के अत्यन्त निकट है। वह लोकमत को यथेष्ट महत्त्व देते हैं, कहीं-कहीं साम्यवाद की झलक भी मिलती है-

विगत हों नरपति, रहें नर मात्र

× × × ×

सब जियें ज्यों एक ही कुल मुक्त

फिर भी राज्य ही उन्हें सुहाता है-

किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त,
विश्व के विद्रोह करके शान्त।

वह नेता के चुनने की बात अवश्य कहते हैं, पर उनका नेता राजा का ही पर्याय है, जो सुशासक हो, प्रजा वत्सल हो। राजा प्रजा का भृत्य है। राज्य उसके लिए भोग न होकर कर्तव्य-पालन मात्र है, प्रजा की थाती है। भरत के लिए वह बलिदान के लिए उद्यत व्यक्ति का भोग है।

राज-सुख हैं बलि पुरुष का भोग।
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग।।

राजा और प्रजा में शासक-शासित का सम्बन्ध न होकर पूर्ण स्नेह, सद्भाव और सहयोग है और राजा स्वयं को लोक-सेवक मानता है।

आधुनिक युग में एक ओर गाँधी जी ने राजनीतिक चेतना फूँकी थी और दूसरी ओर सुधारवादी संस्थाओं—आर्य समाज, ब्रह्म समाज, प्रार्थना समाज आदि ने समाज में नव-जागरण का शंख फूँका था। अतः सम्पूर्ण समाज में नवीन क्रान्ति की लहर दौड़ गयी थी। 'साकेत' में इस युग के आन्दोलनों, संघर्षों, क्रान्तियों, विचारों आदि की झलक किसी-न-किसी रूप में मिलती है। इसलिए उसे कुछ लोगों ने राष्ट्रीय जीवन का महाकाव्य कहा है। गुप्तजी का विश्वास है कि अधिकार भिक्षा के रूप में नहीं मिलता, उन्हें शक्ति द्वारा प्राप्त किया जाता है। सुमित्रा कहती है—

स्वत्वों की भिक्षा कैसी?

दूर रहे इच्छा ऐसी।

पूँजीपतियों के द्वारा उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध भी भाव व्यक्त किया गया है।

जो संग्रह करके त्याग नहीं करता है,

वह दस्यु लोक-धन लूट-लूट धरता है।

कृषकों के प्रति सहानुभूति व्यक्त करने के साथ-साथ राष्ट्र-निर्माण में उनके सहयोग की भूमिका की प्रशंसा की गई है—

हम राज्य लिए मरते हैं।

सच्चा राज्य परन्तु हमारे कृषक ही करते हैं।।

वह अन्यायी-अत्याचारी के विरुद्ध क्रान्ति का भी समर्थन करते हैं और कर्तव्य-पालन के लिए युद्ध को अनिवार्य बताते हैं।

राष्ट्रीयता के साथ-साथ विश्वबन्धुत्व की भावना अनुस्यूत करना भी भारतीय संस्कृति के प्रस्तोता महाकवि गुप्तजी के लिए स्वाभाविक था। एकादश सर्ग में विभीषण 'वसुधैष कुटुम्बकम्' की भावना व्यक्त करते हुए कहता है—

किसी एक सीमा में बंधकर रह सकते हैं क्या ये प्राण?

एक देश क्या अखिल विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण।

भारतीय संस्कृति सदा से समन्वय पर बल देती है। गुप्तजी समन्वयवादी कवि हैं। उन्होंने 'साकेत' के विभिन्न पात्रों के माध्यम से त्याग और भोग, भक्ति और मुक्ति, अनुशासन और विनय, भक्ति और ज्ञान; धर्म और राजनीति, प्रवृत्ति और निवृत्ति, व्यष्टि और समष्टि, भावुकता एवं कर्मपरायणता, कर्म और तपस्या का समन्वय कराया है।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति के प्रति निष्ठावान, उसके सभी अंगों में पूर्ण आस्था रखने वाले गुप्तजी ने 'साकेत' में भारतीय संस्कृति के अनमोल पक्षों का उद्घाटन करते हुए भारतीय संस्कृति के गौरव की रक्षा और प्रतिष्ठा की है। साथ ही युग-धर्म की भी स्थापना उन्होंने की है। इसीलिए 'साकेत' में प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य है। जहाँ एक ओर 'साकेत' भारत की प्राचीन स्वर्णिम संस्कृति का उद्गीथ है, वहाँ दूसरी ओर युगीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को प्रतिबिम्बित करने के कारण वह युग का दर्पण भी बन गया है।

(घ) काव्य सौन्दर्य (नवम सर्ग के सन्दर्भ में)

—डॉ. रमेश कुमारी खनेजा

‘साकेत’ गुप्तजी की काव्य-साधना का स्वर्णक्लश है, उनके कवि-जीवन का पूर्ण वैभव है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल ने लिखा है, “गुप्तजी के समस्त ग्रन्थों में ‘साकेत’ अत्यन्त अलंकारयुक्त है और ‘साकेत’ के समस्त सर्गों में नवम् सर्ग सबसे अलंकृत है।” उसकी काव्य-श्री वस्तुतः अत्यन्त मोहक है। अभिव्यक्ति के सौन्दर्य, शैली की नवीनता, चित्रमयता और मूर्तिकरण ने उसके काव्य-शिल्प को अभिनव गरिमा प्रदान की है।

गुप्तजी का भाव-क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत और व्यापक है। अपरिमित भाव-विस्तार के साथ उनके भावों में सूक्ष्मता, प्रबलता और संवेदनीयता भी है। नवम् सर्ग उर्मिला के आँसुओं से गीला है। उसका विरह-वर्णन ही प्रधान है, पर कवि ने उसमें विरहिणी के शरीर-ताप, विरहजन्य कृशता और शोक के ही चित्र प्रस्तुत नहीं किये हैं, वरन् विरहिणी के मानस में पैठ भाव मुक्ता चुने हैं, मनोवैज्ञानिकता के आधार पर उसकी विविध मनःस्थितियों का सूक्ष्म एवं मार्मिक चित्रण किया है। पूर्वानुभूत सुखोपयोग की स्मृतियाँ उर्मिला को उद्विग्न बना देती हैं। वर्षा की एक रात की स्मृति का चित्रण करते हुए वह कहती है—

करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से
चंचला थी चमकी, घनाली गहराई थी,
चौक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय
माई, मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी।

शृंगार का चित्र होते हुए भी स्मृति के माध्यम से प्रस्तुत किये जाने के कारण उसमें संयम और औदात्य बना रहता है। उसी प्रकार एक चित्र शिशिर का भी है। एक बार प्रिय कमरे में आकर और ऊनी वस्त्र उर्मिला की गोद में डालकर बोले—तुम्हीं जरा इसको ओढ़ देखो। उर्मिला ओढ़नी छोड़कर उठी तो हवा चाबुक की तरह लगी। दोनों एक-दूसरे के बाहु-बन्धन में बंध गये और उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। स्मृति संचारी का यह वर्णन अत्यन्त मादक है—

हर्षित थे तो भी रोम-रोम हम दम्पति के,
कर्षित थे दोनों बाहु-बन्धन के मोद में।

महादेवी के समान उर्मिला भी अपने मानस-मन्दिर में प्रिय की छवि अंकित कर उनकी पूजा करती है। जिस प्रकार महादेवी के गीत ‘क्या पूजा क्या अर्चन रे’ और ‘शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी’ पढ़कर पाठक के हृदय में हूक उठती है, उसी प्रकार ‘साकेत’ की निम्न पंक्तियाँ उसे उर्मिला की वेदना में आकण्ठ डुबो देती हैं—

मानस-मन्दिर में सती पति की प्रतिमा! थाप,
जलती-सी उस विरह मे, बनी आरती आप।

पति-विमुक्त उर्मिला की निम्न उक्ति भी बड़ी मार्मिक है। नव-वय में पति से बिछुड़ी उर्मिला को अपना जीवन उस शिला के समान लगता है, जिसे सिद्ध छोड़कर चला गया है। सिद्ध-रहित शिला की शून्यता और उसके चारों ओर का विजन वातावरण उर्मिला के जीवन की करुणा को गहरा देता है।

हिया-पिंजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही मैं शिला!

वियोगिनी उर्मिला कभी विरह-दग्ध हो अवधि की बात भूल प्रिय का आकुल आह्वान करती है, पर जब स्वप्न में वह उसे दिखाई देते हैं तो चौंक उठती है, उन्हें लौट जाने के लिए कहती है—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जागती हुई कभी-आओ।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोलकर-जाओ।

उर्मिला 'आओ' कहती है भावावेश में; और 'जाओ' कहती है मर्यादा भंग की आशंका से। उसे अवधि की पूर्ति से पहले लक्ष्मण का आगमन असह्य है। उसके अवचेतन मन की दमित वासना उसे सोचने के लिए बाध्य करती है कि अवधि पूर्ण हो गयी और लक्ष्मण लौट आए—

सुभग आ गये, कान्त आ गये।

× × × ×

निदान चरण हैं भरे देख, धूल से,
विरह-सिन्धु से प्राप्त कूल से।

परन्तु शीघ्र ही जब उसे भान होता है कि लक्ष्मण अकेले आए हैं, राम-सीता वन में ही रह गये हैं, तो उसका हृदय ग्लानि से भर उठता है और वह लक्ष्मण की भर्त्सना करने लगती है—

वह नहीं फिरे? क्या तुम्हीं फिरे?

× × × ×

धिक्! तथापि हा सामने खड़े?
तुम अलज्ज-से क्यों यहाँ अड़े?

यथार्थ और आदर्श के बीच यह मानसिक द्वन्द्व अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है।

प्रसाद और 'कामायनी' के समान गुप्तजी ने एकाध मनोभाव का बड़ा कुशल मनोवैज्ञानिक चित्र प्रस्तुत किया है। प्रेम एवं वेदना की मनोवृत्तियों के स्वरूप का सम्यक् दिग्दर्शन कराते हुए कवि लिखता है—

ठण्डी होगी देह न मेरी, रहे दृग्म्बु सनी,
तू ही उष्ण उसे रक्खेगी, मेरी तपन-मनी।
आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्टि जनी

× × × ×

अरी वियोग-समाधि, अनोखी, तू क्या ठीक-ठनी।
अपने को, प्रिय को, जगती को, देखूँ खिची-तनी।

गुप्तजी प्रधानतः मानवीय सम्बन्धों के कवि हैं। उनके काव्य में शुद्ध प्रकृति-चित्रण बहुत नहीं मिलता है। छायावादी कवियों के सदृश उनके मन में प्रकृति के प्रति सहज अनुराग नहीं है, इसलिए आलम्बन-रूप से प्रकृति-चित्रण का भी प्रायः अभाव है। नवम् सर्ग तो है ही विरह-काव्य से परिपूर्ण। अतः उसमें या तो प्रकृति का संवेदनात्मक चित्र मिलता है—उर्मिला के विरह-ताप में पृथ्वी, आकाश, नदी, तारे सभी संतप्त दिखाई देते हैं—

टप-टप गिरते थे अश्रु नीचे निशा में
झड़-झड़ पड़ते थे तुच्छ तारे दिशा में

कर पटक रही थी निम्नगा पीट छाती
सन-सन करके थी शून्य की साँस आती।

अथवा वह अपनी मनोदशा को ही प्रकृति में प्रतिबिम्ब देखती है—उसे वायु निःश्वास लेता, आकाश रोष-वृष्टि करता, कोयल हूक भरती, जलधारा सूखती हुई और पत्र-पुष्प बिखरते हुए प्रतीत होते हैं—

वह कोइल, जो कूक रही थी, आज हूक भरती है
पूर्व और पश्चिम की लाली, रोष वृष्टि करती है
लेता है निःश्वास समीरण, सुरभि धूल चरती है
उबल सूखती जलधारा, यह धरती मरती है।

‘साकेत’ का सबसे बड़ा काव्य-गुण है उसकी चित्रण-शक्ति। दृश्य-चित्रण, रूप-चित्रण और भाव-चित्रण सभी में कवि का वर्णन-कौशल श्लाघनीय है। आठवें सर्ग का निम्नलिखित चित्र राम-सीता के दाम्पत्य जीवन की मधुर झाँकी प्रस्तुत करने के साथ-साथ राम की शरीर-मुद्रा का चित्र भी प्रस्तुत करता है। काव्य-कला और चित्रकला के मणि-कांचन संयोग ने एक ओर इस चित्र को भव्य और मनोहारी बना दिया है और दूसरी ओर यह चित्र उनके हृदयस्थ अनुराग का भी परिचय देता है—

तरु तले विराजे हुए—शिला के ऊपर।
कुछ टिके, धनुष की कोटि टेक कर भू पर

× × × ×

यों देख रहे थे राम अटल अनुरागी।
योगी के आगे अलख-ज्योति ज्यों जागी।

गुप्तजी की विशेषता है कि जितनी सफलता उन्हें उल्लसित हृदय वाली रूपवती के सौन्दर्य-चित्रण में मिली है—

अचल पट कटि में खोस कछोटा मारे
सीता माता थी आज नई धज धारे

× × × ×

मुख धर्म-बिन्दुमय-ओस-भरा अम्बुज-सा
पर कहा कण्टकित नाल सुपुलकित भुज-सा?

उतनी ही अवसादपूर्ण खिन्नमना विधवा नारी की मनःस्थिति के चित्रण में। सीता और उर्मिला के चित्र यदि पाठक को उत्फुल्ल बना देते हैं तो विधवा कौशल्या का चित्र उसे अवसाद में डुबो देता है—

जिस पर पहले का एक पर्त सा छाया
हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल सी काया
उस सरसी-सी, आभरण रहित, सित वसना
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना।

स्थिर चित्रों के अंकन के समान गुप्तजी के गतिशील चित्र भी वैभव सम्पन्न हैं। युद्ध के आह्वान सुन अयोध्यावासी किस प्रकार उतावली से युद्ध के लिए तैयार होने लगे, इस गतिशील चित्र को देखिए—

प्रिय-कण्ठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे
त्रस्त लघु-जन हस्त स्त्रस्त-से वस्त्रों पर थे।

आलिङ्गनमुक्त हो वीर योद्धा सैनिक वेश धारण करते हैं और आतंकित रमणियाँ अपने अस्त-व्यस्त वस्त्रों को सम्भालती हैं। इसका चित्र बड़ी सजीवता से अंकित किया गया है। संक्षिप्त होते हुए भी इसमें चेष्टा की तीव्र गति साकार हो उठती है। भाव चित्रों को उरेहने में कवि की कला अप्रतिम है। चाहे लज्जावत नायिका का चित्र हो, चाहे उत्साह भरे वक्ष का, चाहे वात्सल्यपूर्ण हृदय की भाव-भंगिमा हो और चाहे रोष भरे व्यक्ति की मनःस्थिति का, सबमें कवि की चित्रमय शैली भावना को साकार कर देती है। कहीं खीझने में उर्मिला का चित्र है तो कहीं सुध खोई करतल तक लाल हुई सीता का—

हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
करतल तो तुम हुई नवन-दल-मग्ना।

चित्र-कला में वर्ण-योजना का बड़ा महत्त्व है और इसके लिए वर्ण-परिज्ञान आवश्यक है। संस्कृत में कालिदास, अंग्रेजी में कीट्स, हिन्दी में सुमित्रानन्दन पन्त अपने वर्ण-ज्ञान एवं कुशल वर्ण योजना के लिये विख्यात हैं। गुप्तजी उतने कुशल नहीं हैं। उनकी वर्ण योजना भी परम्परागत है तथापि उनके द्वारा अंकित वर्ण अपनी सजीवता के कारण आकर्षक अवश्य बन गये हैं। अरुण पट पहने, सुवर्ण की प्रतिमा जैसी काया, नीलम सी पुतलियों, पद्मराग से अधर, मोतियों से दाँत, धन-पटल से केश वाली उर्मिला का चित्र अंकित करते समय कवि ने अपने सूक्ष्म वर्ण-ज्ञान का परिचय दिया है। अप्रस्तुत-योजना में भी अधिकतर कवि ने परम्परा का पालन किया है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि आरोपमूलक अलंकारों में, कवि ने प्रस्तुत पर अप्रस्तुत का आरोप करते हुए परम्परा का ही अनुसरण किया है और कहीं-कहीं वह सामान्य पाठ के लिये क्लिष्ट भी हो उठा है, जैसे ये पंक्तियाँ जहाँ उर्मिला पर रुदन्ती नामक जड़ी का आरोप किया गया है—

उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से
और पाकर ताप उसके प्रिय-विरह-विच्छेद से
वर्ण-वर्ण सदैव जिसके हों विभूषण कर्ण के
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के?

श्लेष-पुष्ट रूपक के कारण अर्थ समझने में कठिनाई अवश्य होती है, पर कवि का अद्भुत शिल्प-कौशल स्वीकार करना पड़ता है। चमत्कार जहाँ भावभिव्यंजना में सहायक हुआ है, वहाँ वह श्लाघनीय है पर कहीं-कहीं वह बाधक भी हो उठा है। श्लेष का प्रयोग प्रायः चमत्कार के लिये ही किया गया है, उससे भावोत्कर्ष में कोई सहायता नहीं मिलती—

उसे बहुत थी विरह के एक दण्ड की चोट
धन्य सखी देती रही निज यत्नों की ओट॥

परम्परागत अलंकारों में अन्योक्ति, हेत्वाप्रहृति विशेषोक्ति, व्यतिरेक, हेतुत्प्रेक्षा, विरोधाभास अलंकारों का प्रयोग पर्याप्त हुआ है और उनसे बुद्धि चमत्कृत तो होती है, पर भावों के उत्कर्ष में वे प्रायः असफल रहे हैं—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न वे अब थे।
छींटे वहीं पड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे॥

इन पंक्तियों से उर्मिला की व्यथा का प्रभाव इतना नहीं पड़ता, जितना कवि के शब्द-कौशल और दूरारूढ़ कल्पना का। उक्ति को वक्र बनाने के लिये कवि ने अनेक युक्तियों को अपनाया है। कहीं अंश के स्थान पर अंशी का प्रयोग किया है—

लिपि मुद्राओ भूमि भाग्य की दमको-दमको।

तो कहीं निर्जीव पदार्थों, अमूर्त भावनाओं पर मानवीय गुणों का आरोप किया गया है, जिससे उनकी संवदेनीयता बढ़ गई है—

**मेरा रोदन मचल रहा है, कहता है कुछ गाऊँ
उधर गान कहता है, रोना आवे तो मैं आऊँ।**

यहाँ रुदन और गायन को दो हठी बालकों के सदृश बताया गया है। इससे उर्मिला की मनःस्थिति को समझने में तो सहायता मिलती ही है, पाठक के सम्मुख वो ऐसे हठी बालकों का चित्र भी उपस्थित हो जाता है, जो शर्त लगाये बैठे हों। इसी प्रकार निम्न पंक्तियों को पढ़कर हमारे सम्मुख एक ऐसी रमणी का चित्र उपस्थित हो जाता है, जो मदिरा पान कर बेसुध हो गई है—

**तारक-चिह्न दुकूलिनी पी-पीकर मधु मात्र
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।**

छायावादी काव्य की शैली का अनुसरण करते हुए कवि ने अनेक स्थलों पर मानवीकरण अलंकार का प्रयोग किया है। एक स्थान पर पूर्व-स्मृतियों को नारी रूप में देखते हुए कवि कहता है कि वे उत्कर्ण होकर पट खोले उत्सुकता से खड़ी है और उनके विरह के कारण पीले कपोल आप-ही-आप लज्जारुण हो उठते हैं—

**श्रुति-पुट लेकर पूर्व-स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल।
देखा आप ही अरुण हुए हैं उनके पाण्डु कपोल।।**

विशेषण-विपर्यय, ध्वन्यार्थ व्यंजना आदि पाश्चात्य अलंकारों के प्रयोग ने भी काव्य-सौन्दर्य में अभिवृद्धि की है। शब्दों की कोमल ध्वनियों से काव्य में संगीतमयता आ गई है—

**सखी निरख की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल झालमल झलमल तारा।**

कवि ने कोमल और विराट दोनों प्रकार के बिम्ब प्रस्तुत किये हैं। यदि विधवा वेश में श्रीहीन कौशल्या का चित्र कोमल बिम्ब का उदाहरण है—

**जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल भी काया
उस सरसी-सी आभरण-रहित, सितवासना**

तो आकाश स्थित सूर्य की परिक्रमा करती हुई पृथ्वी का यह चित्र विराट बिम्ब का उदाहरण है—

**आकाश जल सब ओर तना
रवि तन्तुवाय है आज बना
करता है पद-प्रहार वही,
मक्खी-सी भिन्ना रही मही।**

मकड़े द्वारा प्रहार की गई मक्खी का रूपक बाँधकर कवि ने सूर्य के ताप से दग्ध पृथ्वी का विराट बिम्ब प्रस्तुत किया है।

कहीं-कहीं गुप्तजी स्वयं को रीतिकालीन विरह-काव्य की अभिव्यंजना-पद्धति से मुक्त नहीं कर पाये हैं और श्लेष आदि अलंकारों के मोह में पड़कर उक्ति को केवल चमत्कारपूर्ण बनाने में सफल हुए हैं—

उड़ने को है तड़पता मेरा भावानन्द
व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द
दिलाकर पद-गौरव का ध्यान।

यहाँ छन्द और पद-गौरव में श्लेष हैं; इससे उक्ति चमत्कारपूर्ण भले ही बन गई हो, मार्मिक नहीं बन पड़ी है। रीतिकालीन कवि बिहारी जिन ऊहात्मक उक्तियों के लिये बदनाम हैं, वैसी 'साकेत' में भी मिल जाती हैं। यदि बिहारी की नायिका के शरीर ताप में गुलाबजल बीच में ही भाप बनकर उड़ जाता है तो उर्मिला के शरीर को स्पर्श कर वर्षा की बूँदें भी ताप बन जाती हैं—

बूँदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठती हैं वे भाप-सी गिरकर अपने आप।

विरह-ताप से आकाश के शरीर में फफोले पड़ने तक की बात करने में कवि को संकोच नहीं हुआ है—

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय
तो क्या अरी न आह भी भरूँ आज निरुपाय।

शब्द शक्ति चमत्कार भी 'साकेत' में कम नहीं है। नवम् सर्ग के आरम्भ में ही शाब्दी-व्यंजना का सुन्दर उदाहरण मिलता है। अनेकार्थवाची कोई शब्द जब संयोग आदि के द्वारा प्रसंगानुसार किसी एक अर्थ में नियन्त्रित हो जाता है, तब किस शब्द-शक्ति के द्वारा दूसरे अर्थ का बोध होता है, उसे अभिधामूल शाब्दीव्यंजना कहते हैं।

“करुणे क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई।
मेरी विभूति है जो, उसको 'भवभूति' कहे क्यों कोई?”

यहाँ उत्तर और भवभूति के द्वारा शाब्दी-व्यंजना हुई है, क्योंकि उनके एक से अधिक अर्थ हैं, पर उनको एक अर्थ में नियन्त्रित किया गया है। जहाँ भाव कथित न होकर व्यंग्य होता है वहाँ व्यंजना होती है। उर्मिला के निम्न कथन में व्यंजना-कौशल देखिए—

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई,
हटा थाल, तू क्यों इसे आप लाई।

सखी से कहा तो केवल यह गया है कि बिना मँगाए भोजन क्यों लाई हैं, पर वास्तविक अर्थ यह है कि प्रिय के बिना उसे भोजन अच्छा नहीं लगता।

व्यंजना की तुलना में लक्षणा का प्रयोग 'साकेत' में अधिक हुआ है।

‘घुमड़ उठो आषाढ़, उमड़ कर पावन सावन बरसो’

में आषाढ़-सावन से तात्पर्य उन महीनों के बादलों से है। 'मेरा रोदन मचल रहा है', में 'मचल रहा है' लाक्षणिक प्रयोग है, जिसका अर्थ है कि दुःख का आवेग अभिव्यक्ति के लिये तड़प रहा है।

भाषा में काव्योचित लालित्य लाने के लिए साकेतकार ने ऐसे प्रयोग किये हैं, जिनसे सरस स्वाभाविक माधुरी छलक पड़ती है—

यही वाटिका थी, वही थी मही

यही चन्द्र था, चाँदनी थी यही।

में प्रवाह तो है ही, प्रसादगुण और भाषा की स्वच्छता सहज ही मन को मुग्ध कर लेती है। शृंगार रस के चित्रों में माधुर्य गुण है तो वीर रस के वर्णन में ओज गुण। माधुर्य गुण का उदाहरण यदि ये पंक्तियों हैं—

निरख सखी ये अंजन आए

फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए

तो ओज गुण के लिये दृष्टव्य है—

शब्द शब्द से शस्त्र शस्त्र से घाव भाव से

स्पर्धा करने लगे परस्पर एक भाव से

प्राणों का प्रण लगाकर दोनों पक्षी

उड़ा उड़ाकर लड़ा रहे थे निज निज पक्षी।

नाद-सौन्दर्य ने भी काव्यों को अधिक प्रभविष्णु बना दिया है—

सखि नील नभस्सर से निकला यह हंस अहा तरता-तरता

अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं, निकला जिनको चरता-चरता

अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी चलता उसको धरता-धरता

गड़ जायं न कटक भू-तल के, कर डाल रहा डरता-डरता।

अभिव्यंजना-वैचित्र्य नवम् सर्ग में अनेक स्थलों पर मिलता है। कहीं लक्ष्मण के जाने के बाद कुंजों में छाये सन्नाटे का वर्णन करने के लिये कुंजों की तुलना सोये बालक से की गई है—

हा! मेरे कुंजों का कूजन रोकर, निराश होकर सोया

यह चन्द्रोदय उसको उड़ा रहा है धवल वसन सा धोया।

और कहीं प्रस्तुत के वर्णन द्वारा भाव-व्यंजना कराई गई है। उर्मिला कहना यह चाहती है कि जब तक लक्ष्मण नहीं आएँगे, तब तक उसे हर्ष-सुख कहाँ? इसे बताने के लिये चकवे और प्रभात का आश्रय लिया गया है—

सिर आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली?

किन्तु करेंगे कोक शोक की तारे जो रखवाली?

भाषा-शैली को सुष्ठु और गौरवान्वित करने के लिये कवि साहित्य बहुप्रयुक्त अथवा बहु-चर्चित विषयों के द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। इसे प्रसंग-गर्भत्व कहा गया है। 'साकेत' में एक दो स्थानों पर इस युक्ति का प्रश्रय लिया गया है—

बैठी नाव विहार लक्षणा-व्यंजना।

गंगा में गृह-वाक्य सहज वाचक बना।।

'साकेत' के नवम् सर्ग में गुप्तजी ने अनेक छन्दों का योग किया है। कथा-प्रवाह की दृष्टि से यह छन्द-वैविध्य बाधक हो सकता है, पर इस सर्ग में कथा नहीं कही गई है, केवल उर्मिला की विरह-व्यथा

का, उसकी विभिन्न मानसिक स्थितियों का चित्रण किया गया है। अतः उर्मिला के विरहोद्गारों का विविध छन्दों में चित्रण करना मनोविज्ञान सम्मत है। विरह की स्थिति में व्यक्ति अपने मन के भावों को प्रकट करने के लिये न जाने कितने टेढ़े-सीधे प्रकार ढूँढ़ता है। अनेक रूपमयी विरह-वेदना को अभिव्यक्त करने के लिये विविध छन्दों का उपयोग स्वाभाविक ही नहीं, मनोहारी भी है। इस सर्ग से कहीं घनाक्षरी ही छटा है तो कहीं सवैया का सौन्दर्य; कहीं संस्कृत के वर्णिक वृत्त हैं तो कहीं मात्रिक छन्द; कहीं आर्या छन्द है तो कहीं दोहे और कहीं गीति-शैली अपनायी गयी है। गुप्तजी की विशेषता यह है कि उन्होंने वर्णिक वृत्तों में भी तुक का निर्वाह किया है कहीं-कहीं तो आंतरिक तुक के कारण नाद-सौन्दर्य स्वतः आ गया है—

मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था बस का बनी का।
अपूर्व आलाप वही हमारा,
गया विपची-दिर दार दारा।

तुक का जितना सफल प्रयोग गुप्तजी ने किया है खड़ी बोली के कवियों में बहुत कम मिलता है। ऐसा लगता है कि तुक कवि के इशारे पर नाचती है। आन्तरिक तुक का यह उदाहरण देखिये—

कैसी हिलती-डुलती अभिलाषा है कली, तुझे खिलने की
जैसी मिलती-जुलती उच्चाशा है भलि मुझे मिलने की।

यही प्रत्येक शब्द में तुक साम्य है।

‘साकेत’ के नवम् सर्ग की एक विशेषता यह भी है कि इसमें वर्णन की विभिन्न शैलियाँ अपनायी गयी हैं। कहीं संबोधन-शैली का आश्रय लिया गया है तो कहीं वर्णनात्मक पद्धति का। सर्ग के आरम्भ में स्वयं कवि करुणा को सम्बोधित करता है तो अन्य अनेक स्थलों पर उर्मिला अपने मन की व्यथा निवेदित करते हुए चातकी, भ्रमरी, मेघ, मेंहदी, लता, वेदना, शिशिर, यौवन-बाल आदि को सम्बोधित करती हैं। शिशिर को सम्बोधित कर वह न केवल शिशिर ऋतु का ही चित्रण करती है, अपितु शिशिर में पति-विमुक्ता नारी की शारीरिक और मानसिक दशा और पति के प्रति उसकी चिन्ता का अंकन भी करती है—

शिशिर न फिर गिरि-वन में
जितना माँगे पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में
कितना कम्पन तुझे चाहिए, ले मेरे इस तन में
सखी कह रही, पाण्डुरता का क्या अभाव आनन में।

सखी और उर्मिला के बीच होने वाले अनेक संवादों द्वारा उर्मिला की व्यथा व्यक्त की गई हैं। कहीं संवाद दोनों के बीच होता है और कहीं सखी या सम्बोधित शुक आदि के वचनों को उर्मिला के मुख से ही कहलाया गया है। यह शैली अभिनव तो है ही अपनी संक्षिप्तता और चारुता से अभिव्यंजना को अत्यधिक समर्थ बना देती हैं—

तू कहती है—चन्द्रोदय ही काली में उजियाली
सिर आँखों पर क्यों न कुमुदिनी लेगी वह पद-लाली

× × × ×

फिर प्रभात होगा क्या सचमुच! तो कृतार्थ यह चेरी।

पक्षी-जगत और मानव-जगत के हेलमेल ने इन संवादों को रमणीय भी बनाया है और विरहिणी के हृदय की उदारता, जिसमें सब प्राणी अपने स्वजन लगने लगते हैं, को भी प्रकट किया है—

वह विहग कहाँ है आचार्य तेरे?
विकच बदनवाले वे कृती कान्त मेरे।
सचमुच 'मृगया' में! तो अहेरी नये वे
यह हत-हरिणी क्यों छोड़ी यों ही गये वे?

कहीं उर्मिला अपनी व्यथा को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करती है—

हरे! हाय! क्या से यहाँ क्या हुआ,
उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ।
हिया-पिंजरा शून्य माँ को मिला,
गया सिद्ध मेरा, रही में शिला।

अन्तर्विवाद (Interior monologue) का प्रयोग कवि की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि का परिचायक होने के साथ-साथ इस बात का भी परिचायक है कि वह इस अभिव्यंजना-पद्धति की नवीनतम युक्तियों से परिचित है। उपन्यासों में चेतन-अवचेतन का संघर्ष दिखाने के लिये देशी-विदेशी लेखकों ने अन्तर्विवादों या अन्तःसलापों का उपयोग किया है। 'साकेत' में गुप्तजी ने उर्मिला के चेतन-अवचेतन का संघर्ष दिखाने के लिये इसका उपयोग किया है। उन्माद की स्थिति में कभी वह अवधि पूरी होने पर लक्ष्मण को आते देखती है और इसका स्वागत करने की तैयारी करती है, पर शीघ्र ही जब उसे पता चलता है कि लक्ष्मण अकेले आए हैं तो उसका हृदय ग्लानि से भर उठता है और वह लक्ष्मण की भर्त्सना करने लगती है और जब उसे चेतना होती है कि यह सब भ्रम था, उन्माद था तो वह आत्मग्लानि में भर स्वयं को प्रताड़ित करने लगती है। सारा दृश्य अन्तःसलाप शैली में प्रस्तुत किया गया है—

सुभग आ गये, कान्त आ गये।

× × × ×

त्वरित आरती ला उतार लूँ

× × × ×

वह नहीं फिरे? क्या तुम्हीं फिरे?

हम गिरे अहो! तो गिरे, गिरे।

× × × ×

अधम उर्मिले, हाय निर्दया।

पतित नाथ हैं। तू सदाशया,

मुँह दिखायेगी क्या उन्हें अरी?

मर ससंशया, क्यों त न भरी।

इस प्रकार काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से 'साकेत' गुप्तजी की प्रौढ़तम रचना है और उसमें भी नवम् सर्ग की काव्यश्री नई-नई शृंगार-सामग्री से और भी अधिक मोहक हो उठी है।

(ङ) उर्मिला का चरित्र

साकेत एक चरित्र-प्रधान काव्य है। इसके सभी पात्रों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उर्मिला के चरित्र से जुड़ा हुआ है। वास्तव में साकेत की संवेदना का केन्द्र बिन्दु ही उपेक्षिता उर्मिला का चरित्र है, जिसके जीवन का सम्यक् विश्लेषण करना ही साकेतकार का मुख्य संकल्प है। साकेत की कथा का सूत्र राम का महामहिम व्यक्तित्व भले ही रहा हो, लेकिन अपने प्रखर व्यक्तित्व, पतिप्रेम, त्यागवृत्ति, दायित्वबोध एवं दृढ़संकल्प के बल पर उर्मिला समस्त कथावस्तु पर छाई हुई है। राम काव्य के विशाल परिसर में भी वाल्मीकि के कथाकेन्द्र राम हैं, भवभूति की आस्था सीता पर टिकी है, हरिऔध ने भी सीता को श्रेय दिया है, लेकिन साकेत की भावभूमि में उर्मिला अवस्थित है। यही कारण है कि डॉ. नगेन्द्र ने साकेत को राम का चरण चिह्न न मानकर उर्मिला का स्मारक कहा है। उर्मिला के चरित्र-चित्रण में गुप्तजी की मौलिक उद्भावना यह है कि उन्होंने ऐतिहासिक वृत्त में काल्पनिक वृत्त का समन्वय किया है। उर्मिला आई तो इतिहास की उपेक्षित विचारधारा की राह से है, लेकिन नवोन्मेष की चेतना से अनुप्राणित होकर यह नारी-जागरण का इतिहास बन गई है। इसलिये उर्मिला की काया ऐतिहासिक किन्तु विचारधारा आधुनिक है।

कवि उर्मिला के चरित्र के प्रस्तुतिकरण में अत्यन्त सतर्क दिखाई पड़ता है। साकेत के प्रथम सर्ग में ही कवि ने उसे अनिन्द्य सौन्दर्य शालिनी, नव परिणीता राजवधू के रूप में प्रस्तुत किया है। गुप्तजी ने 'मूर्तिमती उष्मा', 'विधि के हाथों ढली', 'कल्प शिल्पी कला' कह कर उर्मिला की मनोरम रूपाकृति का चित्र अंकित किया है। इस रूप वर्णन से रीतिकालीन नव-शिख वर्णन की लुप्त होती हुई परम्परा की छाया दिखाई देती है। इस रूप वर्णन से उर्मिला का आभ्यन्तर जगत उभर कर सामने आता है। जीवन की वास्तविकताओं से टकराकर उसका रूप लावण्य छिन्न-भिन्न नहीं होता। इस सौन्दर्य के पीछे उसकी चारित्रिक दृढ़ता का भाव छिपा हुआ है। वह भाग्य को कोसती नहीं, बल्कि आत्म-नियंत्रण करने का प्रयास करती है। चरित्र-चित्रण की यह नई पद्धति मनोविज्ञान से प्रभावित अवश्य है, फिर भी कवि किसी विशेष पद्धति के प्रति प्रतिबद्ध दिखाई नहीं देता। वह जीवन की वास्तविकताओं को उघाड़ने के लिये एक स्वतंत्र पद्धति का निर्माण करना चाहता है।

साकेत में उर्मिला का प्रेमिका रूप भी दिखाई देता है, जहाँ यह लक्ष्मण के साथ हास-परिहास करने में निमग्न है। लक्ष्मण-उर्मिला की परिहास वृत्ति में उनके शुद्ध गम्भीर प्रेम का परिचय देते हुए कवि कहता है—

विविध विध फिर भी विनोदामृत बहा।

हार जाते पति कभी, पत्नी कभी,

किन्तु वे होते अधिक हर्षित तभी।

उर्मिला विनोद के अवसर पर भी अपनी मर्यादा एवं शील के प्रति सजग रहती है। उसे जीवन में आत्मलय होने के क्षण भी प्राप्त हुए, किन्तु आत्मलय के ऐसे मुखर क्षणों को भी उर्मिला द्विवेदी कालीन सात्विकता से नियन्त्रित करने की चेष्टा करती है। हास-परिहास जिस उन्मुक्त स्थिति की माँग करता है, उसके अभाव के कारण उसके स्वाभाविक दाम्पत्य व्यवहार में विस्तार और गहराई नहीं आ पाई।

उर्मिला के चरित्र का विकास परिस्थितियों के घात-प्रतिघात से होता है और उसकी त्यागवृत्ति धीरे-धीरे उन पर विजय लाभ करती हुई, आदर्श की ओर बढ़ती है। उसका आदर्श आत्मत्याग संस्कार रूप

से प्राप्त नहीं है, वह धीरे-धीरे विकसित होता है। पहले तो वह उस त्याग को विवश भाव मानती है—परन्तु बाद में जाकर वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है। जब लक्ष्मण राम के साथ वन जाने के लिये तैयार हो जाते हैं सीता भी पति के साथ चली जाती है, किन्तु उर्मिला अपने पति के साथ वन जाने का आग्रह न कर अपने महान् धैर्य एव त्याग का परिचय देती है। उर्मिला अपने मन को प्रिय पंथ का विघ्न नहीं बनने देती। वह अपने स्वार्थ को त्याग कर अनुराग की विराग पर बलि देते हुए कहती है—‘हे मन! तू प्रिय पथ का विघ्न न बना।’ उर्मिला के इस कथन में बड़ा मनोवैज्ञानिक संघर्ष है। यही उसके प्रेम और कर्त्तव्य की कसौटी बनता है। यहाँ उर्मिला त्यागमयी देवी के रूप में दिखाई देती है।

उर्मिला विरह-व्यथिता है। लक्ष्मण राम के साथ वन चले जाते हैं और उर्मिला विरहिणी बनकर घर में रह जाती है—

पुर देवी-सी यह कौन पड़ी?

उर्मिला मुर्च्छिता मौन पड़ी।

यह मूर्च्छना सांकेतिक अभिव्यक्ति है, जो शब्द से अधिक मुखर अर्थ देती है। उर्मिला के आत्म-नियंत्रण में जीवन का गहरा दर्द भरा हुआ है—जिसे शब्द बद्ध नहीं किया जा सकता। यौवनावस्था में ही उसे यति का वेश मिल जाता है। सखियाँ उसे सांत्वना देती हैं तो वह कहती है—

‘सब गया, हाय आशा न गई।’

प्रिय के वियोग में वह उपवन को वन बनाती है तथा अपने मन मन्दिर में प्रिय प्रतिमा स्थापित कर सम्पूर्ण भोगों को छोड़कर अपना जीवन योगमय बनाती है—

मानस मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,

जलती सा उस विरह में बनी आरती आप,

आँखों में प्रिय मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,

हुआ योग से भी अधिक उसका विषम वियोग।

विरह की अवस्था में इतना तन्मय हो उठी है कि वह आत्म-विस्मृत सी हो जाती है। प्रियतम के अतिरिक्त उसे किसी का ध्यान नहीं। उसका जीवन एकाकी हो गया है। इतने बड़े संसार में उसे कोई भी ऐसा नहीं मिलता, जिससे अपना दुःख बाँट सके। वह विरह में तिल-मिलकर जल रही है फिर भी प्रकृति के प्रति उर्मिला के मन में आकर्षण है, वितृष्णा नहीं, सूरदास की गोपियों की भाँति वह यह नहीं कहती कि—

‘मधुवन तुम कत रहत हरे।

विरह वियोग श्याम सुन्दर के ठाढ़े कत न जरे

वरन् उर्मिला सभी ऋतुओं का स्वागत करती है—

हंसो हंसो शशि, फूल फूलो।

हंसो, हिंडोरे पर बैठ झूलो।

यथेष्ट मैं रोदन के लिये हूँ।

झड़ी लगा दूँ इतना पिये हूँ।

उर्मिला मालिनों को भी यही आदेश देती है—

“सींचे ही बस मालिने, कलश लें, कहें न लै कर्तरी”

इस प्रकार वियोग ने उर्मिला के जीवन को विस्तार एवं विवेक दिया है। वेदना से उसे दृष्टि विस्तार मिला है। वह विश्व के दुःख को अपने में बाँध लेना चाहती है।

उर्मिला एक प्रकार से *आत्मपीडक* चरित्र है, स्वदेश प्रेम, सैन्य संघटन जैसे सात्त्विक भाव उसकी दृष्टि व्यापकता का ही परिणाम है। लक्ष्मण की शक्ति लगने का समाचार पाकर वह क्षत्राणी वेश में शत्रुघ्न के पास आकर खड़ी होती है और एक वीरांगना की भाँति हुंकार भरते हुए कहती है—

**बायाँ कर शत्रुघ्न-पृष्ठ पर कष्ट-निकट था,
दायें कर में स्थूल किरण-सा शूल विकट था।**

सेवा भाव की प्रधानता के कारण वह युद्ध क्षेत्र के वीरों के शव अपने हाथों धोना चाहती है। देश प्रेम की स्पष्ट अभिव्यक्ति उसके निम्न कथन से हो जाती है—

**किस धन से है रिक्त कहो, सुनिकेत हमारे
उपवन फल सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।**

उर्मिला के चरित्र की विशेषता दृढ़-संकल्प भी है। वह चौदह वर्ष पति के वियोग में शोक उन्माद, सन्ताप, प्रलाप विनम्र, जड़ता, अनिद्रा आदि क्रियाओं से ग्रस्त रहती है लेकिन कहती कुछ नहीं है। कवि ने उर्मिला के चरित्र को सती साध्वी के रूप में प्रस्तुत किया है, जो आरती के दीप की तरह स्वयं ही जल रही है और अवधि शिला को एक-एक बूँद आँसू से काटती है। वह बिहारी की नायिकाओं की तरह पड़ोसियों का रहना दूभर नहीं करती बल्कि सम्पूर्ण दुःख को अपने में बाँध लेना चाहती है। वह अपने जीवन की उस चढ़ती बेला को खोकर शुचि गम्भीरता धारण करती है और अपने साध्य निकटतम आराध्य एवं आदर्श की प्राप्ति के लिये कृत संकल्प होती है।

उर्मिला के चरित्र में दायित्व बोध की भावना भी है। वह अपने मानसिक सन्ताप से भ्रान्त होकर प्रिय का आह्वान करती है, लेकिन जैसे ही उसे अपने दायित्व का बोध होता है तो वह उन्हें कर्त्तव्य पराङ्मुख देखकर लौटा देती है—

**‘भूल अवधि सुध प्रिय से,
कहती जगती हुई कभी-‘आओ’,
किन्तु कभी सोती तो
उठती वह चौक बोलकर-‘जाओ’**

उर्मिला की इस अर्द्ध विस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान को अन्तर्धारा है। अवधि सुध भूलकर उसका ‘आओ’ कहना और फिर चौककर ‘जाओ’ कहना अत्यन्त मनोवैज्ञानिक व सारगर्भित है।

उर्मिला का चरित्र अत्यन्त संवेदनात्मक है। उसकी मर्म कथा के पीछे भारतीय नारी की अधोगति का करुण स्वर है। नारी सुधार की आवाज उर्मिला के ब्याज से साकेत में प्रस्फुटित हुई है। इसलिये उसके उपस्थापन में अतिरंजना का प्रयोग हुआ है, कवि ने यहाँ वास्तविकता से अधिक भावात्मक समवेदना का आश्रय लिया है—

**क्या-क्या होगा साथ में क्या बताऊँ
है ही क्या हा। आज जो मैं जताऊँ।**

तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा चौथी मैं हूँ—पाँचवीं तू प्रवीणा।

फिर भी विरह की कठोर परिस्थितियों में भी उसका यही विश्वास है कि—‘प्रेम की ही जय जीवन में, यही आता है इस मन में।’ हृदय की यह उदारता और संवेदनशीलता ही उर्मिला के चरित्र को ऊँचा उठाती है।

विरहिणी उर्मिला को लेकर हिन्दी के समीक्षकों में उसके चारित्रिक औदात्त के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद भी हैं। उनका मत है कि उर्मिला की विरह-वेदना आत्म-केन्द्रित है। उसमें व्यापकता का अभाव है। उसमें वह उदात्तता नहीं जिसकी अपेक्षा उस जैसी नारी से की जा सकती है। उसका दैन्य व्यक्तिगत स्वार्थ की हानि से सम्बन्धित है। श्री गिरिजादत्त शुक्ल ‘गिरीश’ के शब्दों में—“हम उसी उर्मिला को प्यार कर सकते हैं, जो रघुकुल में उपस्थित समस्या का समाधान कर सके और उसी समाधान में अपने जीवन के विषाद का समाधान ढूँढ़ ले। हम उसकी आँखों में आँसू देखना चाहते हैं, किन्तु वे आँसू ऐसे हों, जो उस पीड़ा को तरल भाषा प्रदान करने के लिये प्रवाहित होते हो। जिसका मूल पति-वियोग में नहीं, बल्कि इस संदेह में हो कि प्रसन्नचित और उल्लासपूर्ण बदन दिखाई पड़ने की लाख चेष्टा करने पर भी शायद उसके विषाद की झलक साधु भरत को अनुताप-दग्ध कैकेयी तथा अन्य परिजनों को मिल ही जाती है और वे भूले हुए क्लेश के सिन्धु में डूब ही जाते हैं, हम उसकी आँखों में आँसू देखना चाहते हैं, पर वे आँसू ऐसे हो, जो उस वेदना को व्यक्त करने के लिये प्रकट होते हैं। जिसका जन्म पति की स्मृति से नहीं बल्कि पति-स्मृति के अनन्तर आत्म-विस्मृति के उस जागरण से होता है, जो आत्म-विस्मृतिमयी दुर्बलतापूर्ण परिस्थिति को उसके व्यक्तित्व के विकास में, निर्विकार आनन्द की उपलब्धि में, पर दुःख शमन के कार्य में व्यवधान रूप प्रतीत करा कर लज्जा, संकोच और ग्लानि से आर्द्र होकर प्रगतिशील होता है। प्रियतम का विरह और प्रियतम का मिलन केवल शारीरिक ही नहीं होता, शारीरिक विरह होने पर मिलन हो सकता है और शारीरिक मिलन होने पर भी विरह की आग जलती ही रह सकती है। उर्मिला की लालसा को हम केवल पति के शारीरिक मिलन में ही केन्द्रीभूत नहीं देखना चाहते हम उसे जीवन के सम्पूर्ण तत्त्व की ओर क्रमशः पैर बढ़ाती हुई देखना चाहते हैं। इस प्रकार समीक्षकों की दृष्टि में उर्मिला शारीरिक मिलन को आध्यात्मिक मिलन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देती है।” फिर भी उर्मिला का व्यक्तित्व समादरणीय है। उसकी एकदम अपेक्षा नहीं की जा सकती। उर्मिला के चरित्र अंकन में कवि ने अपना एक निजी दृष्टिकोण रखा है और वे उसमें सफल हुए हैं। यदि गुप्तजी उर्मिला जैसे पात्रों की सृष्टि न करते तो उनका कवि अभिव्यक्ति पाने के लिये छटपटाता रह जाता। उर्मिला के समष्टि चरित्र का अनुशीलन यह स्वीकार करने को बाध्य करता है कि हिन्दी काव्य जगत की वह अद्भुत चरित्र-सृष्टि है।

व्याख्या

यहाँ परीक्षा की दृष्टि से उदाहरण के रूप में दो-तीन पदों की सप्रसंग व्याख्या की जा रही है—

करूणे क्यों रोती.....कहे कोई?

प्रस्तुत पंक्तियाँ राष्ट्रकवि मैथिलीशरण कृत महाकाव्य ‘साकेत’ के नवम् सर्ग में उद्धृत हैं। उर्मिला का विरह वर्णन इस कृति की आत्मा है। विरहिणी उर्मिला पर वनवास की अवधि में क्या गुजरी होगी—

कवियों की कल्पना इस भाव को छू तक नहीं गई है, गुप्तजी ने इसी उपेक्षित प्रसंग को नवम् सर्ग में अभिव्यक्त किया है यह प्रसंग इतना करुण है कि स्वयं करुणा को विह्वल कर देता है। अपने में विद्यमान करुण भावना को इस प्रकार विह्वल होते देख कवि सम्बोधित करते हुए कहता है—

हे अन्तर की करुण-भावना, तू क्यों रोती है? तेरे विषादमग्ना होने का क्या कारण है? अरे! तू तो इस प्रश्न को सुनकर और भी फूट-फूटकर रोने लगी है। आशय यह है कि हृदय पहले ही विकल था। जब विकलता का कारण जानना चाहा, तो वह और भी विकल हो उठा है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है कि रोते हुए व्यक्ति से उसके रोने का कारण पूछे जाने पर वह और अधिक रोने लगता है। अन्ततः करुणा कवि को अपने रुदन का कारण बताती है कि मैं इस बात पर रो रही हूँ कि जो कुछ मेरा श्री-वैभव है, उसे लोग हीन-भाव से क्यों देखते हैं? विरह से प्रेम परिपक्व होता है, वह प्रेम का प्राण है, भभूत या राख के समान तुच्छ वस्तु नहीं है।

इस छन्द में 'उत्तर' और 'भवभूति श्लिष्ट' शब्द हैं। 'उत्तर' का अर्थ (1) 'जबाब' और (2) 'उत्तर रामचरित' है। 'भवभूति' का अर्थ (1) संसार की विभूति, (2) शिव के अंग की राख और (3) 'उत्तर रामचरित नाटक' के कवि का नाम है। श्लिष्ट शब्दावली से अर्थ निम्न प्रकार भी ध्वनित होता है—

उर्मिला की दशा का वर्णन करते समय कवि का हृदय भर आता है, अतः वह पूछता है—आँखों में लाने वाली करुणा इस समय मेरे अन्तर में क्यों उमड़ रही है? सुनते हैं 'उत्तर रामचरित' के प्रसंग तो इससे अधिक करुण और रुलाने वाले हैं। प्रश्न यह है कि भवभूति जैसे सहृदय कवि की दृष्टि इन प्रसंगों पर क्यों नहीं पड़ी? भले ही उत्तर रामचरित में करुण रस का अनुपम परिपाक हुआ है, पर जो मेरी विभूति है, वह मेरी ही रहेगी। अर्थात् उर्मिला के विरह वर्णन का यश तो मेरे भाग्य में लिखा था, उसका चित्रण कोई भवभूति क्यों करता? श्लेष द्वारा इस पंक्ति का अर्थ भी ध्वनित है कि साकेत में अंकित-निरूपित करुणा गुप्तजी की अपनी विभूति है, उनके अपने हृदय की अक्षय निधि है, उसे कोई महाकवि भवभूति की देन अर्थात् प्रसाद मात्र या विश्व की कोई सामान्य वस्तु क्यों समझे?

टिप्पणी—

- (1) इस छन्द में 'उत्तर' और 'भवभूति' श्लिष्ट शब्द हैं। अर्थ की दृष्टि से दोनों पंक्तियाँ बिहारी और केशव की पंक्तियों के समान कसी हुई हैं।
- (2) करुणा पर रोने और उत्तर देने के मानवोचित क्रियाओं का आरोप होने के कारण इसमें मानवीकरण अलंकार है।
- (3) इन पंक्तियों में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है।
- (4) नवम् सर्ग में करुण रस का बाहुल्य देखकर गुप्तजी ने 'एको रसः करुण एव' के उद्घोषक महाकवि 'भवभूति' का स्मरण किया है। सीता की करुण दशा का चित्रांकन भवभूति ने निम्न उक्ति में किया है—

'अपि ग्रावा रोदति बदलति व्रजस्य हृदयम्।'

अर्थात् पत्थर भी रोने लगे और वज्र का हृदय भी द्रवित हो उठा। गुप्तजी की हार्दिक अभिलाषा है कि उत्तर रामचरित में पति-परित्यक्ता सीता के समान साकेत में पति-वियुक्ता उर्मिला को कारुणिक दशा का चित्रांकन करते हुए वे भी सुहृदय पाठक को करुणासागर में निमग्न कर सके।

- (5) पूर्वाद्ध में जहाँ भवभूति की जयजयकार है, वही व्यंजनार्थ में भवभूति का कोई विशेष महत्त्व नहीं रहता।

मानस मन्दिर.....आप।

विरहानल विदग्धा उर्मिला अपने प्रिय आराध्य लक्ष्मण के ध्यान में लीन हो गई थी, वह उसी के हेतु सब कुछ त्यागकर उसी में निमग्न थी। गुप्तजी कहते हैं—

उर्मिला का सम्पूर्ण जीवन अब प्रेम की उपासना का जीवन है। उस सती का मन ही वह मन्दिर था, जिसमें उसने अपने पति की मूर्ति को देवता के स्थान पर स्थापित कर रखा था। लक्ष्मण के विरह में जलती हुई वह ऐसी प्रतीत होती थी जैसे कोई पूजा का दीप हो। उसका जीवन सतत प्रज्वलित विरह की दीपशिखा बन गया था।

टिप्पणी—

- (1) प्रस्तुत पंक्तियाँ उर्मिला की करुणाजनक स्थिति पर प्रकाश डालती हैं।
- (2) लक्ष्मण के प्रति पूज्य भाव दृष्टिगत होते हुए भी विप्रलभ्य शृंगार रस है।
- (3) इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति महादेवी वर्मा ने भी की है—
“शून्य मन्दिर में बँगी, आज मैं प्रतिमा तुम्हारी!
अर्चना हों शूल भोले, क्षार दृग-जल अर्घ्य हो ले!
आज करुणा स्नात उजला, दुःख हो मेरा पुजारी॥
- (4) रूपक, उपमा तथा अनुप्रास अलंकारों के प्रयोग से भाव सौन्दर्य बढ़ गया है।
- (5) विरह वर्णन अति योजनापूर्ण किया गया है।

विरह संग अभिसार.....एक संसार।

उर्मिला प्रिय-विरह-व्यथा के कारण इतनी व्यथित हो जाती है कि उसे यह जीवन दूभर प्रतीत होने लगता है। वह मृत्यु का आलिंगन करना चाहती है। इन्हीं भावों की अभिव्यक्ति करते हुए उर्मिला कहती है—

विरह के साथ (अवधि रूपी) अभिसार (सहारा) भी है। हे मन! तू विरह-व्यथा के कारण और अधीर मत हो, क्योंकि वियोग अनन्तर ही तो प्रियतम से मिलना संभव होता है। यदि वियोग न हो तो मिलन का प्रश्न ही नहीं उठता। जब हम किसी उत्तरादायित्व के भार का निर्वाह करते हैं, तभी हम लोगों की कृतज्ञता के पात्र बन पाते हैं। मैं इस समय स्वयं प्राणेश्वर के बनवास की अवधि रूपी पिंजरे में बन्द हूँ। किन्तु उसका द्वार खुला हुआ भी तो है—उस खुले द्वार में अवधि शनैः-शनैः निकलती भी तो जा रही है। कहा जाता है कि काल सभी व्यक्तियों के लिये कठिन होता है परन्तु मेरे लिये यह भी उदार है। इस विरह-काल में ही मुझे प्रेम की स्मृतियों का सच्चा आनन्द प्राप्त हुआ है। जहाँ विरह ने मुझे गलाने-मिटाने का प्रयत्न किया है, वहीं मेरे साथ थोड़ा उपकार भी किया है। वैसे तो मैं संज्ञाहीन-सी रहती हूँ—फिर भी

इतनी चेतना तो मुझे है ही कि अवधि का कितना समय व्यतीत हो गया, कितना अभी और शेष है। इस वियोग-व्यथा के कारण ही मैं यह समझने लगी हूँ कि यद्यपि प्राणी अपने जीवन के प्रति अत्यधिक अनुराग रखते हैं, किन्तु कभी-कभी वह भार-स्वरूप प्रतीत होने लगता है। इसके विपरीत वह मृत्यु, जिससे घृणा करते हैं, परिस्थिति विशेष में वह गलहार बन जाती है—सुहावनी प्रतीत होने लगती है। मुझे अब पता चला है कि मेरे अन्तःकरण में विरह की आग भी है और आँसुओं की धारा भी। अब तक मैं यही समझती थी कि इस हृदय में केवल प्रियतम रहते हैं, लेकिन विरह में इस बात का आभास हुआ है कि मेरा अपना भी कोई व्यक्तित्व है और भीतर भावनाओं का एक जगत भी बसा हुआ है।

टिप्पणी—

- (1) प्रिय के विरह के कारण मरण भी उर्मिला को हृदय के हार के समान प्रिय लगता है—गुप्तजी की यशोधरा भी उर्मिला के समान मरण को प्रिय मानती है—

मरण सुन्दर बन आया री।

मरण मेरे मन भाया री।

- (2) हृदय में ज्वाला और जलधारा का समान स्थान होने के कारण यही विरोधाभास अलंकार है। तृतीय पंक्ति में रूपक अलंकार है।
- (3) मुहावरों का प्रयोग भी दर्शनीय है।

सम्भावित प्रश्न

1. 'साकेत' के नवम् सर्ग के आधार पर मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-शैली की परीक्षा कीजिए।
2. 'साकेत' के नवम् सर्ग के काव्य-सौन्दर्य का उद्घाटन करते हुए भी काव्य-कला पर प्रकाश डालिए।
3. 'साकेत' का कथानक पौराणिक होते हुए भी उनमें कवि ने भारत की संस्कृति के चित्र प्रस्तुत किये हैं और वर्तमान युग की चेतना से अनुप्राणित हो सामाजिक सुधार की आवश्यकता पर बल दिया है।" इस कथन की युक्तियुक्त समीक्षा कीजिए।
4. 'साकेत' का आधार प्राचीन आख्यान है फिर भी उसकी प्रेरणा वर्तमान से मिली है। उपर्युक्त कथन की परीक्षा कीजिए।
5. 'साकेत' में 'सांस्कृतिक चेतना' का निरूपण कीजिए।
6. 'मैथिलीशरण गुप्त समन्वयवादी और आत्मोन्नति तथा लोक-कल्याण के पोषक कवि थे।' साकेत के आधार पर इस कथन की परीक्षा कीजिए।
7. गीति-तत्त्व की दृष्टि से 'साकेत' के नवम् सर्ग की परीक्षा कीजिए।
8. 'उर्मिला के विरह वर्णन में देशकाल का सम्यक् आभास है। उनका अपना दुःख दूसरों के दुःख से निरपेक्ष नहीं है।' इस कथन की परीक्षा करते हुए उर्मिला-विरह-वर्णन की समीक्षा कीजिए।
9. महाकाव्य की दृष्टि से 'साकेत' के महत्त्व पर प्रकाश डालिए।

10. साकेत के नवम् सर्ग के आधार पर उर्मिला की चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट कीजिए।

पाठ्य-सामग्री

1. डॉ. कन्हैयालाल सहल-साकेत के नवम् सर्ग का काव्य-वैभव
2. डॉ. दानबहादुर पाठक-साकेत एक अध्ययन-
 - (क) साकेत के अभिव्यक्ति-उपकरण, पृष्ठ 110-134
 - (ख) साकेत के गीतात्मकता, पृष्ठ 187-202
 - (ग) साकेत और भारतीय संस्कृति, पृष्ठ 203-215
 - (घ) साकेत का महाकाव्यत्व, पृष्ठ 163-186
3. डॉ. उमाकान्त गोयल-मैथिलीशरण गुप्त : कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता।
 - (क) अभिव्यंजना-कौशल, पृष्ठ 269-303
 - (ख) भारतीय संस्कृति के आख्याता, पृष्ठ 383-487
 - (ग) साकेत का महाकाव्यत्व, पृष्ठ 184-204
4. डॉ. शांतिस्वरूप गुप्त-हिन्दी के प्रतिनिधि काव्य साकेत में
भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय भावना, पृष्ठ 135-143
5. डॉ. नगेन्द्र-साकेत एक अध्ययन
 - (क) शैली और उसके प्रसाधान, पृष्ठ 115-168
 - (ख) उर्मिला का विरह वर्णन, पृष्ठ 41-60
6. डॉ. कमलाकान्त पाठक-मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य।
 - (क) साकेत का महाकाव्यत्व, पृष्ठ 510-520

कामायनी : जयशंकर 'प्रसाद'

—डॉ. वेदज्ञ आर्य

(क) परिचय और विशेषताएँ

कामायनी का महत्त्व

कामायनी आधुनिक हिन्दी-साहित्य की सर्वोत्तम कृति है। जयशंकर प्रसाद ने जीवन के जिन सन्दर्भों को लेकर कामायनी का प्रणयन किया है, वे अत्यन्त व्यापक एवं मोहक हैं। हिन्दी-साहित्य जगत में तुलसी के रामचरित-मानस के पश्चात् कामायनी में कविता को मानवीय संवेदनाओं के नये आयाम उपलब्ध हुए हैं। सत् और चित् के शाश्वत गुणों से संचालित मानवता में आनन्द उपलब्ध करने की जो चिरन्तन पुकार उठती है, वह इस काव्य में ध्वनित हुई है। अन्तर्जगत् और बाह्य जगत की कलात्मक अभिव्यंजना इसके महत्त्व को प्रतिपादित करती है। दर्शन मनोविज्ञान इतिहास पुराण, कला और संस्कृति कामायनी के शक्ति-स्रोत हैं और इनके कथा-प्रसंगों में ज्ञान के विविध विषय स्वयं परिपुष्ट हो गए हैं। जलप्लावन-सम्बन्धी प्राचीन आख्यान के आधार पर प्रसाद जी ने जिस काव्य-संसार की सृष्टि की है, उसमें कार्यों के आत्मवाद एवं आनन्दवाद की मूल भावना मुखरित हो उठी है। जल-प्लावन की कहानी विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में भी विश्रुत है। इस दृष्टि से कामायनी के कथासूत्र सार्वकालिक और सार्वभौमिक जनजीवन के साथ अनुस्यूत हैं। कामायनी का आख्यान तत्त्व युग-युग के पुरुषों के पुरुषार्थ की व्याख्या करता है। इससे उसका महाकाव्य के उच्च आसन पर समासीन होना सिद्ध होता है। पुरुषार्थ का उन्नयन प्रत्येक महाकाव्य का प्रतिपाद्य है। कामायनी के शैवाद्वैतावाद की जो समरसतापरक मान्यता प्रतिपादित हुई है, यह विश्व की सामूहिक चेतना की मात्र अभिव्यक्ति है उसमें मन की वृत्तियों का जो क्रमिक विकास दिखाया गया है वह विश्व-मानव का ही मनोविश्लेषण है।

कामायनी का कलाकार

युगबोध की दृष्टि और बहुमुखी प्रतिभा के कारण प्रसाद जी हिन्दी-साहित्य के महान् कलाकार हैं। वे मूलरूप से चिन्तनशील, मानवशील और अनुभूतिशील कवि हैं। उन्होंने अपनी कोमल अनुभूति और मौलिक अभिव्यक्ति द्वारा साहित्य की प्रायः सभी विधाओं की संरचना युगानुरूप संदर्भों में की है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में कवि, नाट्यकार, कहानीकार, उपन्यासकार, निबन्धकार और गीतकार के रूप में प्रसाद की श्रेष्ठता सिद्ध हो चुकी है। भारतीय इतिहास और संस्कृति की दृढ़ भूमि पर खड़े होकर भी उन्होंने साहित्यिक विषयों के नये-नये आयामों की खोज की है। वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण, रसास्वादन, संवादलेखन, शिल्पविधान आदि में प्रसाद जी का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन रहा है। उनका एक निश्चित काव्य-व्यक्तित्व है जो 'प्रेम-पथिक' तथा 'कानन-कुसुम' के सामान्य धरातल से उठकर 'आँसू' और 'लहर' तक निरन्तर विकसित होता रहा है। 'कामायनी' उनके विकसित काव्य व्यक्तित्व की चरण परिणति है। प्रसाद की कवित्व-शक्ति से इस महाकाव्य की सृष्टि हुई है। 'प्रेम-पथिक' से लेकर 'कामायनी' तक

शब्द-साधना करते हुए कवि को दो दशाब्दियों से अधिक समय लग गया। समय के इस अन्तराल में प्रसाद जी जीवन को अधिक संश्लिष्टता, गंभीरता और व्यापकता के साथ समझने में समर्थ हुए हैं। वे अपनी अनुभूति की अखण्डता और अभिव्यक्ति की समृद्धि के कारण आधुनिक हिन्दी-साहित्य के मूर्धन्य कवि बन गये हैं।

कामायनी का कथानक

कामायनी के कथानक के दो रूप मिलते हैं। एक ऐतिहासिक स्थूल रूप जो प्रस्तुत है और दूसरा प्रतीकात्मक सूक्ष्म जो अप्रस्तुत है। ये दोनों कथाएँ परस्पर एक-दूसरे से संश्लिष्ट हैं। स्थूल रूप में कामायनी की कथा जलप्लावन की घटना से आरम्भ होती है। जलप्लावन की कथा भारतीय वाङ्मय में तथा विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में चिरकाल से चली आ रही है। भारतीय ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण, महाभारत, मत्स्यपुराण तथा अन्य प्रमुख पुराणों में विविध रूप से इसका उल्लेख किया गया है। कामायनी में यह कथा पन्द्रह सर्गों में विभक्त है। इसके प्रमुख पात्र हैं—मनु, श्रद्धा और इड़ा। प्रलय विध्वंस में एकाकी मनु बच जाते हैं। उनका चिन्तामग्न चित्र प्रथम सर्ग में प्रस्तुत किया गया है। प्रलय का पर्यवसान, नवीन सृष्टि का आरम्भ और मनु में आशा एवं अस्मिता का संचार दूसरे सर्ग का विषय रहा है। परवर्ती सर्ग में मनु की भेंट श्रद्धा से होती है। मनु के स्वप्न में अवतीर्ण होकर काम अपनी सन्तान श्रद्धा को अपनाने का संदेश देता है। मनु गृहस्थ-जीवन में संलग्न होकर यज्ञ-कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं और यज्ञ का प्रभाव उन पर ऐसा पड़ता है कि वे मद्य एवं मांस के उपासक बन जाते हैं। श्रद्धा के प्रिय पशु की बलि देकर मनु अपनी हिंसक प्रवृत्ति का ही परिचय देते हैं। भावी सन्तान के प्रति श्रद्धा के विभक्त प्रेम को देखकर वे ईर्ष्या से जल उठते हैं और उसे अकारण ही छोड़कर भाग जाते हैं। सारस्वत प्रदेश में इड़ा के सहयोग से मनु उजड़े हुए नगर को भौतिक साधनों से सम्पन्न करने में सफल हो जाते हैं। फिर, एक दिन इड़ा पर बलात्कार करने के प्रयास में मनु सारस्वतवासियों से लड़कर आहत और मूर्च्छित हो जाते हैं। तदनन्तर श्रद्धा उनके पास आकर उन्हें त्रिपुर का दर्शन कराती हुई कैलाश-मानसरोवर की प्रशान्त भूमि पर ले जाती है।

सूक्ष्म रूप में कामायनी की अप्रस्तुत तथा मानव-मन की वृत्तियों के क्रमिक विकास की ही कथा है। कामायनी के आमुख में कथा का सांकेतिक अर्थ निर्दिष्ट करके प्रसाद जी ने उसे रूपक का नाम दिया है, तदनुसार मनु संकल्प-विकल्पात्मक मन के प्रतीक हैं। श्रद्धा हृदय की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति का प्रतीक है। इड़ा व्यवसायात्मिकता बुद्धि का प्रतीक है। इन प्रतीकों के सूक्ष्म विधान से जो कथा ध्वनित होती है, वह यह है कि मनुष्य एकान्त भाव से श्रद्धायुक्त होकर रिक्तता और विफलता का अनुभव करता है और बुद्धि की सहायता से भौतिक साधन-सम्पन्न होकर भी अशान्त बना रहता है। अतः शैवमत-प्रतिपादित समरसता के आधार पर श्रद्धा और बुद्धि के संयोग से मनुष्य यथार्थ रूप में मनुष्य बनकर अपरिमेय आनन्द उपलब्ध कर सकता है। इस प्रकार दो कथाओं की संश्लिष्टता से कामायनी में अन्तर्निहित विराट् अर्थ की अभिव्यंजना हुई है।

कामायनी का शिल्पविधान

कामायनी छायावादी युग की प्रतिनिधि रचना है। छायावाद ने कविता को कलात्मक अभिव्यक्ति के सरस और मोहक आयाम प्रदान किए हैं। कामायनी में नये शिल्प की वे सभी विशेषताएँ उपलब्ध हैं, जो छायावादी कविता को उत्कर्ष के चरमबिन्दु पर पहुँचा देता है। प्रेम और सौन्दर्य छायावाद के दो आधारभूत तत्त्व हैं और ये दोनों प्रकृति एवं मानव के व्यापक संदर्भों से जुड़े हुए हैं। प्रसाद जी मूलतः प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। प्रेम उनके काव्य व्यक्तित्व का सशक्त प्राण है और सौन्दर्य उनका दीप्तिमान् अंग। एक में अनुभूति की अखण्डता है और दूसरे में अभिव्यक्ति की प्रखरता। कामायनी में काम का मनु को प्रभावित करना, श्रद्धा का प्रेमकला के रूप में अवतीर्ण होना और मनु के प्रणय-बन्धन में आबद्ध होना आदि प्रेम के संवेदनात्मक रूप हैं। इसी प्रकार प्रकृति को भी आत्मसात् करके प्रेमोद्रेक के सजीव चित्र अंकित किये गये हैं। मुग्धा रजनी का अपनी भोली-भाली छवि को लुटा, समीर के मिस हाँफते हुए किसी के पास जाना, ऊँचे शिखर का व्योम-चुम्बन में व्यस्त होना आदि मानवीकृत प्रकृति के संश्लिष्ट चित्र हैं। इनमें छायावाद के रोमांटिक भावों का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित है।

प्रसाद की प्रौढ़ कल्पना-शक्ति और भावातिरेक के कारण कामायनी का शिल्प अतुलनीय है। प्रकृति और नारी के रम्य रूपों के चित्रांकन में उनकी कल्पना के विराट् दर्शन होते हैं। उनकी कल्पना पदार्थों के सतही रूप-रंग तक सीमित नहीं, अपितु उनके अभ्यान्तर सौन्दर्य से भी परिचित कराने में सक्षम रही है। कामायनी का यह कलात्मक उत्कर्ष है कि जहाँ लतिका अपना घूँघट हटाकर दुग्धधवल कुसुम की स्निग्ध चितवन से प्रेक्षक के मानस को रसाप्लावित कर देती है। प्रसाद जी का सौन्दर्य-बोध पवित्रता के धरातल पर प्रतिष्ठित है। कामायनी में श्रद्धा और इड़ा का रूप-चित्रण सर्वथा वासनामुक्त तथा नैसर्गिक सौन्दर्य के अन्तर्गत समाविष्ट है। श्रद्धा की रूप-योजना में कवि ने जिन प्राकृतिक उपकरणों और अलंकरणों का प्रयोग किया है उनमें कही भी वासनोद्दीपन की गन्ध नहीं आती। श्रद्धा की मधुपवन-क्रीडित शिशु साल के सदृश बतलाकर उनके साथ 'सौरभ-संयुक्त' का जो विशेषण जोड़ा गया है उससे किशोरावस्था की मस्ती, कोमल अंगों की तनुता एवं कालिदास की शकुन्तला के समान अनाघ्रात पुष्प की अभिव्यक्ति होती है। अरुण रविमण्डल सदृश श्रद्धा का मुख-मण्डल और उनका तेजोमय व्यक्तित्व समग्र परिवेश को प्रभामंडित करने में सक्षम है। इड़ा ज्ञान एवं विज्ञान की दीप्ति से ऐसी तेजस्विनी बाला है, जिसकी उपस्थिति से ही जड़ता तथा अन्धकार लुप्त हो जाते हैं। वस्तुतः नारी के निर्विकार रूप-वर्णन की शैली छायावादी युग की विशेष देन है। इसी प्रकार काम, लज्जा आदि अमूर्त भावों का जो मूर्त विधान किया है, उससे छायावाद शिल्प का वैशिष्ट्य सिद्ध होता है।

शिल्प को समृद्ध करने के उपकरणों में भाषा का विशिष्ट स्थान है। भावाभिव्यंजना के लिये सबसे बड़ा माध्यम भाषा है। छायावादी युग में खड़ी बोली की भाषा जितनी अधिक परिष्कृत, परिमार्जित और मधुसिंचित बनी है, उतनी किसी अन्य युग में नहीं। परन्तु यह विचित्र विडम्बना है कि छायावादी युग की प्रतिनिधि-रचना कामायनी को दोष-निरूपण करते समय सर्वप्रथम उसकी भाषा की दुरूहता को लेकर ही उस पर आक्षेप किया जाता है। यह आक्षेप निराधार नहीं है। वास्तव में यह दुरूहता और क्लिष्टता कामायनी में प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के कारण है। कामायनी का प्रतिपाद्य अत्यन्त गहन और सूक्ष्म है। उसकी अभिव्यंजना के लिए कवि ने दर्शन, मनोविज्ञान और संस्कृति के पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया

है। उनके अर्थों की एक दीर्घ परम्परा है। यह परम्परा वेदों से लेकर शैवागमों तक और आदिम युग से लेकर आधुनिक मनोविज्ञान तक, विस्तृत है। इन शब्दों में युग-परम्परागत अर्थों के अनेक सूत्र गूँथे हुए हैं। इसलिये जब तक ये शब्द सामान्य पाठक के लिये बोधगम्य नहीं होते, तब तक रसास्वादन की प्रक्रिया में बाधक बने रहते हैं। निस्संदेह अभिव्यक्ति में भाषा का अस्पष्ट और असमर्थ रूप कामायनी के शिल्प को शिथिल कर देता है किन्तु अभिव्यक्ति के ऐसे स्थल गणना में बहुत कम हैं। इसके विपरीत कामायनी की भाषा में लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, वक्रता, विच्छिति आदि विशेषताओं ने उसके कलेवर को अतिशय कोमल और सरस बना दिया।

कामायनी के शिल्प को सर्वाधिक सम्पन्न करने वाला तत्त्व उसका प्रतीक-विधान है। प्रतीक-विधान छायावाद की प्रमुख विशेषता है और कामायनी में प्रतीकात्मकता आद्योपान्त व्याप्त है। उसकी समग्र अभिव्यक्ति प्रतीकों के माध्यम से हुई है। उसके कथानक, पात्र, दृश्य, संवाद, शब्द, प्रतिपाद्य आदि तत्त्व प्रतीकात्मक हैं। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण कामायनी को प्रतीकात्मक महाकाव्य कहा जाता है। प्रतीकात्मक शब्दों के प्रसंगानुसार विन्यास इस काव्य में सरसता, सजीवता और मौलिकता का जो सुन्दर समन्वय हुआ है, उससे यह कृति गरिमा-मंडित हो गई है। कामायनी में प्रयुक्त उषा-ज्योत्स्ना, प्रभाव-प्रदोष, नक्षत्र-तारक, विधु-यामिनी, कली-मधुप, कमल-मधुकरी आदि शब्द जीवन के विविध अंगों और मन के संवेगों के प्रतीक हैं। मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषणीयता के लिये कामायनीकार की प्रतीक-योजना अत्यन्त सुन्दर और प्रशस्त है। सम्भवतः यही कारण है कि कामायनी का मूल्यांकन छायावाद युग की श्रेष्ठ उपलब्धि रूप में किया जाता है।

वर्तमान युग के संदर्भों में कामायनी की प्रासंगिकता

वर्तमान युग के विराट् फलक पर असंख्य प्रश्न-चिह्न निरन्तर अंकित होते जा रहे हैं। विज्ञापन-पटल पर दौड़ती हुई बिजली के समान काँपते प्रश्न-चिह्न समग्र जीवन को व्याकुल और अस्थिर बनाते जा रहे हैं। आज युग के सामने जितनी समस्याएँ उठती जा रही हैं, उनकी अपेक्षा समाधान बहुत कम हैं, अथवा कुछ भी नहीं है। यहाँ प्रश्न यह नहीं कि समस्याएँ अधिक हैं और समाधान कम। किन्तु विचारणीय यह है कि जीवन के विविध संदर्भों में उनकी प्रासंगिकता कितनी है? समय की चिरन्तनता यह सिद्ध करती है कि अधिकाधिक समस्याएँ जीवन के विकास की प्रतीक हैं और जीवन का विकासमान रूप ही उनका समाधान है। परन्तु इन समस्याओं को चुनौती के रूप में स्वीकार न करके आधुनिक मानव उनसे जिस प्रकार विमुख होता जा रहा है, उससे जीवन में अनेक विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ उत्पन्न होती जा रही हैं। इन विसंगतियों के कारण ही मनुष्य वर्तमान युग के संदर्भों से कटता जा रहा है। जीवन मूल्यों और सम्बन्धों से विच्छिन्न वर्तमान युग में कामायनी की प्रासंगिकता को रेखांकित करना मानव इतिहास के चिरन्तन सत्य का ही उद्घाटन करना है।

अतीत के प्रति अनुराग

कवि-शब्द का चिरन्तन अर्थ है—क्रान्तदर्शी। इस अर्थ की सर्वाधिक चरितार्थता महाकाव्य के कवि पर होती है। महाकाव्य का रचयिता मन्त्रद्रष्टा ऋषि के समान त्रिकालदर्शी होता है। जीवन की समग्रता का

चित्रांकन करने वाला महाकाव्य किसी एक युग की सीमाओं में आबद्ध नहीं होता। महाकाव्य के चित्रपट पर भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों कालों की दृश्यावली प्रदर्शित होती है। महाकवि अपने ही युग की समस्याओं में उलझे हुए मनुष्य का चित्रण नहीं करता, अपितु वह ऐसे मानव की व्याख्या करता है, जो शाश्वत और सार्वकालिक है। कामायनी में जिस युग पुरुष की अभिव्यक्ति हुई है, वह ऐसा ही सर्वयुगीन मानव है। मनुष्य चाहे किसी भी युग का क्यों न हो, पर उसके स्वभाव की एक विशेषता यह है कि वह अपने अतीत को वर्तमान की अपेक्षा अधिक मधुर और आकर्षक समझता है। इसका कारण बड़ा सरल है। प्रायः मनुष्य वर्तमान जीवन के कष्टों की तुलना में विगत दुःख की तीव्रता को भूल जाता है। अतीत और वर्तमान की स्थितियों की तुलना करने वाला व्यक्ति चिन्ता और व्यथा से विकल हो उठता है। मानव की यह मनोवृत्ति कामायनी के प्रमुख पात्र मनु और श्रद्धा में अभिव्यक्त है—

मनु— चिन्ता करता हूँ मैं जितनी—

उस अतीत की, उस सुख की;

उतनी ही अनन्त में बनती

जाती रेखाएँ दुःख की।

श्रद्धा— अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ

जब निस्सबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी घड़ियाँ

वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,

छिपा कहीं, तब कैसे सुलझे उलझी सुख-दुःख की लड़ियाँ।

इस सन्दर्भ में काम की प्रतिध्वनि अत्यन्त सटीक और प्रासंगिक प्रतीत होती हैं—

रोकर बीते सब वर्तमान क्षण, सुन्दर सपना हो अतीत।

अहंमन्यता

अहंमन्यता व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति है। सामाजिकता को सबसे अधिक खतरा व्यक्ति के अहंकार से है। यह प्रवृत्ति व्यक्ति को मानवता की सामान्य भूमि से हटाकर विषमता एवं विसंगति की ओर उन्मुख कर देती है। आधुनिक मानव में जो अन्तर्विरोध तत्त्व लक्षित हो रहे हैं, उनके मूल में अहंभाव अन्तर्विहीन है। आज मानव समाज में विघटन और बिखराव की जो वेगपूर्ण प्रक्रिया चल रही है उसका कारण भी मनुष्य का अहंकार है। इससे व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों से पृथक् होने की भावना प्रबल हो जाती है और यह अहंभाव ही उसके व्यक्तित्व का नियामक बन जाता है। ऐसा व्यक्ति जीवन के प्रत्येक पग पर अपने आपको श्रेष्ठ प्रतिपादित करता है और वैयक्तिक सफलता के लिये प्रत्येक वस्तु को अपने अधीन करने की आकांक्षा रखता है। अहं का परिष्कृत रूप मनुष्य के विकास में सहायक होता है। कामायनी में प्रलय के उपरान्त मनु का अहं 'मैं हूँ' विकास के मार्ग को प्रशस्त कर देता है। किन्तु यही भाव धीरे-धीरे जब असामान्य और उद्विक्त हो जाता है, तब यह मनुष्यों को असामाजिक एवं अविवेकी बना देता है। अहंवादी व्यक्ति संसार की समस्त सुख-सुविधाओं का उपयोग अकेला ही कर लेना चाहता है। मनुष्य की इस अहंवादी प्रवृत्ति से विश्व की अर्थव्यवस्था बिगड़ती जा रही है। इसी से मानव-समाज विषमता की रेखाओं

में विभाजित है। समाज का उच्चवर्गीय, मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय जीवन इसका उदाहरण है। आधुनिक युग के अहंवादी पूँजीवादी की मनोवृत्ति मनु के इस कथन से अवगम्य है—

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान;
सभी मेरी हैं सभी करती रहे प्रतिपादन।
यही तो, मैं ज्वलित बवड़-वह्नि नित्य अशान्त;
सिन्धु लहरो-सा करें शीतल मुझे सब शान्त।

भोगपरक अहं सत्तापरक की अपेक्षा भयंकर सिद्ध होता है। अहंवादी राष्ट्र अनेक बार विश्व के विध्वंस का कारण बन चुके हैं। इतिहास साक्षी है कि शक्ति के उन्माद में अनेक राष्ट्रों ने विनाशलीला का ताण्डव करके मानव समाज को दयनीय बना दिया है। प्रसाद जी अहं के अतिवाद के कट्टर विरोधी हैं। यही कारण है कि उन्होंने कामायनी का आरम्भ अहं के चरमोत्कृष्ट बिन्दु से पतित देव समाज के दशावलोकन से किया है। देवताओं के विलास और विजयोल्लास का दम्भ ही उनके विनाश का प्रधान कारण है।

मणि दीपों के अन्धकारमय
अरे निराशपूर्ण भविष्य।
देस दम्भ के महा मेघ में
सब कुछ ही बन गया हविष्य।
अरे अमरता के चमकीले
पुतली! तेरे वे जयनाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बनकर मानो दीन विषाद!

कामायनी के प्रलय-विध्वंस की घटना अहंवादी राष्ट्रों के लिये एक चेतावनी है। जब तक व्यक्ति का अहं समाज के साथ और समाज का अहं विश्व के साथ समन्वित नहीं होगा, तब तक मानवीय संकटों की संभावना बनी रहेगी। प्रसाद जी ने कामायनी में अहं के परिमार्जित रूप का निर्देश किया है। मनु का अहं समष्टिगत होकर अत्यन्त परिष्कृत एवं उदात्त बन जाता है—

हम अन्य और कुटुम्बी
हम केवल एक हमी हैं;
तुम सब मेरे अवयव हो
जिसमें कुछ नहीं कमी है।

अनिश्चयात्मक स्थिति

व्यक्ति की अनिश्चयात्मक स्थिति आज के बदलते हुए सन्दर्भों का मूल कारण है। यह स्थिति उसके प्रत्येक कार्य-व्यापार के सामने संशय की अवस्था निर्मित कर देती है। परिणामस्वरूप उसमें सतत् संघर्ष चल रहा है। वर्तमान युग का समय, जीवन-बोध इसी अनिश्चित दशा एवं जटिलता से परिपूर्ण है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का जीवन अस्थिर और कम्पित प्रश्नचिह्न बना हुआ है। सामाजिक सन्दर्भों में

मनुष्य कहीं भी सन्तुष्ट दृष्टिगत नहीं होता। उसका असन्तोष कहीं उसे पलायनवादी बनाता है तो कहीं पर विद्रोही। दाम्पत्य जीवन के सम्बन्धों में आज जो तनाव, घुटन कटुता आदि भाव लक्षित हैं वे कामायनी के मनु में विद्यमान हैं। वे श्रद्धा के गृह-विधान में सन्तुष्ट नहीं होते और उसकी तात्कालिक संवेदनाओं के साथ अपने को न जोड़कर भाग जाते हैं। किसी को जीवन-संगिनी एवं एकमात्र सहयात्री कर लेने के बाद उसे छोड़कर चले जाने वाले पुरुष की संख्या प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। कामायनी के मनु भी इनसे भिन्न नहीं हैं। वे स्वयं यह कहते हुए चले जाते हैं—

लो चला आज मैं छोड़ यही
संचित संवेदन भार-पुज;
मुझको काँटे ही मिले धन्य!
हो सफल तुम्हें ही कुसुम-कुंज।

व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की अस्थिरता वर्तमान युग में शासन-सत्ता की विकृति और विद्वत्ता बनती जा रही है। विश्व के अनेक स्वतन्त्र देशों में आये दिन सैनिक विद्रोह होने जा रहे हैं और शासन-सत्ता बदलती जा रही है। निरन्तर बढ़ते हुए भौतिक सुख-साधन एवं वैज्ञानिक आविष्कार भी राज्यों को स्थिर और सन्तुलित बनाये रखने में असमर्थ हैं। इस तथ्य की प्रासंगिकता कामायनी के उस सन्दर्भ में मिलती है, जिससे वैज्ञानिक एवं भौतिक साधनों से इस सम्पन्न सारस्वत देश की जनता मनु के शासनतन्त्र के विरुद्ध कर उठती है। इड़ा देखती है—

देखा उसने, जनता व्याकुल राजद्वार कर रुद्ध रही,
प्रहरी के दिल भी झुक आये उसके भाव विशुद्ध नहीं;
नियमन एक झुकाव दबा सा, टूटे या उपर उठ जाये।
प्रजा आज कुछ और सोचती अब तक जो अविरुद्ध रही।

यान्त्रिकता

वर्तमान युग वैज्ञानिक समृद्धि का युग है। अत्यधिक आविष्कारों तथा नवीन उपलब्धियों के कारण वैज्ञानिक विकास की सम्भावनाएँ अधिक बढ़ती जा रही हैं। वैज्ञानिक सम्पन्नता की झलक कामायनी के सारस्वत प्रदेश से मिलती है। उजड़ा हुआ सारस्वत नगर वैज्ञानिक यन्त्रों के निर्माण और प्रयोगों से पुनः समृद्ध बन जाता है। वहाँ के जीवन में सुख का संचार होने लगता है। विज्ञानमयी अभिलाषा मनुष्य को पंख लगाकर उपलब्धि के आकाश में उड़ा देती है। जीवन में असीम आशाएँ उमड़ने लग जाती हैं। सुख-समृद्धि की अवस्था में प्रायः अपने अधिकारों की इच्छा प्रबल हो उठती है। मोह और माया की स्थिति स्वयं फैल जाती है। सामूहिक चेतना वर्गों और दलों में विभक्त हो जाती है—इस दशा के परिणाम की कटुता किसी भी बुद्धिजीवी के लिये अज्ञात नहीं है। आधुनिकता के सन्दर्भ में उपर्युक्त दशा का चित्रण अवलोकनीय है—

वह विज्ञानमयी अभिलाषा पंख लगाकर उड़ने की,
जीवन की असीम आशाएँ, कभी न नीचे मुड़ने की;
अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया।
वर्गों की खाई बन फैली, कभी नहीं जो जुड़ने की।

सामाजिक संघर्ष के इतिहास में यह तथ्य अंकित है कि विज्ञान द्वारा आविष्कृत भारी और विशालकाय यन्त्रों की सहायता से मानवीय कर्मशक्ति का नियमन तथा अपहरण हुआ है। विनाशकारी यन्त्रों की नीति के विरुद्ध भारत के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने बहुत पहले आवाज उठाई थी। वर्तमान युग में विज्ञान ने मनुष्य को सामाजिक कल्याण एवं योगक्षेम से हटाकर लोभी, अर्थ-संग्रही और भोग विलासी बना दिया है। विनाश की अन्धी नीति के विरुद्ध संघर्षरत मानवों की पुकार कामायनी में सुनाई पड़ती है।

तुमने योगक्षेम से अधिक संयत वाला,
लोभ सिखाकर इस विचार-संकट में डाला,
हम संवेदनशील हो भले यही मिला सुख,
कष्ट समझने लगे बनाकर निज कृत्रिम दुःख!
प्रकृति शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी!
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।

उन्मुक्त वासना

साहित्य के नैसर्गिक विकास के प्रबन्ध में यह कहा जाता है कि यदि कोई मानव समाज प्रकृतिसुलभ सुख-साधनों से सम्पन्न होता है तो उसका साहित्य दो वैकल्पिक रूपों में विभक्त होता है—या तो वह ईश्वर-भक्ति परक होता है या भोगविलास परक। आधुनिक विज्ञान की सम्पन्नता ने मनुष्य को आस्थावान् कम और विलासी अधिक बना दिया। कामायनी के उजड़े हुए सारस्वत देश को बसाने के उपरान्त मनु उन्मुक्त विलास की ओर उन्मुख होते हैं। वे इड़ा से कहते हैं—

नहीं अभी मैं रिक्त रहा—

देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।

सुरापान आधुनिक युग का बढ़ता हुआ दुर्व्यसन है। इससे वासना उद्विक्त होकर मनुष्य को पशु बना देती है। सुरापान में प्रमत्त होकर मनु सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर बैठते हैं। वे इड़ा को अपनी भोग्य वस्तु मानकर अपने बहुपाश में आबद्ध कर लेते हैं। इस दृश्य की साक्षिणी जनता विक्षुब्ध होकर विद्रोह कर उठती है। सारस्वत जनता का आक्रोश इन शब्दों में प्रस्फुटित है—

और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है।

इसलिए तू हम सबके बल यहाँ जिया है?

आज बन्दिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है?

ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहीं है?

वासनालीन व्यक्ति का निस्तार नहीं है। ऐसे समाज और राष्ट्रों का भी निस्तार नहीं है, जो भोगविलास की नींव पर स्थित है। यौन-सम्बन्धों और रति-क्रीड़ाओं में व्यस्त समाज का पतन एवं विनाश अवश्यम्भावी है। पश्चिमी समाज के अन्धानुकरण पर भारतीय समाज में उन्मुक्त वासना की प्रवृत्ति जिस वेग से बढ़ती जा रही है, उससे भावी मूल्य-संकटों का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। कामायनी में वासनाग्रस्त देवजाति पर जो महासंकट हुआ, उसकी प्रासंगिकता वर्तमान युग के सन्दर्भों में भी देखी जा सकती है। कामायनी की ये पंक्तियाँ आधुनिक समाज के लिये बहुत बड़ी चेतावनी हैं—

भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह,
प्रलय-जलधि में संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह।

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य

आधुनिक युग में व्यक्ति स्वातन्त्र्य पर अधिक बल दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वातन्त्र्य व्यक्ति समाज और देश के सर्वांगीण विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है परन्तु उसमें पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्व का बोध होना अनिवार्य है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य में सन्तुलन बनाये रखना जीवन की पहली उपलब्धि है। परिवार और समाज में ममता एवं बन्धुत्व की भावना व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की संतुलित शक्ति से ही उत्पन्न होती है। इससे व्यक्ति की, परिवार की और समाज की गरिमा बनी रहती है। इसके विपरीत व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर उच्छृंखल होकर पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्व बोध का अभाव गम्भीर चिन्ता का विषय बनता जा रहा है। जो व्यक्ति किसी प्रकार का भी दायित्व न निभाकर अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता को ही गुनगनाता रहता है, यह कामायनी के मनु से भिन्न नहीं हो सकता—

तुम अपने सुख से सुखी रहो।

मुझ को सुख पाने दो स्वतन्त्र;

मन की परायणता महा दुःख

मैं यही जपूँगा महामन्त्र।

वैयक्तिक स्वतन्त्रता सामाजिक सन्दर्भों में यहीं तक ग्राह्य है जहाँ परम्परागत मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं होता और मानव-मूल्यों की उपेक्षा नहीं होती। यदि ऐसा न हो तो व्यक्ति और समाज के मध्य अराजकता एवं द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न हो जाय, जिसमें नैतिक मूल्य कभी भी प्रतिष्ठित नहीं हो पायेंगे। आज भारतीय समाज जिन समस्याओं से जूझ रहा है उनसे सर्वाधिक विकट समस्या है—नैतिक अवमूल्यन की। समय के प्रवाह में सब प्रकार की क्षतियों की पूर्ति सम्भव है परन्तु नैतिकता की क्षति स्यात् ही पूर्ण हो पायेगी। पारस्परिक भेदभाव, जाति-प्रथा, दोषारोपण, अन्याय, असत्यता, कटुता, विषमता आदि समाज को खोखला और पतनोन्मुख बनाते हैं। आधुनिक युग में मानवीय संकटों का यथार्थ-बोध कराने वाली कामायनी की निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

यह अभिनव मानव प्रजा सृष्टि

द्वयता में लगी निरन्तर ही वर्गों की करती रहे दृष्टि
अनजान समस्याएँ गढ़ती रचती ही अपनी ही विनष्टि
कोलाहल कलह अनन्त चले, एकता नष्ट हो, बढ़े भेद
अभिलषित वस्तु तो दूर रहे, हो मिले अनिच्छित दुःखद खेद
हृदयों का हो आवरण सदा अपने वक्षस्थल की जड़ता
पहचान सकेंगे नहीं परस्पर चले विश्व गिरत-पड़ता

सब कुछ भी हो यदि पास भरा पर दूर रहेगी सदा तुष्टि
दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि।

निराशा

दायित्व की अस्वीकृति व्यक्ति की भ्रान्ति है। विभ्रान्त व्यक्ति अपने चारों ओर विषादमय और नैराश्यपूर्ण परिवेश की सृष्टि करता है। यह निष्क्रिय बनकर अपने जीवन के मूल्य का हास करता है। ऐसा व्यक्ति अन्धकार के कुहासे में इस प्रकार घिर जाता है कि इसके लिये न आगे जाने की दिशा दिखाई देती है और न पीछे लौटने की सम्भावना रह जाती है। कामायनी के मनु की दशा भी इस प्रकार की होती है। उनका जीवन निराशा की गहन गुफा में से झंझाप्रवाह के समान विक्षुब्ध होकर निकलता है और भय एवं कटुता का वितरण करता हुआ संसार को दीन बना देता है।

किस गहन गुहा से अति अधीर

झंझा प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्धा महा समीर
ले साथ विकल परमाणु पुंज नभ; अनिल, अनल, क्षितिज और नीर
भयभीत सभी को भय देता, भय की उपासना में विलीन
प्राणी कटुता को बाँट रहा, जगती को करता अधिक दीन।

पारिवारिक एवं सामाजिक सन्दर्भों से कटा हुआ व्यक्ति कही भी सुख शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसे व्यक्ति की घोर निराशा, निष्क्रियता और व्याकुलता समाज के समग्र वातावरण में कुहासा एवं धुंध की सृष्टि कर देती है, जिसमें अनेक प्राणी अपनी चेतना की ज्योति खो देते हैं। कामायनी की निम्नांकित पंक्तियों में तनाव, कुण्ठा एवं विसंगतियों से ग्रस्त जीवन का यथार्थ चित्रण मिलता है—

जीवन-निशीथ के अन्धकार

तू नील तुहिन जल-निधि बनकर फैला है कितना बार पार
कितनी चेतना की किरणें हैं डूब रही ये निर्विकार।
कितना मादकतम्, निखिल भुवन रहा भूमिका में अभंग।

सामाजिक दायित्व

कोई भी व्यक्ति निराशा के अन्धकार में घुटता हुआ अपना विकास नहीं कर सकता। व्यक्ति के विकास के बिना सामाजिक विकास की कल्पना निराधार है। समाज की स्वीकृति व्यक्ति की विवशता नहीं है और व्यक्ति की स्वीकृति भी समाज की विवशता नहीं है। व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। वे दोनों परस्पर स्वातन्त्र्य एवं दायित्व का निर्वाह करते हुए विकसित होते रहते हैं। मनु व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के मोह में अपनी दायित्वपूर्ण भूमिका से हट जाते हैं। इस सन्दर्भ में श्रद्धा, मनु के भ्रम को दूर करती हुई कहती है—

अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा?

वस्तुतः सामाजिक दायित्व निभाने और उसकी सेवा करने में ही व्यक्ति का विकास एवं स्वातन्त्र्य-भाव सन्निहित हैं। व्यक्ति सामाजिक परिवेश में अपनी संकीर्णता का परित्याग करके भावन-मूल्यों की प्रतिष्ठा करने में अग्रसर होता है। प्रसाद जी का दृष्टिकोण व्यक्ति और समाज के समन्वय में नई चेतना को विकसित करने की ओर रहा है। यही कारण है कि किसी समय सामाजिक दायित्वों से विमुख रहने वाले मनु से अन्त में यह अभिव्यक्त करवाते हैं—

**सब की सेवा न पराई
वह अपनी सुख संसृति है?**

आत्मरति

स्वार्थपरायणता आधुनिक युग का अन्यतम अभिशाप है। स्वार्थ की अन्धी प्रेरणा से मनुष्य अत्यन्त संकीर्ण, निर्मम और कठोर होता जा रहा है। स्नेह, दया, क्षमा, उदारता आदि मानवीय गुणों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। सुख-साधनों की संचय-प्रवृत्ति ने आधुनिक युग में विगत युगों के सभी प्रतिमानों को तोड़ दिया है। आज लोगों में भोग और विलास की सामग्री जुटाने की तीव्रतम होड़ लगी हुई है। सामाजिक परिवेश को भुलाकर लोग अपरिमित सुवर्ण, बहुमूल्य नग और करोड़ों की मुद्रा संचित करते जा रहे हैं, जबकि चारों ओर बहुसंख्यक व्यक्ति अन्न, वस्त्र आदि आवश्यक वस्तुओं से भी वंचित हैं और अनेक अभावों से ग्रस्त हैं। आधुनिक युग के धन-कुबेरों के सुख-साधनों के संचय की तुलना देव जाति के सुख-संग्रह के साथ की जा सकती है—

**सुख, केवल सुख का संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना
छाया-पथ में नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।**

वर्तमान युग के सन्दर्भ में यह प्रश्न बड़ी गम्भीरता से विचारणीय है कि धन-संचय एवं साधन सम्पन्नता के लिये भ्रष्टाचार जैसा भयंकर पाप समाज के उज्ज्वल भविष्य के लिये किया जा रहा है अथवा सर्वनाश के लिये? इसका उत्तर कामायनी में निहित है—

**वे सब डूबे, डूबा उनका
विभव, बन गया पारावार;
उमड़ रहा था देव सुखों पर
दुःख जलधि का नाद अपार।**

देवजाति के विध्वंस का कारण चाहे कुछ भी हो, आधुनिक युग के लिये एक चेतावनी है। मनुष्य की स्वार्थपरायणता उसे कहाँ ले जायेगी और समाज को कितना खोखला बनाकर छोड़ देगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है। व्यक्ति की अतिशय आत्मरति समाज और राष्ट्र के विकास में अत्यन्त बाधक है। व्यक्ति का निरा स्वार्थमय व्यवहार समाज का ही उत्पीड़न है। मानवता का यह उत्पीड़न मानव के लिए मंगलदायक नहीं होता। इस संदर्भ में श्रद्धा मनु को सचेत करती हुई कहती है—

यह एकांत स्वार्थ भीषण है।

अपना नाश करेगा।

वैज्ञानिकों ने पंचमहाभूतों के अतिरिक्त सूर्यचन्द्र सम्बन्धी कतिपय रहस्यों का भी पता लगा लिया है परन्तु मानव-जीवन सम्बन्धी अनेक रहस्यों का उद्घाटन करने में वैज्ञानिक भी असफल सिद्ध हुए हैं। जीवन के रहस्य परमार्थ से ही खुल सकते हैं—स्वार्थ से नहीं। जीवन के मंगलमय रहस्य स्वार्थों से संवृत होकर गहनतम हो जाते हैं। यन्त्रों के माध्यम से जीवन के सूक्ष्म रहस्य को समझने की चेष्टा करने वाले वैज्ञानिकों के लिये कामायनी की यह पंक्ति विचारणीय है—

अपने स्वार्थों से आवृत्त हो मंगल रहस्य सकुचे सभीत।

व्यवसायात्मिकता

आधुनिक युग व्यवसाय एवं व्यापार की प्रगति की दृष्टि से उत्कर्ष की सीमाओं को लाँघ चुका है और उसके सामने सम्भावनाओं के विविध आयाम विस्तृत होते जा रहे हैं। प्रायः सभी व्यक्तियों में व्यवसायात्मक बुद्धि अधिक विकसित हो रही है। लेन-देन के विषय में आज का मानव अधिक सचेत है। सभ्यता के आदि युग में केवल पदार्थों का विनिमय होता था, बाद में मुद्राओं का और आजकल प्राणों के विनिमय का व्यापार भी चलता है, इस व्यापार में मनुष्य दूसरों को यह कहता जा रहा है कि 'देते रहो देते रहो' परन्तु जब दूसरों के लेने की बारी आती है, तब उसके अधिकार को नकारता जा रहा है। ऐसी दशा में मनुष्य की प्रत्याशा कभी पूरी नहीं होती। प्रसाद जी ने आधुनिक मानव की इस मनोवृत्ति का बड़ा सफलतापूर्वक चित्रण किया है—

**विनिमय प्राणी का यह कितना भय-सकुल व्यापार अरे!
देना हो जितना दे दे तू, लेना। कोई यह न करे!
परिवर्तन की तुच्छ प्रतीक्षा पूरी न हो सकती,
संध्या रवि देकर पाती है इधर-उधर उड्डगन बिखरे।**

अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद का प्रश्न आधुनिक युग के सामने अधिक उभर आया है। मनुष्य के अस्तित्व को संकट-ग्रस्त बतलाकर चिन्तन-जगत में नये-नये व्यायामों की सृष्टि की जा रही है। इस युग में मनुष्य को सर्वाधिक आरक्षित प्राणी माना जा रहा है। यह प्रायः विवशता एवं असहायता की स्थिति में जीवन-यापन कर रहा है—उसके उत्पीड़न और दुर्भाग्य की कहानी बहुत लम्बी है। उसकी दुर्दशा के लिये समाज और राष्ट्र उत्तरदायी हैं। परम्परागत भावों ने मनुष्य को अनेक बन्धनों में बाँध दिया है और वह स्वतन्त्र नहीं है इत्यादि विचार पश्चिमी बुद्धिजीवियों की देन हैं। सीरेन किर्कोगाड, अल्बेयर कामू, ज्याँ पाल सार्त्र आदि इन विचारों के प्रवर्तक और उन्नायक माने जाते हैं। वास्तव में भारतीय चिन्तन की धारा में मनुष्य के अस्तित्व का प्रश्न उतना ही पुराना है, जितना इस सृष्टि का उद्भव। कामायनी के मनु इसके निदर्शन है। वे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिये ही जीर्ण-शीर्ण नौका की सहायता से हिमगिरि पर पहुँच जाते हैं। परन्तु आधुनिक युग का अस्तित्ववादी चिन्तन प्राचीन अस्तित्व-बोध से भिन्न है। आधुनिक अस्तित्ववाद को एक

क्रान्तिवादी कृत संकल्प के रूप में माना जाता है। इसकी दृष्टि में मनुष्य की स्वतंत्रता दूसरों से नियन्त्रित है। उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। मनुष्य की चेतना को स्वतन्त्रता के प्रति जाग्रत करना अस्तित्ववाद का मूलभूत आधार है। आधुनिक अस्तित्ववादी चिन्तन के अनुसार जीवन क्षणभंगुर है और उस जीवन की कोई अर्थवत्ता नहीं है, जो प्रत्येक क्षण को उन्मुक्त भोग से अंकित नहीं करता। इससे स्पष्ट होता है कि अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता मनुष्य को समाज से पृथक् कर देती है और उसे जीवन की क्षणभंगुरता का बोध कराकर भोग-विलास की ओर अग्रसर करती है। यदि अस्तित्ववाद की यही कसौटी है तो कहना पड़ेगा कि कामायनी के मनु भी इस पर खरे उतरते हैं। उनके जीवन में भी ऐसे क्षण आते हैं, जो केवल जीने और भोगने के लिये उन्हें अनुप्रमाणित करते हैं। उदाहरण के लिये निम्न पंक्तियाँ अवलोकनीय हैं—

तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे! वह भी कुछ है;
दो दिन के इस जीवन का तो
वही चरम सब कुछ है।

× × × ×

महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतना की तुष्टि वही है फिर सब सपना।

परन्तु मन के उपर्युक्त कथनों से पश्चिम के अस्तित्ववाद की स्थापना करना प्रसाद जी को अभिप्रेत नहीं है। भारतीय चिन्तन में ईश्वर का अस्तित्व सर्वप्रथम और सर्वोपरि है। पश्चिम के अस्तित्ववादी दर्शन में ईश्वर तथा आध्यात्मिक तत्त्वों का बहिष्कार है। उसमें समाज का महत्त्व भी स्वीकृत नहीं है। भारतीय हिन्दू ईश्वरीय अस्तित्व में विश्वास करके सम्पूर्ण सृष्टि में उसकी व्यापक सत्ता को स्वीकार करता है। मनुष्य का अस्तित्व प्रत्यक्ष है, अतः उसी को प्रामाणिक मानकर ईश्वर के रहस्यमय अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता। पहले की अपेक्षा पाश्चात्य देशों में आजकल ईश्वर विश्वासी; आस्थावान एवं अध्यात्मवादी लोग अधिक संख्या में हैं। वे लोग भारत की आध्यात्मिकता से प्रभावित होते जा रहे हैं, और यहाँ के कतिपय बुद्धिजीवी काम एवं सार्त्र को अपना गुरु मानते जा रहे हैं। भारतीय अस्तित्ववाद दर्शन का पहला सूत्र है 'तत्सत्' अर्थात् 'वह' है। सृष्टि का अणु-अणु और कण-कण उसी की सत्ता को स्वीकारता है और इसे आत्मसात् करने का प्रयास करता है। कामायनी की निम्न पंक्तियाँ आधुनिक मानव को आस्थावान बनाने में पूर्णतः सक्षम हैं—

सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ?

× × × ×

हे विराट! हे विश्वदेव; तुम
कुछ हो ऐसा होता भान—
मन्द गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

वस्तुतः पश्चिम का अस्तित्ववाद एक ऐसा प्रतिक्रियावादी दर्शन है, जो ईश्वर और मानव-समाज को स्वीकार न करके केवल मनुष्य को महत्त्व देता है। परिणामस्वरूप आज विघटन, अनास्था, कुण्ठा, भ्रांति एवं विसंगतियाँ मनुष्य को नैतिक विध्वंस के कगार पर पहुँचा रही हैं।

मानवतावाद

मानवतावाद आधुनिक चिन्तन का बहुचर्चित विषय है। अस्तित्ववाद के प्रवर्तकों ने ही आधुनिकता के संदर्भ में मानवतावाद को उभारा है। एक प्रकार से अस्तित्ववाद और मानवतावाद दोनों एक ही तत्त्व के दो अविभाज्य अंग हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक मूल की रक्षा करने में प्रवृत्त है और दूसरा उसका मूल्य निर्धारण करने में। दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि एक में जीने के लिये संघर्ष है और दूसरे में मूल्यों का अन्वेषण है। मानवतावाद की विवेचना करने वाले पश्चिमी विद्वानों का अन्तिम निष्कर्ष यह है कि मनुष्य की सत्ता सर्वोपरि है, उसकी महत्ता निर्विवाद है और अपने में सर्वोच्च मूल्य है। यह चिन्तन इस शताब्दी का है, किन्तु भारत में आज से लगभग पच्चीस शताब्दी पूर्व महाभारतकार ने यह कहा था—‘न मानुषात् श्रेष्ठतर हि किञ्चित्’ (इस संसार में मनुष्य से बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है) वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों में मानव-जीवन के महत्त्वपूर्ण मूल्यों—धर्म, अर्थ, काम मोक्ष को आधार बनाकर अनेक अभिव्यक्तियाँ प्रस्तुत की गई हैं। परन्तु कतिपय आधुनिकतावादी आलोचक भारत के मानवतावादी दृष्टिकोण को पुरातन और परम्परागत मानकर उसकी अवहेलना करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि आधुनिकता एक गतिशील प्रक्रिया है। आज की आधुनिकता कल के लिये ऐतिहासिक बन जाती है। वास्तव में आधुनिकता एक बौद्धिक स्थिति है, जो समय की परिस्थितियों और समाज की समस्याओं से जुड़ी रहती है। अतः मानवतावादी चिन्तन न तो पुराना होता है और न ही आधुनिक। वह अपने आप में सत्य का शाश्वत प्रवाह है। मानव की अन्तरात्मा सत्य के इसी प्रवाह में निष्णात होकर पवित्र बन जाती है। कामायनी में मानव मूल्यों की विवेचना शाश्वत जीवन के सन्दर्भों में हुई है। आधुनिक युग की यह रचना चेतना के सुन्दर इतिहास का प्रणयन करके मानवीय संवेदनाओं की व्याख्या प्रस्तुत करती है। ऐसी कृति किसी एक युग की घटनाओं और समस्याओं तक ही सीमित नहीं रहती। यह तथ्य उसी के शब्दों में अभिव्यक्त है—

चेतना का सुन्दर इतिहास

अखिल मानव भावों का सत्य;

विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य

अक्षरों से अंकित हो नित्य।

आधुनिक मनीषियों ने युद्ध एवं महायुद्धों के दुष्परिणामों से सम्भावित मानवीय संकट की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रत्येक युद्ध उपरान्त मानवता ही सर्वाधिक संकटग्रस्त विपन्न और विदीर्ण होती रही है। अणुशस्त्रों के सामने पुरुष का दयनीय बन जाना, उन्मत्त सैनिकों की बर्बरता से नारी का सतीत्वहीन होना एवं असंख्य व्यक्तियों का भूखे, नंगे और आश्रयहीन होकर भटकना मानवीय संकट का ही परिचायक है। ये युद्ध भी बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों स्तर पर होते हैं। कामायनी के निम्न पद्य से उक्त दोनों प्रकार के संकटों का बोध होता है—

विश्व विपुल आतंक त्रस्त है
अपने ताप विषम से;
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।

युद्ध के विषम ताप में और मनुष्य के अन्तर्दाह में मानवता सुरक्षित नहीं है। विश्व में जब तक भीषण शस्त्रों के निर्माण की होड़ लगी रहेगी, तब तक कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नहीं रहेगा। विषमता का विष जब तक फैलता रहेगा, तब तक सामाजिक मांगल्य सम्भव नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार मनुष्य का अन्तरंग जब तक छल-कपट से परिपूर्ण रहेगा, तब तक मानवमूल्यों की स्थापना नहीं हो सकेगी। इस भाव का संकेत निम्न पंक्तियों में मिलता है—

जगती तल का सारा क्रन्दन
यह विषमयी विषमता;
चुभने वाला अन्तरंग छल
अति दारुण निर्ममता।

आज की युगीन समस्याओं में विषमता ही सर्वाधिक विकट और गम्भीर समस्या है। विश्व के समस्त संकट और क्रन्दन के मूल में विषमता का अधिवास है। मनुष्य के हृदय में मनुष्य के प्रति समता, ममता, ओर स्नेह का अभाव होने से अविश्वास, भेद, विराग, वैषम्य आदि भाव उत्पन्न होते हैं। वात्सल्य और प्रेम की स्निग्ध छाया में पला हुआ मानव जब निर्मम हो जाता है, तब उसमें और पशु में अन्तर नहीं रह जाता। स्नेह के स्रोत के शुष्क होने पर मानव की निर्मलता ही मानवता के लिये ही अभिशाप बन जाती है। इस तथ्य के निरूपण में कामायनी का निम्न पद्य सटीक तथा सक्षम है—

यह विराग सम्बन्ध हृदय का
कैसी यह मानवता।
प्राणी की प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता।

जीवन के उत्कर्षशील सन्दर्भों में प्रगति और विकास को विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्रायः इन दोनों को आधार मानकर जीवन का मूल्यांकन भी किया जाता है। परन्तु जीवन की प्रगति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक एक व्यक्ति का सन्तोष अन्य के रोदन का कारण बना रहता है—

जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हैसता क्यों?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिवार सा कसता क्यों?

व्यक्ति के सर्वोच्च विकास एवं समाज-कल्याण के लिये समता और स्वतन्त्रता का अधिकार सभी को प्राप्त होना चाहिये। किन्तु जहाँ प्राणियों के मूलभूत अधिकारों का अपहरण होता है और उपभोग की अधिकाधिक सुविधा प्राप्ति के लिये संघर्ष चलता रहता है, वहीं मानवता की हत्या होती है और उसका मात्र शव बचा रहता है—

मनु! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत! बची क्या शवता।

मानवता की सार्थकता जीवन की विराट भूमि पर सौन्दर्य एवं गौरव की प्रतिष्ठा करने में निहित है। जीवन के सौन्दर्य और गौरव का आभास मानव की उदारता, सहृदयता, संवेदनशीलता, सेवापरायणता पारस्परिक स्नेहातिरेकता आदि उदात्त भावनाओं में मिलता है। उक्त भावना-संचालित मानवता की व्याख्या श्रद्धा की उक्तियों में प्रस्तुत है—

औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ;
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।

× × × ×

सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुःख छोड़ोगे;
इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुख मोड़ोगे।

मानवता का व्यापक एवं उज्ज्वल रूप है जो जीवन को मूल्यों की आस्था एवं सद्भावना के धरातल पर प्रतिष्ठित करता है, जो सकल भेदभावों को भुलाकर मनुष्य को दुःख-सुख के साक्षात्कार में तटस्थ तथा निर्विकार बना देता है, मानव को समरसतान्वित अस्मिता का बोध कराता हुआ विश्व के विशाल प्रांगण में प्रतिष्ठित करता है। प्रसाद जी ने इसी प्रकार की मानवता की कल्पना की है—

सब भेद-भाव भुलवाकर
दुःख-सुख की दृश्य बनाता;
मानव कह रे! 'यह मैं ही हूँ'
यह विश्व नीड़ बन जाता।

मानवता किसी विज्ञापन और प्रचार का फार्मूला नहीं है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा आराधनीय है। ऐसी मानवता राष्ट्रों की अंधी तथा संकीर्ण गलियों से निकलकर सार्वभौमिकता की उच्च भूमि पर खड़ी रहेगी, तभी वह विश्व-विजयिनी बनेगी। निःस्संदेह ऐसी मानवता की आस्था, नैतिकता, प्रेम, अखण्ड सत्य की किरणें युग-युगान्तर तक फूटती रहेंगी। प्रसाद जी ऐसी मानवता के ही पक्षपाती रहे हैं—

शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, जो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

नारी

यद्यपि मानवता के विराट एवं विविध आयामों के अन्तर्गत नारी के सामाजिक सम्बन्धों का समोवश सरलता से हो जाता है, तथापि आधुनिक सन्दर्भों में उसकी नवीन चेतना और गतिशीलता को रेखांकित करना प्रासंगिकता प्रतीत होता है। विश्व के प्रायः सभी सभ्य देशों में 'महिला वर्ष' मनाया जाता है। भारतवर्ष में भी इस समारोह को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। इससे स्त्री-पुरुष के नये सन्दर्भों के विकसित होने की संभावना की जा रही है और साथ ही समाज के सभी आयामों में आवश्यक परिवर्तन की भी कल्पना की जा रही है। सामाजिक सम्बन्धों में नारी-स्वातन्त्र्य एवं उसके अधिकारों को लेकर प्रचलित अभियान एक प्रकार से पुराना है, परन्तु 'महिला वर्ष' के समारोह ने उसे एक नया रूप और नया आयाम प्रदान किया है। आधुनिक नारी आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी स्वतंत्र रहकर पुरुष समाज के साथ अपने सम्बन्धों को पुनर्निर्धारित करना चाहती है। नारी की वैयक्तिक स्वतंत्रता एक बुनियादी चीज थी, जिसकी युगों से अपेक्षा की गई है। पुरुष की दासता और पशुता से नारी को मुक्त करने का तीव्र स्वर हिन्दी-साहित्य में वर्तमान शताब्दी के आरंभ से ही मुखरित हो उठा है। इससे पूर्व मुगल-साम्राज्य काल में नारी मात्र पुरुष के उपभोग की सामग्री बन गई थी, जिसे पुरुष जब चाहे, और जैसे चाहे अपनी वासना-तृप्ति की आग में झोंकता रहा। वर्तमान युग में भी उसकी दशा में विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होगा। आज की नारी को प्रगतिशीलता और आधुनिकता के नाम पर शृंगार-मण्डल की वस्तु समझकर उसका सामूहिक उपभोग किया जा रहा है। यही कारण है कि आज वह मुक्ति के लिए बुरी तरह छटपटा रही है, ताकि अपने स्वत्व की रक्षा कर सके।

आधुनिक नारी की विकट समस्या परम्परागत सांस्कृतिक मान्यताओं तथा मानव-मूल्यों के संकट का बोध कराती है। वर्तमान युग के महाकवि प्रसाद जी को भी इस महासंकट का बोध हुआ है और उन्होंने कामायनी के परिप्रेक्ष्य में नारी-समस्या के समाधान के लिए नये आयाम प्रस्तुत किए हैं। प्रसाद जी मूलतः शिव के परम उपासक और शैवागमों के गम्भीर अध्येता रहे हैं। शिव का विषपायी और अर्द्धनारीश्वर का भव्य रूप उनके जीवन का आदर्श रहा है। शिव का अर्द्धनारीश्वर रूप स्त्री-पुरुष का समन्वित अथवा सामरस्यात्मक रूप है। स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के पूरक हैं। ये दोनों सृष्टि की उत्पत्ति के आधारभूत तत्त्व हैं। इनके संयोग से ही विश्व का विकास सम्भव है। जीवन के समुचित विकास में भी इन्हीं तत्त्वों का सामंजस्य अपेक्षित है। इन दोनों में भी नारी तत्त्व संस्कृति के लिए महान् वरदान है। यदि यह तत्त्व अपने में पवित्र और निष्कलंक नहीं रहता, तो पुरुष के लिए, समाज के लिए और संस्कृति के लिए भीषण अभिशाप बन जाता है। प्रसाद जी ने कामायनी में कहीं भी नारी के विकृत एवं अभिशप्त रूप का अंकन नहीं किया। उनकी नारी, सुन्दर काया और कोमल त्वचा के स्थूल परिवेश तक ही सीमित नहीं है, अपितु उसका प्रसार भावना की उस सूक्ष्म वृत्ति तक है, जिसे श्रद्धा के नाम से अभिहित किया जाता है। इस वृत्ति में सत्य को धारण करने की पूर्ण क्षमता है और इसका सम्बन्ध हृदय और आत्मा के साथ जुड़ा है। नारी का चिरन्तन रूप केवल श्रद्धा है—

नारी! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत-नग पगतल में

पीयूष-स्रोत सी बहा करो

जीवन के सुन्दर समतल में।

नारी के हृदय का यह सौन्दर्य आधुनिक युग के लिए अन्वेषण का विषय है। पुरुष-जीवन की विसंगतियों को दूर करके उसे सामरस्यान्वित करना तथा कटुता के विष को नष्ट करके अमृत से सींच देना नारी के भावात्मक सौन्दर्य की चरम परिणति है। नारी के आभ्यांतर सौन्दर्य के अंकन में प्रसाद जी का दृष्टिकोण एवं अनुभव पारदर्शी सिद्ध होता है। अन्यतम संश्लिष्ट रूप के अनुसार नारी का सौन्दर्य एक रमणीय शैली के रूप में विराजमान रहता है, उससे पवित्रता की मधुर धारा प्रवाहित होती है जिसमें पुरुष का पाप-पंकिल तथा ताप-सन्तप्त जीवन धुलकर निष्कलुष हो उठता है—

भगवति! वह पावन मधु धारा।

देख अमृत भी ललचाये,

बही, रम्य सौन्दर्य शैल से,

जिसमें जीवन धुल जाये।

नारी-पवित्रता की सुन्दरता और पवित्रता का समन्वय वर्तमान युग के सन्दर्भ में कितना प्रासांगिक हो सकता है, यह बतलाना अपेक्षित नहीं है। आज की युवती को प्रायः आधुनिका के नाम से पुकारा जाता है। युवती के लिये विशेषण उसकी वेशभूषा और शृंगार-सज्जा के कारण दिये जाते हैं। यदि आधुनिक युग के सौन्दर्य-बोध का यही प्रतिमान है तो कहना पड़ेगा कि सौन्दर्य नितान्त सतही है। इससे पुरुष की ऐन्द्रिकता या यौन सम्बन्धी अभिलाषा उद्दीप्त हो सकती है, किन्तु उसके सन्तप्त, द्वन्द्वपूर्ण और अभावग्रस्त मन को शांति नहीं मिलती। नारी के जिस सौन्दर्य से पुरुष को प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती हो, वह किसी भी युग के लिये ग्राह्य हो सकता है। प्रसाद जी ने कामायनी में ऐसे ही सौन्दर्य का प्रभाव अंकित किया है। श्रद्धा का सौन्दर्य मनु को आरम्भ में नयनों के लिये इन्द्रजाल तथा उसका मुख रवि-मण्डल के समान दैदीप्यमान प्रतीत होता है और बाद में वही सौन्दर्य की मूर्ति श्रद्धा उन्हें 'कर्म का भोग', 'भोग का कर्म' सम्बन्धी रहस्य का उद्घाटन करके प्रवृत्ति-मार्ग की ओर अग्रसर कर देती है। उसके तेजोमय व्यक्तित्व के आकर्षण में जड़ पदार्थों की स्फूर्ति उत्पन्न हो जाती है—

स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण

प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।

आधुनिक युग में प्रायः पारिवारिक विघटन, बिखराव, कलह आदि सामाजिक विद्रूपताओं के लिये नारी को ही कारण माना जाता है। पुरुष समाज अपनी अक्षमता और अपनी असमर्थता से उत्पन्न उत्तरदायित्वहीन, उच्छृंखलता सम्बन्ध-विच्छिन्नता के लिये भी नारी को ही दोषी ठहराता है। किन्तु प्रसाद जी की कामायनी में नारी की अवतारणा चेतन-अचेतन-समुदाय की स्थापना के लिये और जीवन के मूल-सुधारों में समाधान प्रस्तुत करने के लिये की गयी है। काम की यह उक्ति नारी के सन्दर्भ में सामाजिक संवेदना को जगाने में पूर्णतः सक्षम है—

जड़ चेतन की गाँठ वही,

सुलझन है भूल-सुधारों की।

वह शीतलता है शान्तिमयी,

जीवन के उष्ण विचारों की।

समन्वय की मूर्ति नारी के इस रूप को भूला देने से ही मनु का जीवन संकटग्रस्त हो जाता है। आज अहं के उद्रेक में नारी की सत्ता उसके अधिकारों की अवहेलना करने वाले अधिकांश पुरुषों का जीवन भी कम संकटग्रस्त नहीं है। मनु की अपनी विस्मृति का बोध काम की प्रतिध्वनि से हो जाता है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।

समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

वर्तमान युग चाहे कितनी भी विडम्बनाओं से पूर्ण क्यों न हो; पर, उसकी विशेषताएँ और उपलब्धियाँ भी हैं, जिन्हें नकारा नहीं जा सकता। आधुनिक नारी की यह विशेषता है कि वह केवल रोटी, कपड़ा गहने आदि के लिये पुरुष की शरण में जाने को तैयार नहीं है। अब यह समाज में समानता के स्तर पर पुरुष से स्पर्धा कर रही है। नारी की नई चेतना इस युग की उपलब्धि है। आज की नारी पुरुष की शरण में नहीं, उसके समकक्ष खड़ी रहना चाहती है, इसके आधार तत्त्व हैं—प्रेम और शक्ति। नारी का हृदय प्रेम का उद्गम-स्रोत है। वह अपने अगाध प्रेम से पुरुष की रिक्तता को भर देती है और पुरुष से शक्ति ग्रहण करती हुई अपने अभाव को दूर करती है। इसलिये आज की नारी दृढ़ पुरुष की भुजच्छाया के लिये लालायित है। नारी के सन्दर्भ में इन दो तत्त्वों की प्रासंगिकता कामायनी में अवलोकनीय है। श्रद्धा मनु की रिक्तता का अनुभव करती हुई कहती है—

दब रहे हो अपने ही बोझ

खोजते भी न कहीं अवलम्ब;

तुम्हारा सहचर बन कर क्या न

उत्क्राण हो मैं बिना विलम्ब?

इन्हीं दो तत्त्वों—प्रेम और शक्ति के विनिमय से स्त्री-पुरुष के सामाजिक सन्दर्भों में स्थायित्व आ सकता है और मानव-समाज की अनेक भौतिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत हो सकता है। नर-नारी के सम्बन्धों की स्थिरता कामायनी की चरम परिणति है। यही कारण है कि कैलाश-मानसरोवर की तपोभूमि पर भी श्रद्धा और मनु दोनों एक संग रहते हैं। कामायनी का—यह संश्लिष्ट रूप नर-नारी के जीवन का आदर्शपूर्ण समन्वय स्थापित करता है—

मनु बैठे ध्यान निरत थे

उस निर्मल मानस तट में;

सुमनों की अंजलि भर कर

श्रद्धा थी खड़ी निकट में।

वस्तुतः कामायनी आधुनिक युग-बोध का महाकाव्य है। यदि आज 'महाकाव्य' कहने मात्र से उसकी गरिमा खण्डित होती हो, तो भी उसमें मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यंजना इतनी व्यापक और समृद्ध है कि उसकी परिधि में काल-विशेष अथवा गुण-विशेष की सीमाएँ विलीन हो जाती हैं। समालोचकों की दृष्टि से कामायनी का महाकाव्य के निकष पर खरा उतरना ही इस बात का प्रमाण है कि उसकी उपपत्तियाँ आधुनिकता के परिवेश में सार्थक और प्रासंगिक हैं। इसमें जलप्रवाह की कथा से लेकर आनन्दोपलब्धि तक अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जो मानव के शाश्वत जीवन के साथ जुड़े हुए हैं। आज की विडम्बनाओं से पूर्ण भारतीय जीवन में ये प्रसंग अधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं। पारिवारिक विघटन, उन्मुक्त भोग, एवं व्यापक असन्तोष की परिधि में आधुनिक मानव का दम घुटता जा रहा है और वह

हतप्रभ होकर अपने परिवेश से उदासीन होता जा रहा है। इतना ही नहीं, आज उसके सामने चुनौतियों के नये आयाम उभर कर आ रहे हैं, परन्तु वह उन्हें स्वीकार न करके अपने को मन से पराजित और टूटा हुआ अनुभव कर रहा है। इन परिस्थितिजन्य संदर्भों में कामायनी की प्रासंगिकता हमारी संवेदना को अधिक गहराई से स्पर्श करती है और उसे समकालीन बना देती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान युग की भौतिक यान्त्रिकता, शुष्क बौद्धिकता, मूल्यहीनता, अनास्था, स्वार्थपरता, कामकुण्ठा आदि अभिशप्त समस्याओं के लिये भी कामायनी में व्यापक समाधान प्रस्तुत है। यह समाधान समरसता के माध्यम से ही सम्भव और अपेक्षणीय है। अन्त में यह कहना उचित होगा कि कामायनी में अतीत के क्षण, वर्तमान के स्पन्दन और भविष्य की धड़कने भी संवेदनीय हैं।

(ख) दार्शनिकता

कामायनी मानव-मर्यादाओं का महाकाव्य है। मर्यादाओं और मान्यताओं का सम्बन्ध क्रमशः आचार-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र से जुड़ा हुआ है। परम्परागत भारतीय चिन्तन-धारा का सारतत्त्व इन दोनों शास्त्रों में संग्रहीत है। यो दोनों शास्त्र परस्पर अनुस्यूत हैं और एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनों में अन्तर इतना ही है कि एक में नैतिक मूल्यों का अन्वेषण एवं विश्लेषण प्रस्तुत है और दूसरे में आध्यात्मिक मूल्यों का प्रतिपादन एवं प्रतिष्ठान है। ये दोनों प्रकार के मूल्य मानव-जीवन के लिये अनिवार्य हैं। कविता जीवन मूल्यों की आवश्यकता से प्रभावित होती रहती है और वह स्वयं भी मनुष्य की एक अनिवार्य आवश्यकता है। कविता के माध्यम से मानव-मूल्यों को अवगत करके आत्मसात् किया जा सकता है। इस दृष्टि से कामायनी नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का बोध कराने में आधुनिक काल की अनुपम काव्य-कृति है। उसमें सांस्कृतिक एवं दार्शनिक तत्त्वों का वैभव बिखरा पड़ा है। प्रस्तुत सन्दर्भ में नैतिक अथवा सांस्कृतिक तत्त्वों की अपेक्षा कामायनी के दार्शनिक तत्त्वों की विवेचना अधिक वांछनीय है।

प्रसाद जी प्रारम्भ में 'प्रेम पथिक' से लेकर 'झरना' तक कल्पनाशील कवि रहे हैं। तदुपरान्त 'आँसू', 'लहर' और 'कामायनी' की सृजन-भूमि तक पहुँचते-पहुँचते वे एक गहन चिन्तनशील एवं अनुभूतिशील कवि बन गए हैं। यह एक विदित तथ्य है कि कवि अपने प्रौढ़वय तक आते-आते जीवन को अधिक गहनता, संश्लिष्टता और व्यापकता से समझने में समर्थ होता है। कामायनी प्रसाद के प्रौढ़ चिन्तन एवं गहन अनुभूति की परिणति है। उसमें शैव सिद्धान्तों का प्रतिपादन उनके जीवन की आकस्मिक घटना या आरोपित विचारधारा नहीं है। उसकी पृष्ठभूमि में प्रसाद जी के परिवार की परम्परागत शैव-उपासना-पद्धति, ज्योतिर्लिंग की आराधना का फल, उनके बाल्य-जीवन की संस्कार-भावना, विश्वनाथ की नगरी काशी का परिवेश, साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन और उनमें सक्रिय भाग लेना, निगम आगमों का विस्तृत और गम्भीर अनुशीलन करना आदि अनेक तत्त्व अन्तर्निहित हैं। वास्तव में बाल्यकाल से ही प्रसाद जी का समग्र व्यक्तित्व शैव-सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित हुआ है। परन्तु, उन्होंने परम्परावादी दार्शनिकों के समान शैव-दर्शन की अनवर्तिता स्वीकार नहीं की, अपितु उसमें से उन्होंने एक ऐसा तत्त्व खोज निकला है, जो समसामयिक जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिये व्यापक समाधान प्रस्तुत करता है। यह तत्त्व है—समरसता-मूलक आनन्दवाद। यही आनन्दवाद कामायनी का प्रतिपाद्य विषय है।

शैव-दर्शन के अन्तर्गत चार सम्प्रदाय प्रचलित हैं—(1) नकुलीशपाशुपत दर्शन, (2) शैव-दर्शन, (3) प्रत्यभिज्ञादर्शन और (4) रसेश्वर दर्शन। पाशुपात सम्प्रदाय गुजरात में अधिक प्रचलित हैं। इस दर्शन के पाँच प्रमुख पदार्थ हैं—कारण, कर्म, विधि, योग और दुःखान्त। शिव कारणस्वरूप हैं और दुःख का अन्त मोक्ष है। शैव-दर्शन का केन्द्र तामिलनाडु है। इस दर्शन के तीन तत्त्व हैं—पति, पशु और पाश। तदनुसार पति शक्ति-समन्वित शिव है और पशु जीव है। पाश तीन प्रकार के हैं—आणव, कार्य और मायीय। जीवरूपी पशु इन्हीं पाशों से आबद्ध होता है और इन्हीं से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त करता है प्रत्यभिज्ञादर्शन का विकास कश्मीर प्रदेश में हुआ है। इसके भी वे ही तीन तत्त्व हैं, परन्तु पाश-बद्ध जीवन को शिवत्व का प्रत्यभिज्ञादर्शन कराया जाता है। इसलिये इसे प्रत्यभिज्ञादर्शन कहा जाता है। इस दर्शन को त्रिकदर्शन, स्पन्द दर्शन, कश्मीर शैव-दर्शन, अभेदवाद, तन्त्रवाद नामों से भी अभिहित किया जाता है। कामायनी में इसी दर्शन का आधार ग्रहण किया गया है। रसेश्वर दर्शन की परम्परा लुप्त हो चुकी है। दक्षिण भारत में लिंगायत दर्शन या वीर शैवमत अधिक प्रचलित हैं। सिद्ध साहित्य में कापालिक सम्प्रदाय के नाम से भी शैव-दर्शन का आभास मिलता है। शैव-दर्शन के समकक्ष एक शक्तिदर्शन भी है। ये दोनों ही अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं और इनमें छत्तीस तत्त्वों का निरूपण किया जाता है। उन तत्त्वों से परे एक परमतत्त्व है, जो विश्व में व्याप्त होकर भी उससे भिन्न है। इसी परमतत्त्व के दो रूप हैं—शिव और शक्ति। एक तत्त्व की प्रधानता में दूसरा तत्त्व गौण रहता है। परन्तु एक तत्त्व के बिना दूसरा तत्त्व नहीं रहता। शिव के बिना शक्ति नहीं और शक्ति के बिना शिव नहीं। इसे अविनाभाव कहा जाता है। विश्व का उन्मीलन शक्तित्व से होता है। तत्त्वातीत अवस्था में दोनों शिव और शक्ति सम हो जाते हैं। इसी को सामरस्य अथवा समरसता के नाम से अभिहित किया जाता है।

शिव महापुराण के अनुसार शिव-शक्ति का समायोग ही परमात्मा है और इसे पराशक्ति भी कहा जाता है। पराशक्ति से पाँच शक्तियों का उद्भव होता है—चित, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। इनमें पूर्व-पूर्व शक्ति उत्तरोत्तर शक्ति के उन्मीलन के कारण हैं।

चिति

कामायनी के विच्छक्ति के लिये चिति, महाचिति, महाचेतना, चैतन्य, चेतना आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है। शैव सिद्धान्तों के अनुसार चिति सृष्टि की आद्या शक्ति है और उसके निर्माण में भी यही आदिम तत्त्व है। चितिशक्ति स्वतन्त्र है और विश्व के उन्मीलन एवं विकास में मूल कारण है। मूलतत्त्वरूपा चिति और उससे निर्मित सृष्टि को स्पष्ट करने के लिये आगम शास्त्रों के बीच द्वम, हेम और ऊर्मिका, वृक्ष और शालभञ्जिका, जलावर्त और जल आदि उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। कामायनी में भी इन बिम्बों का अंकन हुआ है। शैव-दर्शन में जो आदिम या मूलतत्त्व है, वही अद्वैतवाद है। प्रसाद जी ने कामायनी में आदि से लेकर अन्त तक शैवाद्वैतवाद का अनुसरण और प्रतिपादन किया है। महाकाव्य की आरम्भिक एवं अन्तिम पंक्तियाँ अद्वैतवाद की स्थापना करने में पूर्णतः सक्षम हैं—

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन

एक तत्त्व ही की प्रधानता,
 कहो उसे जड़ या चेतन।
 × × × ×
 समरस थे जड़ या चेतन
 सुन्दर, साकार बना था;
 चेतनता एक विलसती
 आनन्द अखण्ड घना था।

‘प्रत्यभिज्ञाहृदय’ नामक आगमशास्त्र में पहला और दूसरा सूत्र इस प्रकार है— ‘चितिः स्वतन्त्रता विश्व-सिद्धि हेतु’ और ‘स्वेच्छया स्वाभितौ विश्वमुन्मोलयति।’ तदनुसार स्वतन्त्र चिति-शक्ति अपनी इच्छा से अपने ही आधार पर विश्व का उन्मीलन करती है। इनसे कामायनी का निम्न पद्य तुलनीय है—

कल रही लीलामय आनन्द,
 महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
 विश्व का उन्मीलन अभिराम,
 इसी में सब होते अनुरक्त,

योगवासिष्ठ में कहा गया है कि चिति-शक्ति में प्राणी उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार बीज में द्रुम। प्रलयकाल में सकल देवताओं का विध्वंस हो जाता है और एकाकी मनु बीज के रूप में अवशिष्ट रह जाते हैं और उन्हीं से सृष्टि पुनर्विकसित होती है। इसका संकेत निम्न पंक्तियों में मिलता है—

सृष्टि बीज अंकुरित, प्रफुल्लित सफल हो रहा भरा,
 प्रलय बीच भी रक्षित मनु से यह फैला उत्साह भरा।

सुवर्ण एक धातु रूप तत्त्व है। उससे अनेक आभूषण अंगूठी, कंगन आदि का रूप ग्रहण करते हैं। हेम और ऊर्मिका के उदाहरण से यहाँ भी चिति उससे बदलते रूपों को स्पष्ट किया गया है—

चिति का स्वरूप यह नित्य जगत,
 वह रूप बदलता है, शत शत।

वृक्ष के काष्ठ में जिस प्रकार शालभजिका अर्थात् कठपुतली के निर्मित होने की संभावना की जा सकती है, उसी प्रकार मनुष्य चेतना का ही विकसित रूप या आकार है और अनन्य तत्त्वात्मक चिति के आवरण में एक सम्पूर्ण विश्व निर्मित है—

यह मनुष्य आकार चेतना का है विकसित,
 एक विश्व अपने आवरण में है निर्मित;

जल और लहरों के नामों में वैभिन्न्य होने पर भी मूल रूप में दोनों एक ही हैं। अतः चेतन समुद्र के साथ जीवन लहर का सम्बन्ध भी द्वैतात्मक नहीं हो सकता। यह सम्पूर्ण जगत चिति में स्थित होकर उसी प्रकार घूमता रहता है, जिस प्रकार वेगवती नदी के भँवर में जल चक्कर काटता है। इन बिम्बों की झलक निम्न पंक्तियों में प्रेक्षणीय है—

चेतन समुद्र में जीवन
 लहरों सा बिखर पड़ा है,

× × × ×

वैसे अभेद सागर में
प्राणों का सृष्टि क्रम है,
सब में घुलमिलकर रसमय
रहता यह भाव चमर है।

चाहे चरम भाव हो चाहे आदिम भाव हो, रहा है—अद्वैत या अभेद। इन सबका सार सही है कि अद्वैत दर्शन में केवल चिति ग्राह्य है, सृष्टि नहीं। आगमों की मान्यता में द्वैतभाव या द्रूयता के लिये कोई स्थान नहीं है। मनु के ही शब्दों में द्रूयता एक भूल है—

अपना ही अणु-अणु कण-कण
द्रूयता ही तो विस्मृति है।

× × × ×

मैं की मेरी चेतना
सबको ही स्पर्श किये भी;

वस्तुतः प्रसाद जी ने कामायनी के आरम्भ से लेकर अन्त तक विराट और व्यापक शक्ति के रूप में चिति का प्रतिपादन करके प्रत्यभिज्ञादर्शन में अपनी दृढ़ आस्था का ही परिचय दिया है। यह सर्वविदित है कि प्रसाद जी अपने जीवन काल में शिव के अनन्य उपासक रहे हैं परन्तु सम्पूर्ण महाकाव्य में उन्होंने शिव शब्द का प्रयोग केवल एक स्थल पर विशेषण के रूप में किया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने शैवाचार्यों के समान शक्ति-रहित शिव की पृथक् कल्पना नहीं की। उनके अद्वैतदर्शन में चित-शब्द एवं शक्ति दोनों की समष्टि का द्योतक है। अतः यह सम्पूर्ण जगत उसी चिति का विराट वपु है जो सत्य है, सुन्दर है और मंगलमय है—

चिति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुन्दर।

आनन्द

प्रत्यभिज्ञादर्शन में आनन्द की कल्पना शक्ति पराशक्ति से उत्पन्न दूसरी प्रमुख शक्ति के रूप में की गई है। किन्तु, औपनिषदिक मीमांसा में आनन्द का प्रतिपादन जीव सृष्टि के विराट धरातल पर किया जाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्द को ब्रह्म निरूपित करके, आनन्द से समस्त प्राणियों का जन्म-ग्रहण करना, उसी से जीवित रहना और अन्त में उसी में लीन होना प्रतिपादन किया गया है—“आनन्दी ब्रह्मेति जादात्पाता। आनन्दाद्वयेव खत्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्द प्रपत्य भिसविशन्तीति।” मानवात्मा सद्रूप भी है और विद्रूप भी, परन्तु वह आनन्दरहित है। आत्मा का चिराकाक्षित आनन्द मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। सत्-चित्-आनन्द स्वरूप ब्रह्म के साथ अथवा समष्टि रूप तत्त्व के साथ समन्वित होना ही मानव-जीवन की यात्रा का चरम लक्ष्य है। कामायनी में इसी सृष्टिमूलक आनन्द का आधार ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध में प्रसाद जी का दृष्टिकोण केवल आगमों तक सीमित न हरकर भारतीय संस्कृति के मूल आधार ग्रन्थ निगमों तक व्याप्त रहा है। आगम शास्त्रों में समष्टि के विकास की अपेक्षा व्यष्टि के विकास पर अधिक बल दिया गया है। शैवदर्शन मूल रूप में व्यष्टिपरक दर्शन है, समष्टिपरक नहीं। सामरस्य शैवदर्शन का आधारभूत सिद्धान्त है। यह दर्शन ही प्रतीयमान विषम तत्त्वों में सामरस्य स्थापित

करने की दशा में विकसित हुआ है। शिवतत्त्व और शक्तितत्त्व के सामरस्य के समान अथवा दो मित्रों के सामरस्य के समान पति-पत्नी एवं जीवात्मा-परमात्मा का सामरस्य प्रतिपादन करना इस दर्शन का विषय है—

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम्।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्मपरमात्मनोः॥

व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य समरसता स्थापित करना ही शैवदर्शन की आधारभूत मान्यता है। आनन्द समरसता का अनुवर्ती तत्त्व है। सामरस्य की दशा में वह सहज प्राप्य है। शैवदर्शन आनन्द की अपेक्षा समरसता पर अधिक बल देता है। कामायनी का मूल प्रतिपाद्य आनन्दवाद है और समरसता उसका माध्यम है। आनन्द सामाजिक सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है और समरसता पहले व्यष्टि-दृष्टि के सन्दर्भ से और बाद में अन्य संदर्भों से। इससे सिद्ध है कि समरसता की अपेक्षा आनन्द की परिधि अधिक विस्तृत और व्यापक है। कामायनी के दार्शनिक विचारों में तथा आगम शास्त्रों में यही मौलिक अन्तर है। प्रसाद जी ने महाचिति के लीलामय आनन्द में सभी के अनुरक्त होने का संकेत करके उपनिषद् के सृष्टिमूलक एवं समष्टिपरक आनन्द का ही प्रतिपादन किया है—

कर रही लीलामय आनन्द

महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,

विश्व का उन्मीलन अभिराम

इसी में सब होते अनुरक्त।

कामायनी में 'भूमा' की कल्पना भी सामाजिक दर्शन और समष्टि की स्थापना करती है। तदनुसार यह सम्पूर्ण भूमा का ही मधुमय दान है। उपनिषदों में भूमा की प्रतिष्ठा विराट के रूप की गयी है—भूमवै सुखं नाल्पे मुखमस्ति भूमवै सुख इत्यादि। भूमा की औपनिषदिक मान्यता व्यक्ति को संकीर्णता की अन्धी गलियों में से निकलकर आत्म-विस्तार से प्रशस्त मार्ग की ओर उन्मुख करती है और व्यष्टिगत सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित कर देती है। कामायनी में इसी मान्यता का अनुसरण हुआ है—

औरों को हँसते देखो मनु।

हँसो और सुख पाओ,

अपने सुख को विस्तृत कर लो

सब को सुखी बनाओ।

आत्म-विस्तार के सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि वैदिककाल में आत्मवाद सर्वाधिक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त रहा है। यह सिद्धान्त अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है—'आत्मैवेदमग्र आसीत्...' इसके प्रवर्तक इन्द्र देवता माने जाते हैं। प्रसाद जी ने कामायनी में आनन्दवाद को इन्द्र के आत्मवादी सन्दर्भों के साथ जोड़कर आनन्द की परिधि को विस्तृत एवं व्यापक बना दिया है। कामायनी की दार्शनिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भों में इन्द्र के आत्मवादी आनन्द की और असुरों की ऐन्द्रिय संतृप्ति की मान्यताओं को उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

जीवन का लेकर नव विचार

जब चला द्वन्द्व था असुरों में प्राणी की पूजा का प्रचार

उस ओर आत्म विश्वास निरत सुरबर्ग कह रहा था पुकार—

“मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर

**उल्लासशील में शक्ति केन्द्र, किसकी खोजँ फिर शरण और
आनन्द उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्य भरा—”**

इस उद्घरण की अन्तिम पंक्ति में आगम-प्रतिपदिन शिव की आनन्दमयी शक्ति की अभिव्यंजना हुई है—‘आनन्दोच्छलिता शक्तिः सृजत्पात्मनात्मानम्’ आधुनिक युग का जीवन-दर्शन प्राचीन जीवन-दर्शन से अधिक भिन्न नहीं है। अन्तर इतना है कि आज के जीवन में देवों के आत्मवादी आनन्द की अपेक्षा असुरों का ऐन्द्रियक भोगवाद अधिक स्वीकृत होता जा रहा है। घर भोग की अतिशयता, व्यक्ति और समाज दोनों के लिये विध्वंसकारी है। प्रसाद जी की आस्था कर्मानुपात भोग अथवा संतुलित भोग रही है। आनन्द उपलब्धि के लिये कर्म और भोग में सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है—

**कर्म का भोग, भोग का कर्म
यह जड़ का चेतन आनन्द।**

आनन्द का धरातल सामरस्य है। व्यष्टि-समष्टि तथा जड़-चेतन के सामरस्य से विश्व का अनन्त सौन्दर्य साकार हो उठता है और आनन्द का असीम सागर उद्वेलित होता है—

**समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था,
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।**

कामायनी के इस अन्तिम छन्द में तीन दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। प्रथम सिद्धान्त के रूप में जड़-चेतन की समरसता से शैवाद्वैतवाद की मान्यता सिद्ध होती है। द्वितीय सिद्धान्त के रूप में समस्त भू-मण्डल पर अनन्य चेतना के विकसित होने से इन्द्र का वैदिककालीन आत्मवाद प्रतिष्ठित होता है। तृतीय सिद्धान्त के रूप में अखण्ड आनन्द की अतिशयता से औपनिषदकालीन आनन्दरूप ब्रह्मवाद की स्थापना होती है। यही कामायनी के प्रतिपाद्य आनन्द की दार्शनिकता है। इस प्रकार सर्वत्र आनन्द की व्यापक सत्ता को प्रतिष्ठित करके उसकी उपलब्धि के लिये लोगों को प्रेरित करना कामायनीकार का लक्ष्य रहा है।

इच्छा

शैवदर्शन के सिद्धान्तानुसार इच्छा शिव की तीसरी प्रमुख शक्ति है। शिवमहापुराण ने इच्छाशक्ति का प्रतिपादन महेश की कार्य-नियामिका के रूप में हुआ है—‘इच्छाशक्तिर्महेशस्य नित्या कार्यनियामिका’। यह शक्ति कार्य के यथार्थ और अयथार्थ-रूप का निर्धारण करती है। ‘प्रत्यभिज्ञाहृदय’ के मतानुसार चिति नामक मूल शैवशक्ति अपनी इच्छा से अपने ही आधार पर विश्व का उन्मीलन करती है—‘स्वैच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मोलयति’। कामायनी में इच्छा की उद्भावना त्रिकोण, त्रिपुर और तीन बिन्दुओं के अन्यतम रूप से हुई है। शिवशक्ति के रूप में इच्छा सृजन-प्रक्रिया के सन्दर्भों के साथ जुड़ी हुई है। वह सकल पदार्थों की सृष्टि का मूल कारण है। कामायनीकार के शब्दों में वह ‘भावमयी प्रतिमा का मन्दिर’ है। इस मन्दिर के प्रांगण में शब्द, स्पर्श रस, रूप, गन्ध आदि तन्मात्राएँ पारदर्शिनी सुन्दर पुतलियाँ बनाकर रूपवती रंगीन तितलियों के समान नृत्य करती रहती हैं। इच्छा मानव-जीवन की मध्यभूमि है और रसधारा से सदा सिंचित

रहती है। यह रथ की नाभि बनाकर भाव-चक्र चलाती रहती है और नव रसों की विभाजन-प्रक्रिया इसी से जुड़ी हुई है—

वह जीवन की मध्यभूमि है
रस धारा से सिंचित होती

× × ×

भावचक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ नाभि घूमती
नव रस भरी अराएँ अविरल
चक्रवाल को चकित चूमती।

आगमशास्त्रों के मतानुसार शिव की शक्ति विश्व के विकास एवं विध्वंस की जननी है और कामायनी के प्रतिपादानुसार मानसिक लोक के पाप-पुण्य की जननी इच्छा है। इसमें बसन्त की श्रीसम्पन्नता भी है और शिशिर की वैभवहीनता भी। अमृत की शीतल तरंगों और हलाहल की भयानक लपटें हँसी उठती रहती है। सुख-दुःख दोनों इच्छा की डोर से बंधे रहते हैं—

भाव भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य पाप की;

× × ×

चिर बसन्त का यह उद्गम है
पतझर होता एक होर है;
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख दुःख बंधते, एक डोर हैं।

दर्शनशास्त्र और आचार-संहिता में इच्छा-जन्य पाप-पुण्य एवं नैतिक-अनैतिक आचरण की विस्तृत विवेचना मिलती है और इन्हीं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति कामायनी में हुई है।

ज्ञान

शिवमहापुराण के मतानुसार शिव की ज्ञान-शक्ति-सृष्टि-निर्माण के कार्य-कारण, साधन एवं प्रयोजन को तत्त्वरूप से निश्चित करती है। मालिनी विजयतन्त्र में भी किसी वस्तु के निश्चित एवं यथार्थ रूप का बोध कराने वाली शक्ति को ज्ञानशक्ति कहा गया है। नेत्रतन्त्र में जगत की स्थिति ज्ञानशक्ति से ही मानी गई है—‘ज्ञानशक्त्या जगत्स्थितम्।’ कामायनी के ज्ञान का वर्णन त्रिपुर के अन्तिम क्षेत्र के रूप में हुआ है। ज्ञानलोक की शासन-प्रणाली तटस्थता की नीति पर अवलम्बित है। अतः यहाँ सुख-दुःख के प्रति औदासीन्य परिलक्षित होता है। न्याय की स्थापना और बौद्धिक प्रगति इस लोक के दो आदर्श हैं—

प्रियतम! यह तो ज्ञानक्षेत्र है
सुख दुःख से है उदासहीनता,
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धिचक्र, जिसमें न दीनता।

ज्ञानशक्ति द्वारा अस्ति-नास्ति का भेद किया जाना और तत्त्वस्वरूप में कार्य-कारण को निश्चित किया जाना मूलतः एक ही बात है। इससे शिवमहापुराण का ज्ञान-विषयक मन्तव्य प्रतिपादित होता है—

अस्ति नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से,
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ सम्बन्ध-विधान मुक्ति से।

इन पंक्तियों में 'अणु' और 'निस्संग' शब्दों का प्रयोग क्रमशः ज्ञान के प्रतिनिधियों तथा सांसारिक वस्तुओं से निरासक्त रहने वाले व्यक्तियों के अर्थ में हुआ है। ये प्राणी ज्ञान के माध्यम से मुक्ति से सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। पर भौतिकता और सांसारिकता से अपने को निस्संगत रखने का प्रयास करते हैं। ज्ञानलोक के वासी अनवरत साधना से विषयवस्तु को प्राप्त तो कर लेते हैं, परन्तु उससे उनकी संतुष्टि नहीं होती। चिराकांक्षित चरम उपलब्धि के अभाव से साधक की ज्ञान-पिपासा इतनी अधिक तीव्र हो जाती है कि वह ओस के कणों के रूप में अधिगत अपनी सामान्य उपलब्धियों से शान्त नहीं होती—

यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती;
बुद्धि विभूति सकल सिकता सा
प्यास लगी है, ओस चाटती।

असफलता की भूमिका से ज्ञान की महिमा खण्डित नहीं होती। इसके उपासकों में उदात्तता नैसर्गिक रूप में विराजमान रहती है—'उत्तमता इनका निजस्व है।' ज्ञानी लोग उत्तम होने पर भी सम्पूर्णवेत्ता नहीं होते। उनमें भी पर्याप्त त्रुटियाँ विद्यमान रहती हैं। यही कारण है कि वे समन्वय के स्थान पर भी वैषम्य फैलाते हैं। मूल सत्ता की अन्यथा व्याख्या करके मानव की नैसर्गिक इच्छाओं को विपथगामिनी बतलाते हैं—

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं,
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं।

वस्तुतः ज्ञान, मोक्ष और बन्धन दोनों का कारण है। जिन ज्ञान से परम शिवतत्त्व का प्रत्यभिज्ञान होता है, वह मोक्षप्रद है। इसके विपरीत जो ज्ञान है, वह संसार-बन्ध का हेतु है। आगमशास्त्रों के मन्तव्यानुसार ज्ञान जगत की स्थिति का कारण अवश्य है, परन्तु उसकी चरम परिणति का एकमात्र कारण नहीं है। एकाकी ज्ञान से सामरस्य की स्थापना नहीं हो सकती। उपर्युक्त पद्य में विषमता को फैलाने और इच्छाओं को झुठलाने की जो बात कही गई है, उसमें समन्वय की स्थापना सम्भव नहीं है।

क्रिया

क्रिया-शब्द साधारणतया कर्म का ही पर्यायवाची है। कर्म-शब्द के समान क्रिया-शब्द भी अत्यन्त व्यापक एवं विविध अर्थों में व्यवहृत होता है। शैवदर्शन में क्रिया-शक्ति शिव की अन्तिम और पाँचवीं शक्ति के रूप में प्रतिपादित है। शिवमहापुराण के मतानुसार वह अभीप्सित जगत का निर्माण करती है और

संकल्परूपिणी बनकर क्षण भर में, कार्य सम्पन्न कर देती है। 'स्वच्छन्द तन्त्र' में सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकाशित करने वाली व्यक्ति के रूप में उनका अंकन किया गया है—'क्रियाशक्तिः समाख्याता सर्वसृष्टिप्रकाशिका' तन्त्रलोक के प्रतिपादानुसार पशु-संज्ञक जीव में शिव की क्रियाशक्ति बन्धनी की सृष्टि करती है; परन्तु जब इसके सम्बन्ध में साधक को ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जब वह तुरन्त सिद्धि प्रदान करने वाली बन जाती है—'उक्त सेयं क्रियाशक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी। बन्धयित्रिति ज्ञाता-सा च क्रियाशक्तिः सद्य सिद्ध/द्वपपादिका' इत्यादि। किन्तु कामायनी के रहस्य-सर्ग में क्रिया-शक्ति का उपर्युक्त रूप उपलब्ध नहीं होता। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि त्रिपुर में वर्णित क्रिया का आधार शैवदर्शन नहीं है। आगम शास्त्रीय प्रमाणों में तथा कामायनीगत क्रिया के वर्णों से कहीं भी अनुरूपता नहीं मिलती। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसाद जी ने कर्म-लोक का वर्णन तमोगुण के आधार पर किया है। यही कारण है कि इस लोक की प्रस्तावना से ही तमोगुण-जन्य वातावरण की सृष्टि की गई है—

मनु! यह श्यामल कर्म लोक है
धुंधला कुछ कुछ अन्धकार सा,
सघन हो रहा अविज्ञान यह
देश मलिन है धूम धार सा।

कर्म-लोक स्वतन्त्र नहीं है। इसका संचालन नियति की प्रेरणा से होता है। इससे सिद्ध है कि कर्म-लोक नियति के अधीन है और मनुष्य कर्म-परिलोक के अधीन। जीवन में नई-नई एषणाएँ कर्म-प्रेरणा के स्रोत हैं—

कर्म-चक्र सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति प्रेरणा;
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा

× × ×

नियति चलाती क्रम-चक्र यह
तृष्णा जनित ममत्व वासना।

कर्म-क्षेत्र में निरंतर संघर्ष चलता रहता है। कर्म की परिणति सफलता की अपेक्षा विफलता में अधिक होती है। कोलाहल कर्म-क्षेत्र का स्वभावगत गुण है। सम्पूर्ण समाज मतवाला बनकर, अन्धकार में दौड़ रहा है—

यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यही राज है,
अन्धकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है।

तमोगुण को कर्म-लोक का आधार मान लिए जाने का एक और प्रमाण रहस्य-सर्ग के निम्न पद्य में मिलता है। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि तामसिक प्रकृति के व्यक्ति ही अधिक अपराध करते हैं, क्योंकि वे एक अन्धशक्ति में प्रेरित होते हैं और अपने आपको महान् कर्ता समझने लग जाते हैं—

बड़ी लालासा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती;
अन्ध प्रेरणा से परिचलित।
कर्ता में करते निज गिनती।

वस्तुतः जगत का प्रत्येक कर्म अपराधपूर्ण नहीं हो सकता। सत्त्व गुण से अनुष्ठित होने वाला कर्म मानव-जाति के लिये कल्याणप्रद सिद्ध हो सकता है। परन्तु जब कर्म-लोक का आधार ही तमोगुण मान लिया जाता है, तब उसके दुष्परिणामों का कोई अन्त नहीं है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि रहस्य-सर्ग में अंकित कर्म-लोक के मूल में शैवदर्शन की वे मान्यताएँ नहीं हैं, जिसके अनुसार क्रिया सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकाशित करने वाली महेश्वरी शक्ति है। इसके अतिरिक्त कर्म के जो अन्यान्य विशदरूप कामायनी में उपलब्ध होते हैं उनका आधार मात्र तमोगुण न होकर सत्त्वगुण और रजोगुण भी हो सकता है।

तीन बिन्दु, त्रिपुर, त्रिकोण

यद्यपि इच्छा, ज्ञान, क्रिया नामक तीन शक्तियों की विवेचना करने के उपरान्त तीन बिन्दु, त्रिपुर त्रिकोण की मीमांसा आवश्यक प्रतीत नहीं होती तथापि शैवसाधना में इनका विशेष दार्शनिक महत्त्व होने से यहाँ पर ये उल्लेखनीय हैं। आगम शास्त्रों में शिव-शक्ति को कामकला के नाम से भी अभिहित किया जाता है। यह कामकला रवि, सोम और अग्नि नामक तीन बिन्दुओं की समष्टि रूप को व्यक्त करती है—‘बिन्दुसमष्टिरूपा कामकलेत्पुच्य’। इनमें सोम या चन्द्ररूपी बिन्दु का वर्ण है, अग्निरूपी बिन्दु का वर्ण रक्तिम है और रविरूपी बिन्दु का वर्ण श्वेदारुण-मिश्रित है। यही कामकला ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर रूपिणी होने के कारण और इच्छा, ज्ञान, क्रियाशक्ति से संचलित होने के कारण त्रिपुरा या त्रिपुर-सुन्दरी भी कही जाती है—“त्रिपुरा त्रिविध देवि ब्रह्मविष्णुशरूपिणी। ज्ञानशक्ति क्रियाशक्तिरिच्छाशक्त्यात्मिका प्रिये।” वास्तव में त्रिधाविभक्त देवतारूप और विद्या विभक्त शक्ति रूप ही त्रिपुर है। यही त्रिपुर तीन रेखाओं से निर्मित श्रीचक्र और श्रीयन्त्र नामक त्रिकोणमण्डल बन जाता है—‘त्रिकोणमण्डल चास्यास्त्रिपुरन्तु त्रिरेखमु’। निष्कर्ष यह है कि तीन बिन्दु, त्रिपुर और त्रिकोण परस्परानुविद्ध विषय हैं। इच्छा, ज्ञान, क्रिया नामक जिन तीन शक्तियों का पहले उल्लेख हो चुका है, वे ही तीन बिन्दु, त्रिपुर और भुजाओं के रूप में परिणत त्रिकोण का प्रतिनिधित्व करती हैं—

त्रिदिक् विश्व, आलोक बिन्दु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे।

तीन बिन्दु, त्रिपुर, ज्ञान और इच्छा, ज्ञान क्रिया का जो मण्डल बना हुआ है अथवा जिस परिधि से उनका संचार हो रहा है, वही त्रिकोण है—

इस त्रिकोण के मध्य तुम
शक्ति विपुल क्षमता वाले ये;

एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया, वाले ये।

दार्शनिक दृष्टि से यह त्रिकोण शक्ति का प्रतीकात्मक रूप है। इसमें उसकी सृजनात्मक इच्छाशक्ति, सृष्टि विकासात्मक ज्ञानशक्ति और संचार शक्ति क्रिया शक्ति का समन्वय है। परन्तु समन्वय के अभाव में ये तीन बिन्दु एवं त्रिपुर पृथक्-पृथक् केन्द्र बनाकर रहते हैं। ऐसी दशा में वे विश्व में विघटन एवं विध्वंस की स्थिति उत्पन्न करते हैं और जीवन में इच्छा, ज्ञान, क्रिया की असम्पृक्तता, बिखराव तथा मानसिक कुण्ठा पैदा करती है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी न हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की।

जीवन की विडम्बना को दूर करने का सक्षम उपाय शैवदर्शन में प्रतिपादन हुआ है। वह है—समरसता।

समरसता

सामान्यतः समान रस की व्यंजना करने वाले भाव को समरस कहा जाता है। शैवदर्शन के मतानुसार दो व्यक्तियों—विशेषतः नर-नारी की परस्परानुप्रवेश रूप अनुकूलता की समरसता है—‘समरसः परस्परानुप्रवेशरूपम् आनुकूल्यम्’। समरसता का विषय बहुत व्यापक है। वह सैद्धान्तिक भी है और व्यावहारिक भी; आध्यात्मिक भी और भौतिक भी। समरसता सभी तत्त्वों, प्राणियों, भावों, इन्द्रियों और चेतन-अवचेतन पदार्थों में सम्भव है। कामायनी में समरसता की एकमात्र सूत्रधारिणी श्रद्धा है। प्रलय की विभीषिका से सन्त्रस्त-मनु के जीवन में विधि विषमताओं को दूर करके श्रद्धा उन्हें समरसता की अवस्था उपलब्ध करने के लिये प्रेरित करती है। समरसता किसी व्यक्ति-विशेष तक सीमित नहीं है, उस पर सभी का समान अधिकार है—

नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान,
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणि गण द्युतिमान।

सुख-दुःख तप-योग की समरसता के समान ही नर-नारी तथा शासक-शासित व्यक्तियों में भी समरसता अनिवार्य है। जब मनु इस अनिवार्य समरसता की संवेदना से शून्य हो जाते हैं, तब वे काम की आलोचना के पात्र बन जाते हैं—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की।
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।

श्रद्धा अपने पुत्र मानव को भी समरसता के प्रचार के लिए प्रेरित करती है—

सब की समरसता कर प्रचार,
मेरे सुत! सुन मां की पुकार।

और श्रद्धा के ही प्रयास से इच्छा, ज्ञान और क्रिया से समन्वय स्थापित होता है और जीवन की तथाकथित विडम्बना दूर हो जाती है—

महा जोति रेखा सी बनकर,
श्रद्धा की स्थिति दौड़ी उनमें
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा
जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

इस ज्वाला में दर्शनशास्त्रों में बहुचर्चित आत्मा की स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था और जागरणावस्थाएँ भी भस्म हो जाती हैं—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय ये;

समरसता आनन्द की आधार भूमिका है। समरसता की भूमि पर ही आनन्द की अजस्र धारा प्रवाहित होती है। सामरस्य को आनन्दः का पर्याय मान लेना नितान्त भ्रामक है। आनन्द साध्य है और समरसता उसका साधन। प्रसाद जी ने कामायनी में समरसता पर अधिक बल दिया है और उसे आनन्द की पूर्व-स्थिति के रूप में प्रतिष्ठित किया है। यथा—

मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।

× × × ×

समरस थे जड़ या चेतन
सुन्दर साकार बना था;
चेतनता एक विलसती
आनन्द अखण्ड घना था।

जीवन में और उसके प्रत्येक क्षेत्र में समरसता की स्थिति उत्पन्न करना अनिवार्य है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों और विषमताओं में समरसता का अनुभव करना अथवा उसे आत्मसात् करने का प्रयास करना किसी महद् अनुष्ठान से कम नहीं है।

जीव और पंच कंचुक

प्रत्याभिज्ञादर्शन में मन्तव्यानुसार जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र एवं समष्टिरूप चित्-शक्ति की संकोचावस्था का ही दूसरा नाम है और विश्व भी उसी का संकुचित रूप है—‘चितिसकोचात्माः चेतनोऽपि संकुचितविश्वमयाण।’ यह जीव अण्व मल, मायीय मल और कार्म मल से आवृत होकर संसारी बन जाता है। इच्छा-शक्ति के संकोच से जीवात्मा में जो अपूर्णत्व आ जाता है, वही आणव मल है, ज्ञान-शक्ति के संकोच से जीवात्मा का अयथार्थ ज्ञान ही मायीय मल है और क्रिया-शक्ति के संकोच से जीवात्मा का शुभाशुभ-अनुष्ठान ही कार्म मल है। मलावृत जीव जिस दिशा में रहता है उसे प्रायः वृद्धावस्था, पाशबद्धता, पाशवपद आदि नामों से अभिहित किया जाता है। इन तीन मलों के अतिरिक्त जीव पाँच कंचुकों में भी

आवृत्त रहता है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में बताया गया है कि परमात्मा की सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता एवं व्यापकता नामक शक्तियाँ क्रमशः कला, विद्या राग, काल, और नियतिरूप पाँचों कंचुकों में परिणत हो जाती हैं। इन कंचुकों को बन्धन या पाशजाल कहा जाता है, क्योंकि आत्मा इनसे आवद्ध रहती हैं—‘कालाविद्याराग-कालनियतिबन्ध उच्यते।’ एक अन्य प्रामाणिक वाक्य के अनुसार पाँच कंचुकों से कलवति पुरुष भोक्ता है और प्रकृति उनका भोग्यी है—‘कंचकपञ्चकक्लिताः पुमांसो भोक्तारः भोग्यसामान्यरूपा च प्रकृतिः।’ माया इन कंचुकों की जननी है, परन्तु अभिनव गुप्त ने भी कंचुक मानकर तन्त्रालोक में षडकंचुकों का प्रतिपादन किया है। प्रसाद जी ने अधिकांश आगमशास्त्रों के आधार पर कामायनी में पाँच कंचुकों का ही संकेत किया है। निम्न पंक्तियों में विराट शक्ति एवं तदनुवर्तिनी शक्तियों के जीव तथा कंचुकों के रूप में परिणित होने का आभास मिलता है—

संकुचित असीम अमोघ शक्ति

जीवन की बाधामय पथ पर ले चले भेद से भारी शक्ति

या कभी अपूर्ण अहन्ता में हो रागमयी ही महाशक्ति

व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमा में रहे बन्द

सर्वज्ञ ज्ञान का क्षुद्र अंश विद्या बन कर कुछ रचे छन्द

कर्तृत्व सकल बनकर आवे नश्वर छाया सी ललित कला

नित्यता विभाजित हो पल-पल में काल निरन्तर चले ढला।

ये कंचुक आनन्द की उपलब्धि में बाधक अवश्य है, किन्तु जीव और सृष्टि के विकास की दृष्टि से सर्वथा अपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि विकास का प्रश्न तभी उठता है, जब अविकसित दशा में व्याप्त हो। विकास के लिये कंचुमयी बाधाओं का सामना करना आवश्यक है जीवन में उदारता और समरसता का दृष्टिकोण, अपेक्षणीय है, अन्यथा काम की प्रतिध्वनि में यह चेतावनी सदा मिलती रहेगी—‘दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि।’

कामायनी के मनु आगम-प्रतिपादित जीव के ही प्रतीक हैं। यही कारण है कि चिन्ता सर्ग से लेकर रहस्य सर्ग पर्यन्त उनका चरित्रांकन मानवीय संवेदनाओं के धरातल पर हुआ है। उनमें जहाँ एक ओर चिन्ताग्रस्तता, निराशा, जड़ता ईर्ष्या, आत्मानुरक्ति, विषयासक्ति, मर्यादाहीनता आदि मानवीय दुर्बलताएँ अंकित की गई हैं, वहाँ दूसरी ओर जिजीविषा, आशावादिता, अहम्मन्यता, कर्मण्यता प्रणयोल्लासः युद्धोन्माद अनुताप आदि सबल भावनाओं की भी अभिव्यक्ति हुई है। मनु, देव जाति के प्रतिनिधि अवश्य थे, किन्तु उनमें तदनुरूप गौरव-गरिमा, साधन-समृद्धि, ज्ञानातिरेकता, शक्ति-सम्पन्नता का प्रायः अभाव ही रहा है। केवल दर्शन-सर्ग और रहस्य-सर्ग के अन्तिम अंश में श्रद्धा के सहयोग से वे कंचुकों के आवरण से कुछ-कुछ मुक्त होते हैं और उन्हें परम सत्ता, अद्वयता तन्मयता का भास होने लग जाता है। आनन्द-सर्ग में मनु संसारी पुरुष नहीं रहते, अपनी शक्तियों का विकास करके वे शिवत्व प्राप्त करते हैं। इसका प्रामाणिक संकेत प्रत्याभिज्ञाहृदय में मिलता है—‘अयं जीव, शक्तिदरिदः संसारी उच्यते, स्वशक्ति विकासे तु शिव एव।’ शक्ति-समन्वित शिव अथवा प्रकृतिसम्पृक्त पुरातन पुरुष कामायनी के श्रद्धायुक्त मन में प्रतिबिम्बित होते हैं। उनकी सम्पूर्ण शक्तियाँ उनमें उसी प्रकार समाहित होती हैं। जिस प्रकार अद्वयता और समरसता के आनन्द सागर में तरंगे उद्वेलित होती हैं—

चिर मिलित प्रकृति से पुलकित
वह चेतन पुरुष पुरातन,
निज शक्ति तरंगायित था
आनन्द-अम्बु-निधि शोभन।

इस अवतरण में प्रकृति-पुरुष के चिरमिलन की अभिव्यंजना में सांख्यदर्शन का तात्त्विक सिद्धान्त प्रतिपादित होता है। निजशक्ति-तरंगायित चेतनतत्त्व की विवृति प्रत्याभिज्ञानदर्शन का शैवाद्वैतावाद प्रतिष्ठान होता है और आनन्द अम्बुनिधि के उल्लेख से औपनिषदिक आनन्दवाद सिद्ध होता है। इन सब प्रतिपादनों के मूल में भारतीय दर्शनों का आधारभूत सिद्धान्त अद्वैतवाद ही प्रतिध्वनित होता है। प्रसाद जी ने शैवाद्वैतवाद के साथ औपनिषदिक आनन्दवाद को समन्वित करके भारतीय चिन्तन-क्षेत्र में एक नवीन दार्शनिक उद्भावना की है। यह नवीन उद्भावना ही कामायनी की मूल दार्शनिकता है। इसके अतिरिक्त कामायनी में अन्यान्य दार्शनिक सिद्धान्तों-शून्यवाद, क्षणवाद, दुःखवाद, परिवर्तनवाद, विकासवाद, भौतिकवाद, शक्तिस्पर्धावाद की खोज करना प्रसाद जी की काव्य-प्रतिभा एवं अभिव्यंजना शक्ति के साथ नितान्त अन्याय है। कामायनी की संरचना दार्शनिक सिद्धान्तों की उपपत्तियों के लिये नहीं हुई है। उसमें जीवन दर्शन का जो रूप व्यक्त हुआ है, उसके साथ प्रसाद जी की अपनी अनन्य निष्ठा और उनके परिवार की परम्परागत आस्था जुड़ी हुई है। उनकी निष्ठा एवं आस्था का एकमात्र केन्द्र कश्मीर का प्रत्याभिज्ञानदर्शन है जिसमें व्यष्टि के विकास का चरम बिन्दु समष्टि में अन्तर्लीन होना या उसके साथ समरसान्वित होना प्रतिपादित किया गया है। यह दर्शन कामायनी पर आरोपित नहीं है; अपितु युग-युग के जीवन के लिये उसकी अनिवार्य आवश्यकता है। अतः कामायनी का आनन्दवादी शैवदर्शन सार्वभौमिक जीवन का ही दर्शन है।

(ग) रूपक तत्त्व

—डॉ. रमेश कुमारी खनेजा

कामायनी का रूपक तत्त्व विगत चार दशकों से आलोचकों की चर्चा-परिचर्चा का विषय बना हुआ है। यही कारण है कि आज भी यह अनेक विसंवादी स्थापनाओं एवं समग्रताओं से मुक्त नहीं है। यह अपने आप में विडम्बना है कि अधिकांश आलोचकों के द्वारा कामायनी आधुनिक युग की प्रतिनिधि रचना और छायावादी युग की अन्यतम उपलब्धि मान ली गई है, फिर भी इसके महाकाव्य के औचित्य पर, कभी इसके अंगीरस के निर्वाह पर और कभी इसके रूपक तत्त्व की संगति पर गहरा प्रश्न चिह्न लगाया जाता है। किसी रचना और उसके प्रकरण विशेष पर प्रश्न-चिह्न लगाना तो आलोचक का अन्यतम कर्म है, परन्तु रचना के सन्दर्भ में रचनाकर के ही वक्तव्य की उपेक्षा करके अथवा उनके मन्तव्य को तोड़-मरोड़ कर उसकी आलोचना करना संगत प्रतीत नहीं होता। कामायनी के 'आमुख' में स्वयं प्रसाद जी ने रूपक तत्त्व का उल्लेख तीन चार स्थलों पर किया है। 'आमुख' का आरम्भ ही इन शब्दों में होता है—“आर्य साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहास में बिखरा हुआ मिलता है। श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा को रूपक के आवरण में, चाहे पिछले काल रूप में मान लेने का वैसा ही प्रयत्न हुआ हो...।” इस कथन से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक के अनुसार मनु वैदिक युग के इतिहास-पुरुष थे और दूसरी के अनुसार श्रद्धा और मनु के सहयोग से मानवता के विकास की कथा की रूपक के आवरण में मान लिये जाने की परम्परा बहुत प्राचीन है।

'आमुख' में प्रसाद जी ने यह भी स्वीकार किया कि पौराणिक उपाख्यानों में चरित्र के साथ भावनाओं का भी बीच-बीच में सम्बन्ध जुड़ा है। इनकी घटनाएँ कहीं-कहीं पर अतिरंजित अवश्य होती हैं, इस तथ्य के आधार पर उन्होंने कामायनी में रूपक तत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया है—यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन का सहयोग से मानवता का विकास रूपक है, तो भी बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास बनाने में समर्थ हो सकता है। 'आमुख' के अन्त में उन्होंने इड़ा का वैदिक उपाख्यान प्रस्तुत करते हुए उसे बुद्धि का प्रतीक बतलाया और उसकी बुद्धिवाद को श्रद्धा और मनु के बीच व्यवधान मान लिया है। उन्हीं के शब्दों में 'बुद्धिवाद' के विकास में अधिक सुख की खोज, दुःख मिलना स्वाभाविक है। यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिये मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का भी सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।

कवि की आमुखीय स्वीकारोक्ति से अनेक महत्वपूर्ण बातों का स्पष्टीकरण होता है। कामायनी के कथानक का आधार वैदिक युग का प्राचीन इतिहास और उससे रूपक का सम्मिश्रण है। उसके पात्र अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति कर सकते हैं और इसमें कवि को कोई आपत्ति नहीं है। सांकेतिक अर्थ की उपयुक्त संगति के लिए कवि का आग्रह नहीं है। मनु, श्रद्धा और इड़ा का भावपूर्ण इतिवृत्त मानवता के विकास का रूपक है और वह मनुष्यता का मनोवैज्ञानिक इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकता है। इसी स्पष्टीकरण से कामायनी के रूपक तत्त्व सम्बन्धी भ्रमपूर्ण विवादों का

अन्त हो जाता है और उसका अनुशीलन रूपक तत्त्व की सम्भावनाओं के आधार पर किया जा सकता है। अब प्रश्न है कि 'रूपक शब्द किस अर्थ-वैशिष्ट्य का बोधक है।' 'रूपक' शब्द के दो शास्त्रीय अर्थ हैं—एक, समस्त दृश्यकाव्य या नाटक, जिनमें अभिनेता किसी अप्रस्तुत पात्र का अपने में अभेद आरोप करके उसका अभिनय करता है, दूसरा एक साम्यमूलक अर्थालंकार जिसमें अप्रस्तुत पर प्रस्तुत का अभेद आरोप रहा है। इन दोनों के अतिरिक्त रूपक का एक तीसरा आधुनिक अर्थ भी है, जो रूपक-कथाकाव्य का द्योतक है। अंग्रेजी में इसे 'एलिगरी' के नाम से अभिहित किया जाता है। रूपक-कथाकाव्य में नाटक की कथात्मकता और अलंकार की प्रस्तुति में अप्रस्तुत योजना दोनों अर्थवत्ताएँ संश्लिष्ट रूप में रहती हैं।

हिन्दी साहित्यकोश में रूपक-कथा के चार भेद निर्दिष्ट किए गये हैं। कामायनी का रूपक तत्त्व चौथे भेद के अन्तर्गत होता है। तदनुसार—'रूपक कथाकाव्य यह कथात्मक प्रबन्ध है; जिसमें प्रस्तुत कथा के भीतर कोई अन्य अप्रस्तुत कथा भी अन्तःसलिला की भाँति छिपी रहती है; जिसमें पात्र तो यथार्थ मानव होते हैं और घटनाएँ भी स्वाभाविक होती हैं, परन्तु उसका समग्र प्रभाव गूढार्थ व्यंजक और सांकेतिक होता है। उसमें कवि पात्रों के जीवन का मनोवैज्ञानिक और यथार्थ चित्र उपस्थित करता है और ऐसी घटनाओं और परिस्थितियों का चुनाव करता है कि पूरी कथा मानव-जीवन से सम्बन्धित किसी सूक्ष्म सत्य या महत्त्वपूर्ण घटना की ओर संकेत करती प्रतीत होती है। यह संकेत पूरी कथा के समन्वित प्रभाव में अधिक प्रतिफलित होता है, कथा के अवयवों में उतना नहीं।' 'स्टैण्डर्ड रेफरेन्स एनसाक्लोपीडिया' में 'एलिगरी' को सटीक एवं पारिभाषित रूप में स्पष्ट किया गया है।

'Allegory' a kind of narrative in which the story directly is intended to convey by implication another story with a definite meaning or lesson for the reader. The means employed in an allegory are generally symbolism and personification. Allegories frequently teach an ethical or spiritual lesson and sometimes are satiric attacks of a literary, political, or personal kind.¹

वस्तुतः कामायनी के रूपक तत्त्व में उपर्युक्त लक्षणों की चरितार्थता पूर्ण रूप में होती है। इसकी कथा द्वयर्थक है—एक प्रस्तुत और दूसरी अप्रस्तुत। इसके पात्र प्रतीकात्मक हैं। काम, लज्जा आदि अमूर्त भावों का मानवीकरण है और इसमें नैतिक और आध्यात्मिक तत्त्व विवेचित हैं। कामायनी की कथा का प्रस्तुत पक्ष ऐतिहासिक-पौराणिक है और अप्रस्तुत पक्ष मनोवैज्ञानिक दार्शनिक है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही पक्षों में परस्पर सम्बन्ध भी है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके पात्र आरोपित प्रतीत नहीं होते, अपितु उनके नाम और स्वभाव आदि से भी प्रतीकात्मक व्यंजना होती है। ऐतिहासिक पात्र मनु, श्रद्धा और इडा के माध्यम से कामायनी-महाकाव्य मानव मन की मनोवृत्तियों के क्रमिक विकास की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में, "साहित्य में चाहे कोई भी वाद प्रचलित क्यों न हो जाये, जब तक मानव नाम का प्राणी इस पृथ्वी पर जीवित है, यह मनोवृत्तियों से हमेशा उद्वेलित और प्रभावित होता रहेगा, और कामायनी तो मूलतः मनोवृत्तियों का ही आख्यान है।" इसे प्रतीकात्मक महाकाव्य भी कहा जा सकता है। इसके पात्रों का प्रतीकमय व्यक्तित्व मानव-मन की दुरुहताओं, विसंगतियों, विकृतियों आदि समस्याओं को सुलझाने में सक्षम है। और मन के उदात्तीकरण की दशा में परम सहायक है। सम्प्रति कामायनी के पात्रों, घटनाओं आदि के आलोक में उनकी प्रतीकात्मकता का विवेचन प्रस्तुत करना वांछनीय है।

1. Funk and Wagnalls, Standard Reference Encyclopedia

मनु

कामायनी के ऐतिहासिक पुरुष मनु संकल्पक-विकल्पात्मक मन के प्रतीक हैं। प्रसाद जी ने 'आमुख में' मनु की मननशीलता का संकेत कर दिया है। व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार मन और मनु को समान अर्थ का बोधक माना गया है—'मन्यते अनेन इति मनुः।' उपनिषदों में जीव की अन्तर्यात्रा अन्नमय कोश से आनन्दमय कोश तक बतलाई गई है—अतः मनु मनोमय कोश में स्थिर जीव के भी प्रतीक हैं। जीव की अर्थाभिव्यक्ति के लिये प्रायः चेतना का भी व्यवहार होता है। इस दृष्टि से मन चेतना (consciousness) का परिचायक है। मन के दो प्रमुख रूप हैं—एक सदरूप और दूसरा असदरूप या विरूप। इनका प्रभाव उसकी संकल्प विकल्पात्मक वैचारिक प्रक्रिया पर पड़ता है। इससे मन शिव एवं अशिव पद्य का अनुगामी बन जाता है। कदाचित् इसलिए वैदिक ऋचाओं के मन को शिव-संकल्पों से युक्त बनाये रखने के लिये बार-बार प्रार्थना की गई है—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'। कामायनी में मनु की अवतारणा चिन्तन एवं मनन करते हुए पुरुष के रूप में की गई है। मन की चिन्ता ऐतिहासिक एवं प्रलय विध्वंस जन्य अवश्य है, किन्तु वह वास्तव में मानव मन की ही चिन्ता है। यह चिन्ता मनुष्य को कर्म में प्रवृत्त करती है। चिन्ता मानवता के विकास का द्योतक है। सृष्टि के उन्मीलन के साथ ही मनु के सम्मुख विकास का मार्ग खुल जाता है। मननशील मनु में आशा का स्वर जीवन की पुकार बन कर गूँज उठता है। उनकी अन्तश्चेतना में अपने अस्तित्व एवं अहं तत्त्व का बोध होने लग जाता है। यह अहं ही मनु के व्यक्तित्व का आधारभूत तत्त्व है।

मैं, हूँ यह वरदान सदृश क्यों

लगा गूँजने कानों में!

मैं भी कहने लगा, 'मैं रहूँ'

शाश्वत नभ के गानों में।

अहं भाव मन का कठोर पक्ष है। इससे मनुष्य स्वार्थरत, असामाजिक और उच्छृंखल बन जाता है और आश्चर्य नहीं, वह उसे पतनोन्मुख भी बना दे। इसके विपरीत संवेदना का भाव मन का कोमल पक्ष है। यह भाव मनुष्य को आत्म-विकास की ओर अग्रसर करता है और उसे सामाजिक प्राणी बना देता है। सच तो यह है कि संवेदना उन्मीलन से मन का अहं सामाजिक परिवेश में घुलने लग जाता है। यही कारण है कि मनु अग्निहोत्र से अवशिष्ट अन्न कहीं दूर रख आते थे और यह कल्पना करके सहज सुख पाते थे कि उससे कोई अपरिचित तृप्त होगा। संवेदना के धरातल पर ही मनुष्य, मनुष्य बनकर रह सकता है, अन्यथा वह पशु से कम नहीं है। मानवता के विकास क्रम में मन की संवेदनाशीलता को कवि ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति किया है—

दुःख का गहन पाठ पढ़कर अब

सहानुभूति समझते थे;

सहानुभूति या संवेदना मन के संकल्प और सदरूप की परिणति है, जहाँ अहं सन्तुलित रूप में रहता है। विकल्प और विरूपता की अवस्था में अहं उद्विक्त और उदीप्त हो जाता है। इसके निदर्शन मनु के ही संवादों में उपलब्ध हैं—

विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान्
 सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिपादन।
 किन्तु सकल कृतियों की
 अपनी सीमा है हम ही तो
 पूरी हो कामना हमारी
 विफल प्रयास नहीं तो।

ये ही प्रतीकात्मक मन के मननशील एवं संकल्प-विकल्पमय रूप हैं। इनके अतिरिक्त आस्था, कर्मण्यता, तप, संयम प्रेम, सन्तोष, सदाचार, और सदरूपताएँ और ईर्ष्या, वासना, अतृप्ति, उच्छृंखलता, हिंसा, प्रतिहिंसा, अत्याचार आदि विरूपताएँ भी संकल्प-विकल्पात्मक मन के व्यापक परिवेश में समासित हो जाती हैं। वस्तुतः कामायनी के मनु का सम्पूर्ण कार्यकलाप रूपक-योजना के अन्तर्गत मन का ही कार्यकलाप समझ लेना चाहिये।

श्रद्धा

कामायनी का दूसरा प्रमुख पात्र श्रद्धा है। प्रसाद जी ने श्रद्धा को हृदय का प्रतीक माना है। यास्काचार्य के निर्वचनानुसार सत्य को धारण करने वाली भावना ही श्रद्धा है—‘सत्यमस्याँ धार्यते इति श्रद्धा’। ‘श्रत्’ सत्य का अन्यतम नाम है। उसका धारण करना ही श्रद्धा है। ऋग्वेद में ‘आकूति’ नामक विशिष्ट भावना के द्वारा श्रद्धा को प्राप्त करने तथा श्रद्धा द्वारा परमेश्वर्य के उपलब्ध होने का उल्लेख मिलता है—

श्रद्धा हृदयायाकूत्या श्रद्धया विदन्ते वसु।

प्रसाद जी ने कामायनी के इसी तथ्य के आधार पर श्रद्धा की प्रतीकात्मक कल्पना की है—

हृदय की अनुकृति बाह्या उदार

एक लम्बी काया उन्मुक्त;

कामायनी के अमूर्त पात्र ‘लज्जा’ एवं ‘काम’ ने श्रद्धा के व्यक्तित्व-निर्माण के विश्वास को आधारभूत तत्त्व बताया है। ‘लज्जा’ के अनुसार श्रद्धा विश्वासरूपी पर्वत के पगतल में प्रवाहित होने वाली पीयूष-धारा है। ‘काम’ के अनुसार यह पूर्ण आत्मविश्वासमयी; विश्वास की प्रतिमूर्ति तथा सकल संस्मृति के व्यापक रहस्य हैं। और तो और विश्व का रहस्य भी श्रद्धा से ही जाना जा सकता है प्रजा से नहीं—‘कल्याण भूमि यह लोक, यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा’। सम्भवतः इसी गुण-वैशिष्ट्य के कारण आचार्य शुक्लजी ने श्रद्धा को ‘विश्वास-समन्वित रागात्मिक वृत्ति’ कहा है। चेतन-जगत में भी श्रेष्ठ एवं उदात्त गुण विद्यमान हैं, वे श्रद्धा के व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। इसका संकेत मनु को आत्मसमर्पण करते समय उसी के शब्दों में मिलता है—

दया माया, ममता लो आज,

मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;

हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ

तुम्हारे लिये खुला है पास।

मनु का अहंकार उनके विकास के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक बना रहता है। उसका परिमार्जन श्रद्धा के सहयोग से ही होता है। अहंकार का परिष्कार होते ही मनु संवेदनाओं से संवलित होकर मानवता के अधिक निकट आते हैं। श्रद्धा की अपार उपकृति को मनु इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—

तुमने हँस-हँस मुझे सिखाया।
 विश्व खेल है खेल चलो,
 तुमने मिलकर मुझे बताया, पर
 सब से करते मेल चलो।

मानव-हृदय में उदारता, क्षमाशीलता, अहिंसा, अनुरागात्मकता, सहन-शक्ति, सर्वहित-भावना, आस्था, आस्तिकता आदि जितनी उदात्त भावनाएँ हो सकती हैं उन सबकी जननी श्रद्धा है। इन सबका प्रतीकात्मक रूप मनु की उक्तियों में झलकता है—

तुम देवि! आह कितनी उदार,
 वह मातृ मूर्ति है निर्विकार
 हे सर्वमंगले। तुम महती
 सब का दुःख अपने सिर पर सहती,
 कल्याणमयी वाणी कहती
 तुम क्षमा निलय में हो रहती।

वस्तुतः काम ने श्रद्धा में जिस रहस्य-ज्ञान की क्षमता की ओर संकेत किया है वह रहस्य और कुछ नहीं, समरसता का ही व्यापक सिद्धान्त है। श्रद्धा समरसता की सूत्रधारिणी है। उसी से मन की इच्छा-ज्ञान-क्रियारूपिणी शक्तियाँ समन्वित हो जाती हैं और अखण्ड आनन्द की सृष्टि होती है। यह श्रद्धा के रूपक की अर्थवत्ता है।

इड़ा

कामायनी का तीसरा प्रमुख पात्र—इड़ा। प्रसाद जी ने इड़ा को बुद्धि का प्रतीक माना है। कामायनी के 'आमुख' में इड़ा का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए उन्होंने लिखा है—'लौकिक संस्कृत में इड़ा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदि का पर्यायवाची है।' किन्तु वैदिक तथा लौकिक संस्कृत में कही भी इड़ा का बुद्धिपरक अर्थ उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत में 'इरा' अथवा 'इड़ा' अंग्रेजी में eartha, गाथिक में airtha और एंग्लो-सैक्सन eortha में शब्द मौलिक रूप से हल चलाई गई भूमि अथवा कृषि की गई धरती के अर्थ में प्रयुक्त होते थे।¹ हमारी सम्पत्ति में इड़ा भौतिक कलाओं की अधिष्ठात्री देवी है, परन्तु प्रसाद जी ने उसे बुद्धि का प्रतीक मानकर श्रद्धा के साथ उसका विरोध दिखलाया है। अतः प्रस्तुत प्रसंग में इड़ा को बुद्धि का प्रतीक मानकर ही विवेचन करना समुचित है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण वर्णन बौद्धिक सन्दर्भों में ही किया गया है। इड़ा के व्यक्तित्व के तर्क, ज्ञान-विज्ञान, कर्म, विचार आदि जिन तत्त्वों का उल्लेख हुआ है, वे बुद्धि के प्रतीकार्थ की ही अभिव्यक्ति करते हैं—

1. Lectures on the Science Language, Max-Muller, p. 295

बिखरी अलके ज्यों तर्क-जाल

× × ×

वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान-ज्ञान
था हाथ एक में कर्म कलश वसुधा जीवन रस-सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलम्ब दिये।

मनु के प्रति स्वयं इड़ा की उक्ति भी उनके बौद्धिक व्यक्तित्व को ही प्रतिष्ठित करती है—

जो बुद्धि कहे उसको न मानकर फिर किसके नर शरण जाए।
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय।

इड़ा की प्रेरणा से मनु सारस्वत प्रदेश के पुनर्निर्माण के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं और पूर्णरूप से बुद्धिवाद के अनुयायी बन जाते हैं—

अवलम्ब छोड़कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया

मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया।

मनुष्य जैसे-जैसे बौद्धिक बनता जाता है, वैसे-वैसे उसका अहं तीव्रतर होता जाता है। यही कारण है कि मनु भौतिक सम्पन्नता का श्रेय प्राप्त करके इड़ा पर अतिचार और सारस्वत नगरवासियों पर अत्याचार कर बैठते हैं। इस प्रकार कामायनी के 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्गों में जो घटना-चक्र चलता है, वह बुद्धि-समन्वित अहंवादी मन का ही प्रतिफलन है।

कुमार

कुमार या मानव कामायनी का गौण पात्र है। वह श्रद्धा मनु का आत्मज है और देव-द्वन्द्व का प्रतीक है। उसमें पिता की मननशीलता, माता की आस्तिकता एवं इड़ा की बौद्धिकता समाविष्ट रहती है। इन तत्त्वों से वह विकास की दशा की ओर अग्रसर होता है। वह नव-मानव का प्रतीक बनकर विगत युग की भूलों का प्रतिशोध करने के लिये अवतरित हुआ है—

इस देव द्वन्द्व का वह प्रतीक

मानव! कर ले सब भूल ठीक।

विषम और भ्रमपूर्ण परिस्थितियों में समरसता को प्रतिष्ठित करने का उत्तरदायित्व नव-मानव पर छोड़ दिया जाता है। यही उसके विकासमान व्यक्तित्व का प्रतीकार्थ है।

आकुलि-किलात

आकुलि और किलात असुर पुरोहित हैं। वे निश्चित रूप से मन की आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। वस्तुतः वे मानसिक अन्तर्विरोधों और विसंगतियों के प्रतीक हैं। वे एक और मनु को यश-जैसे श्रेष्ठ कर्म सम्पन्न करने की प्रेरणा देते हैं दूसरी ओर पशुबलि जैसे पाप-कर्म में उन्हें प्रवृत्त करते हैं। इसी प्रकार पहले वे मनु के हितचिन्तक बनकर आते हैं और बाद में सारस्वत प्रदेश में उन्हीं के विरुद्ध विद्रोह का नेतृत्व करते हैं। इनका प्रतीक-रूप अत्यन्त उपयुक्त एवं सफल बन पड़ा है।

पशु

श्रद्धा का कोमल पशु जीव-दया, स्नेह, करुणा का प्रतीक है। पशु-पालन राष्ट्र के व्यापक हित में निहित है। यश में इसकी बलि धर्म-विरुद्ध कार्य है। उनकी हत्या जीने के अधिकारों की हत्या है। कामायनी में पशु का प्रतीक हिंसा-अहिंसा, विकास-हास, सात्विकता-तामसिकता और करुणा-निर्ममता को पूर्णतया अभिव्यक्त करता है।

वृषभ

कामायनी में वृषभ धर्म का प्रतिनिधि है। वैदिक वाङ्मय में वृषभ को शक्ति एवं साधनों का प्रतीक माना गया है। वह महादेव शिव का वाहन नन्दी है। इससे महत्त्व एवं मांगल्य की कामनाओं का वहन करना अभिव्यक्त होता है और साथ ही नन्दी होने के नाते उनका सम्बन्ध मन के चिराकाक्षित आनन्द के साथ जुड़ा हुआ है। सोम लता से आवृत्त वृष का प्रतीक भोग को धर्म-सम्मत बनाने की दशा में सक्षम है। कैलाश-मानसरोवर की पावनतम भूमि में धर्म के प्रतिनिधि वृषभ में उत्सर्ग करने का प्रतीकार्थ है कि धर्म किसी सम्प्रदाय की धरती को और संकीर्ण वस्तु बनाकर न रहे। वह सदा स्वच्छन्द, निर्भय और सबके सुख का व्यापक साधन बनकर विचरण करें—

इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को
उत्सर्ग करेंगे जाकर;
चिर मुक्त रहे यह निर्भय
स्वच्छन्द सदा सुख पाकर।

कैलाश एवं मानस

कामायनी में कैलाश अद्वैतता, अभेदता या एकात्मक सत्ता का प्रतीक है। मनु के शब्दों में—

मनु ने कुछ-कुछ मुस्काकर
कैलास ओर दिखलाया
बोले 'देखो' कि यहाँ पर
कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी
हम केवल एक हमीं हैं।

कामायनी के आनन्द-सर्ग में मानस का प्रयोग मानसरोवर के अर्थ में हुआ है। प्रसाद जी ने 'आमुख' में शतप्रथ-ब्राह्मण का उद्धरण भी दिया है—

“तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मोरोवसर्पणमिति”

यह मानसरोवर मन की समरसता का प्रतीक है। इस प्रकार कैलाश की अद्वैतता और मानसरोवर की समरसता के प्रतीक आनन्द की अखण्डता का सृजन करते हैं।

इन प्रतीकों के अतिरिक्त हिमगिरि, जलप्लावन, देव, त्रिलोक आदि के प्रतीक क्रमशः चिरसमाधि, वासना-अनास्थाजन विध्वंस, भोगपरक इन्द्रियों और इच्छा-ज्ञान-क्रिया एवं स्वप्न-जागरण की पृथक्-पृथक्

विडम्बनापूर्ण सत्ता के द्योतक हैं। कामायनी में सर्गों का विन्यास एवं नामकरण भी प्रतीकात्मक है। इससे मानव की मनोवृत्तियों का एक मनोवैज्ञानिक इतिवृत्त प्रणीत होता है। चिन्ता से आरम्भ करके आनन्द तक मन की ही अन्तर्यात्रा है।

वस्तुतः कामायनी महाकाव्य की प्रतीक-योजना प्रसाद का अत्यन्त सफल प्रयास है। आरम्भ से लेकर अन्त तक उनका ध्यान पात्रों के प्रतीकत्व पर अवस्थित रहा है। इससे उनकी कविता के प्रतिमान दूषित नहीं हुए, अपितु उनका उत्कर्ष बढ़ गया है। कविता के मानवमन का विश्लेषण करना और इसकी ग्रन्थियों को उद्घाटित करना अद्भुत प्रतिभा एवं सतत साधना का फल है। इस महाकाव्य के रूपक तत्त्व की असमितियों पर कतिपय आलोचक दोषारोपण करते हैं। उनका दोषारोपण निराधार नहीं है, परन्तु वह न्याय-संगत भी नहीं है। इस बात का आरम्भ में ही संकेत कर दिया गया है कि काव्य के रूपक-तत्त्व में प्रत्येक घटना एवं भावना की पूर्ण चरितार्थता सम्भव नहीं है। अन्त में यह कहना उचित प्रतीत होता है कि प्रसाद जी की रूपक-योजना साहित्य के क्षेत्र में नवीन आयाम की सृष्टि करने से पूर्ण समर्थ हुई है।

(घ) व्याख्या

पंचभूत का भैरव मिश्रण,

शम्पाओं के शकल-निपात,

उल्का लेकर अमर शक्तियाँ

खोज रही ज्यों खोया प्रातः। (चिन्ता सर्ग)

प्रसंग—प्रस्तुत पक्तियाँ जयशंकर प्रसाद की बहुचर्चित काव्य-कृति 'कामायनी' के 'चिन्ता सर्ग' से उद्धृत हैं। इस सर्ग में कवि ने चिन्ता नामक मनोभाव का यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इस पद में सृष्टि-प्रलय के उपरान्त मनु उसकी भयानकता का वर्णन करते हुए कहते हैं—

व्याख्या—जब इस सृष्टि में प्रलय हो रहा था, उस समय पंचभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) भयानक रूप में मिल रहे थे अर्थात् ये पाँचों तत्त्व निर्माण के स्थान पर संहार निरत थे। आकाश में बिजली कई टुकड़ों में विभक्त होकर धरती पर गिर रही थी। उस दृश्य को देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो दिव्य शक्तियाँ उन (ज्वलनशील खंडों) उल्काओं (पुच्छल तार को) को मशाल की तरह हाथ में लेकर इस अन्धकार में खोये हुए प्रभात को इधर-उधर ढूँढ़ रही हों।

टिप्पणी—

- (1) 'पंचभूत का भैरव मिश्रण' से कवि का अभिप्राय यह है कि प्रलयकाल में ये सभी प्राकृतिक तत्त्व—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु और अग्नि एक साथ मिलकर भयानकता उत्पन्न कर रहे थे। उदाहरणार्थ पृथ्वी का गुण है सब को अपने ऊपर धारण करना, किन्तु इसके विपरीत वह स्वयं ही पाताल में धँसी जा रही थी। जल प्यास अथवा तपन बुझाने के बदले सबको डूबो रहा था। अग्नि पाचन-क्रिया तीव्र करने के बदले सबको भस्म कर रही थी। चारों ओर जल ही जल हो जाने के कारण वायु भी सघन हो गयी थी, जिससे साँस लेने में कठिनाई हो रही थी अर्थात् वायु भी जीवन रक्षा करने का अपना स्वाभाविक गुण खो चुकी थी।

आकाश जो कि सभी प्राणियों को अपनी छत्रछाया प्रदान करता है, वह भी उस क्षण बादलों से घिरा हुआ भयंकरता के साथ अत्यधिक काँप रहा था।

भाव यह है कि भयंकर प्रलय के कारण पाँचो तत्त्वों के वास्तविक गुण प्रायः लुप्त हो गये थे—उन पर भयंकरता का आवरण चढ़ा हुआ था। किन्तु दिव्य शक्तियाँ उनके सत्य रूप को नकार नहीं सकती थी, इसलिए ऐसा लगता था मानो वे खोये हुए प्रभात की खोज कर रही हों।

(2) काव्य की शैली में भीषण रूप की अवतारणा के लिए 'भैरव मिश्रण' शब्द व्यंजनापूर्ण और समर्थ है। इसके प्रयोग से नेत्रों के आगे भयंकर और रौद्र रूप अनायास-उपस्थित हो जाता है।

(3) उल्का लेकर अमर शक्तियाँ खोज रही ज्यों खोया प्रातः उत्प्रेक्षा अलंकार है।

कौन तुम? संसृति-जलनिधि तीर

तरंगों से फेंकी मणि एक

कर रहे निर्जन का चुपचाप

प्रभा की धारा से अभिषेक? (श्रद्धा सर्ग)

प्रसंग—प्रस्तुत पक्तियाँ 'कामायनी' के 'श्रद्धा सर्ग' की प्रारम्भिक पक्तियाँ हैं। इस सर्ग का आरम्भ कवि ने अत्यन्त नाटकीय ढंग से किया है। सृष्टि प्रलय के उपरान्त एकाकी मनु हिमालय पर्वत की एक निर्जन गुफा में बैठे विचारों में तल्लीन है। एक दिन गंधर्वदेसीय कामगोत्रजा बाला श्रद्धा उधर आ निकलती है और मनु के शक्ति-सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाती है। वह ध्यान मग्न मनु का परिचय प्राप्त करने के लिए उससे प्रश्न करती है—

व्याख्या—समुद्र की लहरें जैसे अपने थपेड़ों से मणियों को बाहर फेंक देती हैं उसी प्रकार इस भव-सागर के थपेड़ों से आहत होकर इस सुनसान पर्वतीय प्रदेश रूपी तट पर पड़े हुए हे पुरुष! तुम कौन हो? जिस प्रकार समुद्र-तट पर पड़ी हुई मणि उस नीरव तट को अपनी प्रभा-दीप्ति से आलोकित कर देती है, उसी तरह इस सूने, उजड़े प्रदेश में चुपचाप बैठकर इसे अपनी दिव्य कान्ति से जगमगाने वाले तुम कौन हो?

जल-प्लावन के उपरान्त कथा नायक मनु हिमालय की एक पर्याप्त उन्नत चोटी पर बैठे हैं। यही श्रद्धा का उनसे साक्षात्कार होता है। प्रथम दर्शन में ही मनु उसे उस लोकोत्तर मणि के समान लगते हैं, जिसे अज्ञानवश विश्व-सागर की अविवेकपूर्ण लहरों ने बाहर निकाल फेंका हो। समुद्र की लहरों ने समुद्र के गर्भ से अनेक मणियाँ घोंघ, सीप, शंख आदि बाहर फेंके हैं। किन्तु मनु इन सबसे भिन्न एक मूल्यवान मणि है, क्योंकि वह अपने तेजस्वी व्यक्तित्व से उस सूने, उजड़े प्रदेश का चुपचाप अभिषेक कर रहे हैं। जिसका अभिषेक किया जाता है, उस पर समुद्र के जल की पवित्र धारा उड़ेली जाती है। समस्त सृष्टि जलमग्न होने के कारण एक विशाल समुद्र का रूप धारण किये हुए थी, मनु मानो उसी जल से जन-धन-हीन भू-प्रदेश का अभिषेक (श्री-सम्पन्न) कर रहे हों। सामान्य बनाने की चेष्टा अभिषेक में जन-कोलाहल आवश्यक माना जाता है किन्तु यही कवि ने इसे सामान्य अभिषेक से भिन्न दिखाने के लिए 'निर्जन' और 'चुपचाप' शब्दों का प्रयोग किया है। यही कारण है कि इस अभिषेक में अधिक गम्भीरता और गरिमा का सन्निवेश हो गया है।

टिप्पणी—

- (1) समुद्र की लहरों द्वारा फेंकी एक मूल्यवान मणि से मनु की तुलना करके कवि ने उसकी कांति, दीप्ति आदि की प्रभावोत्पादकता व्यंजित की है। भले ही कुछ विद्वानों ने पुल्लिंग उपमेय—मनु के लिए स्त्रीलिंग उपमान—मणि का प्रयोग होने के कारण इस सादृश्य-योजना को अनुचित माना है। किन्तु इस सादृश्य योजना का साध्य लिंगत्व बोध नहीं है, वरन् मनु की कांति, दीप्ति आदि की प्रभावोत्पादकता को दिखाना है।
- (2) संसृति ने जलनिधि का तथा मनु में मणि का आरोप होने के कारण यहाँ परम्परित रूपक अलंकार है। 'मणि' शब्द श्रेष्ठता का भी द्योतक है—इससे मनु की श्रेष्ठता का परिचय भी मिल जाता है, इसलिए इस शब्द में परिकर अलंकार भी है।
- (3) सम्पूर्ण सर्ग में 13 मात्राओं वाला शृंगार छन्द अपनाया गया है।

यह उजड़ा सूना नगर—प्रान्त

जिसमें सुख-दुःख की परिभाषा विध्वस्त शिल्प-सी हो नितान्त
निज विकृत वक्र रेखाओं से, प्राणी का भाग्य बनी अशान्त
कितनी सुखमय स्मृतियाँ, अपूर्ण रुचि बनकर, मंडराती विकीर्ण
इन ढेरों में दुःखभरी कुरुचि दब रही अभी बन पत्र जीर्ण
आती दुलार को हिचकी सी सूने कानों में कसक भरी
इस सूखे तरु पर मनोवृत्ति आकाश-बेलि सो रही
जीवन समाधि के खण्डहर पर जो जल उठते दीपक आशा से
फिर बुझ जाते थे स्वयं शान्त। (इडा सर्ग)

प्रसंग—प्रस्तुत अवतरण कामायनी के 'इडा सर्ग' से उद्धृत है। इस सर्ग में मनु के संघर्षपूर्ण जीवन का चित्रण किया गया है और यह दिखाया गया है कि श्रद्धा-विहीन मानव किस तरह भटकता हुआ अन्त में बुद्धि का आश्रय लेता है। ईर्ष्यावश श्रद्धा को हिमालय की शून्य गुफा में छोड़कर इधर-उधर भटकते हुए मनु सारस्वत प्रदेश में पहुँचते हैं। प्रलय में विनाश के कारण देवजाति के भव्य-समृद्ध सारस्वत नगर के खण्डहरों का मार्मिक बिम्ब अंकित करते हुए मनु कहते हैं—

व्याख्या—यह सारस्वत देश बुरी तरह उजड़ गया है और बिलकुल सूना पड़ा है। बड़ी-बड़ी भव्य इमारतें नष्ट-भ्रष्ट होकर खण्डहर के रूप में परिणत हो गई हैं। शिल्पकला की उन मूर्तिमान कृतियों को देखकर मनु के समक्ष सुख और दुःख की वास्तविक परिभाषा (सुख की अस्थिर स्थिति और दुःख का वीभत्सस्वरूप) साकार हो रही थी। सुख और दुःख परिवर्तनशील है। आज जिस स्थान पर नीरवता और विनाश का नृत्य हो रहा है वहाँ किसी समय अपार सौन्दर्य भरा हुआ था। सारस्वत देश की इन टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी मनुष्य की दुर्भाग्य सूचक विकृत रेखाएँ हों (दुर्भाग्य की रेखाएँ भी इसी प्रकार वक्र और टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं) उन समृद्धिशाली भवनों के खण्डहरों को देखकर ऐसा लगता है कि यहाँ के निवासी सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे थे, किन्तु इनके आकस्मिक विध्वंस ने उनके सुनहले सपनों को तहस-नहस कर दिया है, अब उनके जीवन की स्मृतियाँ अधूरी इच्छाएँ बनकर इधर-उधर मंडरा रही हैं, जो उनकी अतृप्त आकांक्षा को प्रकट रही है। विशाल भवनों के गिर जाने से वहाँ बड़े-बड़े

ढेर बन गये हैं। इन ढेरों के नीचे अब भी यहीं के निवासियों की अनेक दुःखद भावनाएँ सूखे पत्तों की भाँति दबी पड़ी है जिन्हें इस असामायिक विनाश की आधारशिला भी माना जा सकता है। इन खण्डहरों के कोनों में उन प्राणियों की ठण्डी आह भरी पड़ी है जो कभी यहाँ रहते थे। अब भी इन कोनों में से किसी को दुलार करने के लिए एक ऐसी हिचकी सी निकल रही है जिसमें पीड़ा-टीस, भरी हुई हैं। सारस्वत नगर के खण्डहर रूपी सूखे वृक्षों पर यहाँ के निवासियों के मनोविकार अब भी आकाशबेल की भाँति हरे-भरे हैं। (आकाशबेल जिस किसी भी हरे-भरे पेड़ पर छा जाती है उसे तो शुष्क बनाकर नष्ट कर देती है किन्तु स्वयं हरी-भरी बनी रहती है।) सारस्वत नगर निवासियों के मनोविकारों ने भी इसी प्रकार अपने आश्रयों का तो सर्वनाश कर दिया है किन्तु स्मृति रूप में अब भी अपना अस्तित्व बनाया हुआ है। सारस्वत नगर के वे खण्डहर वहाँ के निवासियों की समाधि जैसे बने हुए हैं, जिनके अन्तर्गत वहाँ के निवासियों का हलचल से परिपूर्ण जीवन इस प्रकार शान्त पड़ा है जैसे किसी समाधि स्थल पर यदि कुछ दीपक जलाये जायें तो कुछ क्षणों के लिए अपना आलोक फैलाते हैं, किन्तु शीघ्र ही स्नेह (तेल) के अभाव में बुझ कर मौन और शान्त हो जाते हैं।

टिप्पणी—

- (1) कवि ने यहाँ सारस्वत देश के खंडहरों की शून्यता एवं निर्जनता का अत्यन्त मर्मस्पर्शी बिम्ब प्रस्तुत किया है।
- (2) 'आकाशबेलि' के सजीव बिम्ब द्वारा मनोवृत्ति का और समाधि के खंडहरों पर जलने वाले दीपक के बिम्ब द्वारा शान्त एवं नष्ट जीवन का सजीव चित्रण किया गया है।
- (3) आकाश-बेलि-सी, शिल्प-सी में उपमा अलंकार है। 'कुरुचि दब रही.....पत्रजीर्ण' पद में रूपक अलंकार है। 'जीवन समाधि....स्वयं शान्त' में दृष्टान्त अलंकार है।

सम्भावित प्रश्न

1. 'कामायनी' की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए 'प्रसाद' के आनन्दवाद का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. "मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक महत्त्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"—(प्रसाद)। 'ऐतिहासिक महत्त्व' और 'सांकेतिक अर्थ' पर विशेष विचार करते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. 'कामायनी' की कथा के ऐतिहासिक, पौराणिक एवं काल्पनिक तत्वों का विश्लेषण करते हुए उसकी वस्तु-संघटना का विवेचन कीजिए।
4. "'कामायनी' में प्रसाद जी ने अपने प्रिय 'आनन्दवाद' की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है"—आचार्य शुक्ल के इस मत की सार्थकता पर विचार करते हुए 'कामायनी' में प्रतिपादित आनन्द के स्वरूप की व्याख्या कीजिए।
5. छायावादी काव्य की विशेषताओं के आधार पर 'कामायनी' का मूल्यांकन कीजिए।

विशेष अध्ययनार्थ सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ-डॉ. नगेन्द्र
2. कामायनी-दर्शन-प्रो. कन्हैयालाल सहल एवं डॉ. विजयेन्द्र स्नातक
3. कामायनी में काव्य, संस्कृति और दर्शन-डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना
4. कामायनी की परिभाषिक शब्दावली-डॉ. वेदज्ञ शर्मा
5. प्रसाद की कामायनी-डॉ. मुंशीराम शर्मा

(ड) कामायनी रचना की पृष्ठभूमि

—डॉ. रेणुबाला

प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
आत्माराम सनातन धर्म कॉलेज

श्री जयशंकर प्रसाद का जन्म सन् 1889 में वाराणसी में हुआ था और उनका निधन उनके निवास स्थान काशी में सन् 1937 ई. में हुआ। वंश-परंपरा से इनके परिवार में सुंघनी-सुरती का व्यापार होता था। इसलिए इनके पूर्वज सुंघनी साहू नाम से विख्यात थे। प्रसाद जी को भी जीविका-उपार्जन के लिए अपना पारिवारिक व्यवसाय स्वीकार करना पड़ा। प्रसाद जी की किशोरावस्था में ही उनके माता-पिता का देहांत हो गया था, इसलिए उन्हें पन्द्रह वर्ष की आयु में ही स्कूल छोड़कर घर-गृहस्थी का दायित्व संभालना पड़ा। लेकिन अध्ययन में गहरी रुचि के कारण इन्होंने स्वाध्याय को नहीं छोड़ा और घर पर रहकर ही हिंदी, संस्कृत, अंग्रेजी, बंगला इत्यादि भाषाओं और उनके साहित्य का गहन अध्ययन किया, जिसका असर उनकी रचनाओं पर दिखलायी पड़ता है। पुरातत्त्व और भारत का प्राचीन इतिहास उनका प्रिय विषय रहा है तथा इसका उपयोग उन्होंने अपने नाटकों और काव्यों में किया है। प्रसाद जी का साहित्यिक जीवन 'इन्दु' पत्रिका से प्रकाश में आया। 'इन्दु' मासिक पत्रिका थी। इसके सम्पादक और प्रकाशक उनके भांजे अम्बिका प्रसाद गुप्त थे, लेकिन "प्रसाद की योजना के अनुसार उसका समस्त कार्य होता था।" (*प्रेमशंकर, प्रसाद का काव्य*, पृ. 32)

प्रसाद जी के जीवनकाल को देखें तो उनका समय उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग से लेकर बीसवीं सदी के लगभग पूर्वार्द्ध के कुछ वर्ष पहले तक का ठहरता है। इस समय को हिंदी नवजागरण का काल माना जाता है। वैसे देखा जाए तो यह भारतेन्दु-युग से प्रगतिवाद की शुरुआत तक का समय है, लेकिन प्रसाद जी की रचनाएँ द्विवेदी-युग में सामने आने लगी थीं और ज्यादातर छायावाद के दौर में ही सामने आयीं। हिंदी नवजागरण में जिस तरह मनुष्य और जीवन-जगत का केन्द्रीय महत्त्व, तर्कपरक दृष्टिकोण के चलते रूढ़िवाद-विरोध, सामाजिक विकास की चिंता तथा देश की स्वाधीनता प्रमुख विशेषताएँ नजर आती हैं, उसी तरह स्वच्छंदतावादी वैयक्तिकता की अभिव्यक्ति, संस्कृति के अतीत गौरव का उद्घाटन और उसके प्रति आलोचनात्मक रवैया तथा ब्रजभाषा से संघर्ष करती हुई खड़ी बोली नामक काव्यभाषा विकसित और प्रतिष्ठित होती हुई दिखलायी पड़ती है। प्रसाद जी की प्रारंभिक रचनाएँ "चित्राधार" और "प्रेमपथिक" ब्रजभाषा में ही लिखी गयी हैं, लेकिन इनके उपरांत इन्होंने खड़ी बोली को ही अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया है और निरंतर काव्य-भाषा के रूप में खड़ी बोली को समृद्ध किया है। "कानन-कुसुम" प्रसाद जी की खड़ी बोली कविताओं का पहला संग्रह है, फिर 'करुणालय', 'महाराणा का महत्त्व', 'आँसू', 'झरना', "लहर" और "कामायनी" नामक रचनाएँ खड़ी बोली में रचित प्रसाद जी ने हिंदी जगत को प्रदान की हैं। प्रसाद जी में नवजागरण की समस्त प्रवृत्तियों के रहते हुए भी दो रुझान अधिक मुखर रहे हैं—आत्माभिव्यक्ति और भारतीय अतीत का उद्घाटन। प्रसाद जी की ब्रजभाषा में लिखी कविताओं में "वन मिलन", "अयोध्या का उद्धार" इत्यादि आख्यानपरक कविताएँ हैं तो "पराग" तथा "मकरंद बिन्दु" जैसी प्रकृतिपरक कविताएँ भी हैं। प्रसाद जी की ब्रजभाषा में लिखी कविताएँ भी विषय की दृष्टि से विविधता

लिए हुए हैं, वे रीतिकालीन कविताओं से भिन्न हैं। प्रसाद जी ने ऐसी कविताओं में कल्पना-सुख, मानस, नीरव प्रेम इत्यादि नवीन विषयों को लिया है, प्रकृति को सिर्फ उद्दीपन न बनाकर उसके अनेक सुंदर रूपों को जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखा है, साथ ही अपने अतीत के प्रति दृष्टि डालते हुए काव्य-संवेदना को विस्तार दिया है। प्रसाद जी की खड़ी बोली की कविताओं में “कानन-कुसुम” में जहाँ विभिन्न दशाओं का चित्रण है, वहाँ “आँसू” में वैयक्तिक अनुभूतियों का प्रकाशन और “झरना” में उत्थान-पतन, आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि की भावनाएँ प्रवाहित होती हुई नजर आती हैं। “लहर” नामक काव्य-संग्रह में प्रसाद जी के प्रेम संबंधी गीतों के अतिरिक्त ऐतिहासिक और दार्शनिक चित्र भी पाए जाते हैं। इस संग्रह में “शेर सिंह का आत्म समर्पण”, “पेशोला की प्रतिध्वनि” जैसी ऐतिहासिक कविताएँ हैं तो “अशोक की चिंता” जैसी दार्शनिक कविता भी है। यही नहीं, उनकी प्रसिद्ध कविता “प्रलय की छाया” भी इसी संग्रह में संकलित है जिसमें कमलावती के सूक्ष्म मनोविज्ञान का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। “कामायनी” प्रसाद जी की सबसे प्रौढ़ रचना है। यह मूलतः एक आख्यानपरक रचना है। लेकिन इसमें पुराण, इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, स्वच्छंद-प्रवृत्ति, वैयक्तिक इच्छा-आकांक्षा और भावना तथा युग की विषमता के साथ-साथ जीवन-जगत की मंगल-कामना इत्यादि का संगुफन पाया जाता है। “कामायनी” का लेखन बीसवीं सदी के द्वितीय दशक के उत्तरार्द्ध में कभी आरंभ हुआ होगा, क्योंकि सम्पूर्ण “चिंता सर्ग”, “सुधा” (अक्टूबर 1928) में प्रकाशित हुआ। 1935 में इसका लेखन-कार्य समाप्त हुआ और लगभग उसी समय इसका प्रकाशन। इस तरह कामायनी की पृष्ठभूमि बीसवीं सदी के दूसरे से लेकर चौथे दशक तक फैली हुई है। (*प्रेमशंकर कामायनी*-सं. कल्याणमल लोढ़ा, पृ. 189)

बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में न सिर्फ भारत में पूँजीवाद का विकास हुआ, वरन् औद्योगिक बुर्जुआजी, मजदूर वर्ग तथा मध्यवर्ग भारतीय समाज के नवीन वर्ग बन गए। यही नहीं, इन दशकों तक आते-आते किसानों की दशा और बदतर हुई। किसानों पर कर और जनसंख्या का दबाव बढ़ा, लेकिन कृषि संबंधी तकनीक में कोई सुधार नहीं हुआ, परिणामतया किसानों में भुखमरी बढ़ी और उपनिवेशवादियों से और उनके द्वारा समर्थित सामंतों से उनका अन्तर्विरोध और तीव्र हुआ। भारत की विकट परिस्थितियों ने और देश-विदेश की विभिन्न घटनाओं ने बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में भारत में एक जन उभार में मदद पहुँचायी। इसका उल्लेख करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि “तृतीय उत्थान (1918-36) में आकर परिस्थिति बहुत बदल गयी। आंदोलनों ने सक्रिय रूप धारण किया और गाँव-गाँव में राजनीतिक और आर्थिक परतंत्रता के विरोध की भावना जगायी गयी, अब जो आंदोलन चले वे सामान्य जनसमुदायों को भी साथ लेकर चले। इससे उनके भीतर अधिक आवेश और बल का संचार हुआ। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आंदोलन संसार के और भागों में चलने वाले आंदोलनों के मेल में लाए गए, जिससे ये क्षोभ की एक सार्वभौम धारा की शाखाओं से प्रतीत हुए। वर्तमान सभ्यता और लोक की घोर आर्थिक विषमता से जो असंतोष का ऊँचा स्वर पश्चिम में उठा, उसकी गूँज यहाँ भी पहुँची। अब संसार में प्रायः सारे सभ्य भाग एक-दूसरे के लिए खुले हुए हैं। इससे एक भूखंड में उठी हुई हवाएँ दूसरे भूखंड में शिक्षित वर्गों तक तो अवश्य ही पहुँच जाती हैं यदि उनका सामंजस्य दूसरे भूखंड की परिस्थिति के साथ हो जाता है तो उस परिस्थिति के अनुरूप शक्तिशाली आंदोलन चल पड़ते हैं। इसी नियम के अनुसार शोषक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन के अतिरिक्त यहाँ भी किसान आंदोलन, मजदूर

आंदोलन, अछूत आंदोलन इत्यादि एक मिनट परिवर्तनवाद के नाना व्यावहारिक अंगों के रूप में चले। (हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ. 438)

बीसवीं सदी के तीसरे और चौथे दशकों में भारत के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन में प्रचंड उभार आया और गरम विचार पनपे, पूँजीवाद का आम संकट गहरा हुआ, औपनिवेशिक प्रणाली ढहने लगी, रूस की 1917 की अक्टूबर क्रांति के विचारों और सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण के अनुभवों का प्रभाव बढ़ता गया। इसके चलते मेहनतकशों की सामाजिक मुक्ति के कार्यक्रमों तथा समाजवादी नारों और आदर्शों का प्रचार-प्रसार होने लगा, जिसका संकेत आचार्य शुक्ल ने किया है। इसी दौरान भारतीय देशभक्तों व प्रजातंत्रवादियों के मन में विदेशी प्रभुत्व को उखाड़ फेंकने के लिए सशस्त्र संघर्ष का विचार जड़ें जमा रहा था। अनेक प्रांतों में गुप्त-सोसायटी-भूमिगत संगठन, जिनका लक्ष्य सशस्त्र विद्रोह की तैयारी करना था, भी बनी। यह अकारण नहीं है कि प्रसाद जी ने 'कामायनी' में सशस्त्र संघर्ष का चित्रण किया है।

“कामायनी” के संदर्भ में उक्त सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि के अतिरिक्त सांस्कृतिक साहित्यिक पृष्ठभूमि भी बहुत महत्व रखती है। “कामायनी” छायावाद की एक प्रौढ़ कृति है, इसलिए छायावाद के स्वरूप का विवेचन तो अनिवार्य है ही, पर कामायनी को सिर्फ छायावादी पृष्ठभूमि तक सीमित करके देखना उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि उसमें न सिर्फ नवजागरण की केन्द्रीय विशेषता मनुष्य और जीवन-जगत की प्रतिष्ठा है, वरन् एक सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की सशक्त अभिव्यक्ति भी मिलती है। इसलिए “कामायनी” की पृष्ठभूमि के संबंध में स्वच्छंदतावाद को भी समझना बहुत जरूरी है। इसकी ओर इशारा करते हुए श्री रमेशचंद्र शाह ने लिखा है कि “प्रसाद जिस युग में कविता करने लगे, वह युग-प्रसाद जिस संस्कृति के कवि हैं—उस संस्कृति की संध्या सरीखा है। हम पाते हैं कि हमारे जातीय सांस्कृतिक इतिहास की सबसे प्रखर आत्म-चेतना प्रसाद में ही मिलती है।” (छायावाद की प्रासंगिकता, पृ. 26)

“कामायनी” की पृष्ठभूमि के संदर्भ में छायावादी युग के साथ-साथ 19वीं शताब्दी के नवजागरण की आवश्यकता पर बल देते हुए श्री प्रेमशंकर ने भी लिखा है कि “कामायनी” छायावाद युग की कृति है, जिसमें हिंदी स्वच्छंदतावाद की दो प्रमुख मुद्राएँ देखी जा सकती हैं, सांस्कृतिक और रोमानी। यह स्वीकारते हुए भी कि छायावाद मध्यवर्गीय मनोवृत्ति के उदय का काल है, हमें मानना होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवजागरण से उसे जोड़ना अधिक उचित है, इस सांस्कृतिक नवजागरण में सामाजिक सुधार की भावना केवल उसका बाह्य पक्ष है, जो राष्ट्रीयता से भी गहरे ढंग से जुड़ी है। पर इस सांस्कृतिक अभियान का अधिक सूक्ष्म स्वरूप भी है जब भारतीय मनीषा ने अपने इतिहास, धर्म, संस्कृति, साहित्य, कला को नए ढंग से पहचानने की कोशिश की।” (कामायनी सं. लोढ़ा) इस दृष्टि से भी “कामायनी” को समझने के लिए स्वच्छंदतावाद और छायावाद—दोनों के स्वरूप का विश्लेषण आवश्यक ही नहीं, वरन् अनिवार्य है।

स्वच्छंदतावाद

नवजागरण की साहित्यिक अभिव्यक्ति स्वच्छंदतावाद है। आधुनिक काल की शुरुआत के साथ ही हिंदी साहित्य में जो स्वच्छंदतावाद आया, छायावाद उसकी चरम परिणति है। हिंदी में स्वच्छंदतावाद शब्द का प्रयोग प्रायः “रोमांटिसिज्म” के अर्थ में होता है। अंग्रेजी में इस शब्द की व्युत्पत्ति “रोमांस” शब्द से हुई

है। रोमांटिक तथा रोमांटिसिज्म दोनों का मूल उद्गम शब्द रोमांस ही है। रोमांस लैटिन शब्द “रोमना” से निःसृत है। रोमांटिक शब्द रोमांस शब्द से निःसृत होकर रोमांटिक का रूप धारण करता है। (एम्बरक्राम्बी लासेल, *रोमांटिसिज्म*, पृ. 12) वह साहित्य जो रूढ़ियों और परम्पराओं का विरोध करता है, स्वच्छंदतावादी कहलाता है। स्वच्छंदतावाद काव्य का एक प्रकार ही नहीं काव्य का एक तत्त्व भी है। (फ्रेडरिक श्लेगल, *रोमांटिसिज्म इन पर्सवेक्टिव*, पृ. 317) जो प्रत्येक युग में पाया जाता है। नवजागरण काल से पूर्व स्वच्छंदतावाद काव्य में एक तत्त्व के रूप में विद्यमान था। नवजागरण काल में, पूँजीवाद के उदय के साथ वह एक साहित्यिक आन्दोलन के रूप में आया।

अपने आरम्भिक विकास के दौरान पूँजीवाद सामंतवाद-विरोधी भूमिका अदा करता है, फलस्वरूप प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसान की मुक्ति को बढ़ावा मिलता है। पूँजीवाद के विकास-क्रम में नई शिक्षा का चलन मध्यवर्ग को विकसित करता है। किसान और मध्यवर्ग दोनों को मुक्ति का बोध होता है। यह मुक्ति ‘व्यक्तिगत’ भी होती है और ‘सामूहिक भी’। किसान और मध्यवर्ग के इस स्वतन्त्रता-बोध का प्रतिफल होता है स्वच्छंदतावाद। स्वभावतः स्वच्छंदतावादी पूँजीवादी क्रान्ति का परिणाम तो अवश्य होता है, परन्तु वह पूँजीवादी मूल्यों को अनिवार्यतः वहन करने वाला नहीं होता।

स्वच्छंदतावाद के मूल में फ्रांसीसी क्रान्ति से उत्पन्न होने वाली मानववादी भावनाएँ हैं। स्वच्छंदतावादी आंदोलन एक सम्पूर्ण जीवनदृष्टि को लेकर चला और उसने अभिव्यक्ति की सभी विधाओं—साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला, स्थापत्य, संगीत को प्रभावित किया। साहित्य के क्षेत्र में स्वच्छंदतावाद ने सभी प्रकार की रूढ़ियों—कलागत और विषयगत का विरोध किया।

स्वच्छंदतावाद, अभिजात्यवाद का विरोधी है। फ्रेडरिक श्लेगल ने रोमांटिक का सर्वप्रथम प्रयोग 1798 ई. में क्लासिक के साथ-साथ कविता की नयी तथा पुरानी धारा में भेद को स्पष्ट करने के लिए किया, जो एक दूसरे का विलोम था। (द *एन्साईक्लोपीडिया ऑफ अमेरिकाना*, पृ. 655) क्लासिकल साहित्य में जातीय विवेक, परम्परागत संस्कृति तथा शास्त्रीयता की सुरक्षा का भाव मिलता है। इसके विपरीत रोमांटिक साहित्य में कल्पना और आवेग के आधिक्य के साथ-साथ शास्त्रीयता का खण्डन मिलता है। टी. ई. हुलुम ने अपनी पुस्तक “स्पेकुलेशन्स” में रोमांटिक तथा क्लासिक पर नये दृष्टिकोण से विचार किया है। उसके अनुसार जहाँ मानव की परिसीमाओं को स्वीकार कर उसे प्रकृति के अधीन माना गया है, हमें क्लासिक विचारधारा मिलेगी तथा जहाँ मानवीय जीवन को अनन्त संभावनाओं का केन्द्र माना गया है हम रोमांटिक विचारधारा पायेंगे। (पृ. 118)। श्री नंददुलारे वाजपेयी के अनुसार, “इतिहास की दृष्टि से जबकि समाज नियमों से शासित था, धर्म से नियंत्रित था और राज्यसत्ता द्वारा जकड़ा हुआ था, नियमों का अनुवर्तन करने वाली क्लासिक शैली का प्राधान्य था। इन नियमों को तोड़ने वाली, परम्परा का तिरस्कार करने, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का प्रतीक आधुनिक काव्यधारा रोमांटिक (लालसा स्वच्छंद) कही जाती है। 1789 की तिथि इन दो विचारधाराओं की भेदक है। रूसो रोमांटिक धारा का प्रथम प्रतिनिधि था।”

(*हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी*, पृ. 387) फ्रांस की पूँजीवादी क्रान्ति, रूसो वाल्टेयर और गेटे ने स्वच्छंदतावाद को एक नयी दिशा तथा शक्ति प्रदान की है।

हिन्दी काव्यधारा में स्वच्छंदतावाद की अभिव्यक्ति आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई। यानी शास्त्र के अनुसरण के बजाय कवियों ने व्यक्तिगत अनुभवों को महत्त्व दिया। उन्होंने शृंगारिक कृत्रिमता के बजाय अपनी प्रेमानुभूति को व्यक्त किया। भारतेन्दु की प्रेम संबंधी कविताएँ रीतिवादी शृंगार से भिन्न हैं। अपने

समाज की दुर्दशा और जनसाधारण विशेषतया किसानों के कष्टों का वर्णन भी इन कवियों के कटु अनुभवों का प्रमाण है। अकाल, टैक्स, महामारी—“चहुँदिसी काल परयो भारत में।” “भय उपज्यो महामारी को” और “कृषक-क्रंदन” को बहुत नजदीक से देखा और सुना है। इन कवियों ने कल्लू अल्हैत, “अनाथ”, “विधवा” और “कृषक बधूटी” इत्यादि कविताओं में दलित-पीड़ित जन की गाथा का रचनात्मक प्रयास किया है। ऐसा करते हुए इन कवियों ने रीतिवादी-रूढ़िवाद से हिंदी कविता को बाहर निकाला है और शास्त्र के बजाय मनुष्य से सम्बद्ध किया है। प्रसाद जी ने भी ‘कामायनी’ में किसानों के कष्टों को चित्रित किया है जिनको ‘जर्जर’ बना दिया गया है, जिन पर निर्मम अत्याचार किया गया है। स्त्री भी जन साधारण का लम्बे अर्से से एक अनिवार्य हिस्सा रही है। मनु न सिर्फ गर्भवती श्रद्धा को असहाय और अकेला छोड़ता है, वरन् इड़ा के स्वत्व को भी छीनने का प्रयास करता है। प्रजा अपनी और इड़ा की स्थिति का बयान यों करती है—

“प्रकृति शक्ति तुमने यंत्रों से सब की छीनी।
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।
और इड़ा पर यह क्या अत्याचार किया है।”

इस यथार्थ-वर्णन के अतिरिक्त कामायनी में जिस “काम” की उपस्थिति है, वह रीतिवादी शृंगार से भिन्न है। जहाँ रीतिवादी शृंगार कृत्रिमता से युक्त और जीवन से रहित है, वहाँ “कामायनी” का “काम” सहज और जीवनोन्मुख है। वह प्रेम-भावना के साथ-साथ जीवन-कर्म का भी पर्याय है श्रद्धा मनु से कहती है—

“जटिलताओं का कर अनुमान
काम से झिझक रहे हो आज।”

यानी “काम” का संबंध भोग-विलास से नहीं बल्कि जीवन की जटिलताओं से है। यह स्पर्श, रूप, रस, गंध भरा होने के साथ-साथ यह “साधक कर्म” भी है जो “विश्व कर्म-रंगस्थल” में सक्रिय है। यानी वह रीतिवादी-रूढ़िवाद विरोधी है जो कि स्वच्छंदतावाद का मुख्य स्वरूप है।

स्वच्छंदतावादी काव्यधारा में अनुभव की प्रामाणिकता न सिर्फ जीवन-यथार्थ की अभिव्यक्ति में पायी जाती है, वरन् उसके प्रकृति-चित्रण में भी मौजूद है। श्रीधर पाठक ने “काश्मीर सुषमा”, “देहरादून”, “वनाष्टक” और “सांध्य-अटन” में आँखों देखी प्रकृति का वर्णन और चित्रण किया है। उनमें प्रकृति-प्रेम इतना अधिक है कि उसके विविध रूपों को देखने के लिए उनके “चित” में “चाव” चढ़ा रहता है और फूलों को खिलता देखकर उनका चित्त भी खिल उठता है—

“चहुँदिसि खिलित पहुँपवा नव छवि धारि,
जिउ भयौ अति प्रफुलितवा सुछवि निहारि।”

श्री रामनरेश त्रिपाठी के ‘पथिक’ का नायक तो प्रकृति-प्रेम में घर-त्याग ही कर देता है। यह प्रकृति-प्रेम स्वच्छंदतावाद का पर्याय बन गया है। स्वच्छंदतावाद में प्रकृति को इतना महत्त्व दिया गया है कि स्वच्छंदतावादी काव्य को प्रकृति का काव्य ही कहा जाने लगा। आचार्य शुक्ल ने स्वाभाविक स्वच्छंदतावाद के लक्षण बताते हुए कहा कि “प्रकृति-प्रांगण के चर-अचर प्राणियों का रागपूर्ण परिचय, उनकी गतिविधि पर आत्मीयता-व्यंजक दृष्टिपात सुख-दुःख में उनके साहचर्य की भावना पे सब बातें स्वाभाविक स्वच्छंदतावाद के पथ-चिह्न हैं।” (*हिंदी साहित्य का इतिहास*, पृ. 573)। इन कवियों द्वारा प्रकृति को स्वतंत्र

विषय बनाना, इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसके माध्यम से कविता में लौकिकता को अभिव्यक्ति मिली है, कविता रीतिवाद के संकुचित दायरे से बाहर निकली है और इससे स्वतंत्रता-बोध को अभिव्यक्त किया गया है। प्रसाद जी ने “कामायनी” में प्रकृति को भावों, चरित्रों और घटनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं बनाया है, वरन् वह एक स्वतंत्र अस्तित्व भी रखती है, वह एक पात्र के रूप में सक्रिय दिखाई पड़ती है—कहीं वह पराधीनता, अन्याय और अत्याचार का विरोध करती हुई प्रलयकारी हो उठती है यानी “जल-प्लावन” के रूप में सामने आती है—

“दिग्दाहों से धूम उठे, या/जलधर उठे क्षितिज तट के
सघन गगन में भीम प्रकंपन/झंझा के चलते झटके।”

और कहीं समरसता कायम होने पर प्रकृति नृत्य करती हुई दिखाई पड़ती है “बल्लरियाँ नृत्य निरत थीं/बिखरी सुगंध की लहरें”। यही नहीं; “कामायनी” में प्रकृति को इतना महत्त्व दिया गया है कि उसकी शुरुआत हिमालय से होती है और अंत भी हिमालय पर ही होता है। यानी “कामायनी” एक ऐसी कृति है जो हिमालय से हिमालय तक की-प्रकृति से प्रकृति तक की यात्रा करती है। इसकी बाह्य और आंतरिक संरचना निराला की ‘तुलसीदास’ कविता की तरह ही प्रकृति से निर्मित होती है—हिमालय जल, भूमि और फिर हिमालय, “कामायनी” की यही बाह्य संरचना है। इस तरह प्रकृति का “कामायनी” में यह स्वतंत्र रूप और महत्त्व हिंदी कविता को रीतिवादी संकुचित दायरे से बाहर निकालने, उसे जीवन-जगत में प्रतिष्ठित करने तथा स्वयं प्रकृति को भी उद्दीपन की कैद से मुक्त करने का उल्लेखनीय कार्य करता है।

स्वच्छंदतावादी कविता की एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है अपने अतीत का उद्घाटन। डॉ. कुमार विमल ने अपने शोध-प्रबंध ‘छायावाद का सौन्दर्य शास्त्रीय अध्ययन’ में कहा है कि “प्रत्येक देश की रोमांटिक कविता अपनी पीठ पर आँख लेकर पैदा होती है, अर्थात् वह अपने देश के अतीत को बहुत ही लुभावनी दृष्टि से देखती है या कि पुरातना के व्यामोह से ग्रस्त रहती है।” (पृ. 36) यह अतीत दृष्टि या पुनरुत्थान के स्वर वैदिकज्ञान से लेकर पुराण और मध्यकालीन इतिहास तक को अपने भीतर समेटे हुए है। उसमें कहीं वैदिक ज्ञान के नष्ट हो जाने का दुःख है—“बर वैदिक बोध बिलाय गयो,” तो कहीं अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा है—“संसार को पहले हमी ने ज्ञान-भिक्षा दान की” और कहीं अतीत-महत्त्व को उजागर करते हुए देशभक्ति की अभिव्यक्ति की—“हम क्या थे! क्या हो गये!” डॉ. नामवर सिंह ने सही लिखा है कि “हर पराधीन देश में राष्ट्रीयता की भावना का उदय पुनरुत्थान-भावना से होता है।” (छायावाद, पृ. 72) इस पुनरुत्थान-भावना की वजह से अनेक कवियों ने पौराणिक आख्यानों और ऐतिहासिक प्रसंगों को आधार बनाकर अनेक प्रबंधों की रचना की। “प्रियप्रवास”, “साकेत”, “जय-भारत”, “यशोधरा” और “जयद्रथ-वध” इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

श्री जयशंकर प्रसाद की रचना “कामायनी” भी पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। इसमें ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण और भागवत पुराण इत्यादि से मनु और श्रद्धा की कथा का आधार और ढाँचा लिया गया है। स्वयं कवि प्रसाद ने भूमिका में स्पष्ट किया है कि “आर्य-साहित्य में मानवों के आदि पुरुष मनु का इतिहास वेदों से लेकर पुराण और इतिहासों में बिखरा हुआ है” (कामायनी, आमुख)। अतीत-गौरव और सुख के चले जाने का दुःख ‘कामायनी’ में गूँजता है—“गया सभी कुछ गया मधुरतम।” लेकिन इसमें सिर्फ अतीत के प्रति लुभावनी दृष्टि ही नहीं है, सिर्फ उसके गौरव के चले जाने का ही दुःख नहीं है, वरन् अतीत-ग्रहण में उचित-अनुचित का विवेक भी शामिल है। कामायनी का प्रमुख पात्र मनु इस

अतीत-अनुचित का विवेक भी शामिल है। कामायनी का प्रमुख पात्र मनु इस अतीत-गौरव के नष्ट हो जाने के कारणों पर विचार करता है और पाता है कि वह अमानवीय और कर्महीन हो गया था, उसमें निर्बाध भोग-विलास की अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी, जिसकी अनिवार्य परिणति थी उसका पतन भरी हुई “वासना-सरिता” के “मदमत्त प्रवाह” का तो संगम “प्रलय-जलधि” में होना ही था। इसलिए वह अतीत की जितनी फिक्र करता है, उतना ही अवसाद से वह घिर उठता है—

“चिन्ता करता हूँ मैं जितनी
उस अतीत की, उस सुख की,
उतनी ही अनंत में बनती
जाती रेखायें दुःख की।”

“कामायनी” के अतिरिक्त प्रसाद जी की लम्बी कविताओं ‘पेशोला की प्रतिध्वनि’ और “शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण” में भी पुनरुत्थान-भावना मौजूद है। ऐसा जान पड़ता है कि पुनरुत्थान-भावना प्रसाद में सबसे अधिक थी। “चंद्रगुप्त”, “स्कंदगुप्त” आदि अनेक ऐतिहासिक नाटकों द्वारा उन्होंने जातीय जागरण के प्रसार में सहयोग तो दिया ही, इस भावना के उन्होंने नाटकों में कई गीत भी लिखे। “स्कंदगुप्त” के प्रसिद्ध गीत “हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार” में प्रसाद जी ने बताया है कि संस्कृति का जन्म सबसे पहले भारत में ही हुआ। इस तरह, प्रसाद जी ने अतीत-उद्घाटन के जरिये न सिर्फ आत्म-गौरव को जगाया, वरन् उसके प्रति एक सजग विवेक भी उत्पन्न किया। “निश्चय ही प्रसाद ने अतीत का गौरव गान किया है, किंतु वे उस तरह अतीत जीवी नहीं थे। अतीत इस कवि के लिए उस तरह अतीत है भी नहीं। नहीं तो अन्य कवियों की तरह वे भी वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाते दिखाई देते। जबकि उनकी रचनाओं में अतीत इस तरह स्पंदित और सृजित है मानो वह वर्तमान की ही बात हो। कुछ कवियों में अतीत से तादात्म्य की-अतीत के माध्यम से आत्म स्थितियों के साक्षात्कार की क्षमता स्वाभाविक और जन्मजात होती है। प्रसाद ऐसे ही कवि हैं।” (रमेश चंद्र शाह, *छायावाद की प्रासंगिकता*, पृ. 25)

स्वच्छंदतावादी कविता ने सिर्फ विषयगत रूढ़ि का ही विरोध नहीं किया, वरन् उन्होंने छंद संबंधी कलागत रूढ़ि को भी तोड़ा। उन्होंने लोक प्रचलित रूपों लावनी, फाग और मुकरियों में अनेक कविताएँ लिखीं तथा महावीर प्रसाद द्विवेदी ने “कल्लू-अल्हैत” नामक कविता आल्हा में लिखी और श्रीधर पाठक ने “जगत-सच्चाई-सार” तथा “एकांतवासी योगी” की रचना जिस छंद में की उसका स्रोत लावनी है। “पंत, प्रसाद, निराला और महादेवी ने अधिकांशतः जो तीस-इकतीस मात्राओं वाला छंद थोड़े-बहुत अंतर के साथ लिखा है, वह कहीं तो लावनी के नजदीक है और कहीं आल्हा के।” (डॉ. नामवर सिंह, *छायावाद*, पृ. 125)। “कामायनी” में “चिन्ता सर्ग” के छंद के मूल में आल्हा है तो “आशा” और “स्वप्न” सर्ग के छंद के मूल में लावनी को देखा जा सकता है।

“छायावाद” वास्तव में स्वच्छंदतावादी कविता का ही स्वाभाविक लेकिन उच्चतम विकास है। उसमें पायी जाने वाली प्रवृत्तियाँ प्रकृति-प्रेम, आत्माभिव्यक्ति, देश-प्रेम, नये काव्य रूपों और छंदों का उन्मेष तथा खड़ी बोली की काव्य-प्रतिष्ठा-स्वच्छंदतावादी कविता का ही अधिक विकसित रूप है। हाँ, छायावादी कविता में आकर रहस्य और प्रतीकवाद की नयी विशेषताएँ जरूर जुड़ी हैं।

छायावाद

छायावाद का आरम्भ सन् 1920 के आसपास से माना जाता है। “छायावाद” नाम का सर्वप्रथम उल्लेख सन् 1920 में जबलपुर से प्रकाशित होने वाली पत्रिका “श्रीशारदा” में मुकुटधर पाण्डेय के चार निबंधों में, जो क्रमशः जुलाई, सितम्बर, नवम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित हुए, मिलता है। अपने दूसरे निबंध “छायावाद क्या है,” में मुकुटधर पाण्डेय ने कहा—अंग्रेजी या किसी पाश्चात्य साहित्य अथवा बंग साहित्य की वर्तमान स्थिति की कुछ भी जानकारी रखने वाले तो सुनते ही समझ जायेंगे कि यह शब्द “मिस्टिसिज्म” के लिए आया है। (मुकुटधर पाण्डेय, *छायावाद क्या है*, श्री शारदा, अंक सितम्बर 1920, पृ. 40) छायावाद बंगला या अंग्रेजी की कविताओं का अनुकरण मात्र है इस भ्रम की शुरुआत यहीं से हुई। लेकिन साथ ही उन्होंने इस निबंध में छायावाद की कुछ मूलभूत विशेषताओं पर भी गंभीरता से विचार किया। उनका मानना है कि “छायावाद में” शब्द अपने स्वाभाविक मूल्य को खोकर सांकेतिक चिह्न मात्र हुआ करते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि ‘छायावाद’ के कवि वस्तुओं को असाधारण दृष्टि से देखते हैं। उनकी रचना की सम्पूर्ण विशेषताएँ उनकी इस ‘दृष्टि’ पर ही अवलम्बित रहती है।—वह क्षण भर में बिजली की तरह वस्तु को स्पर्श करती हुई निकल जाती है।—अस्थिरता और क्षीणता के साथ उसमें एक तरह की विचित्र उन्मादकता और अंतरंगता होती है, जिसके कारण वस्तु उसके प्रकृत रूप में नहीं किन्तु एक अन्य रूप में दीख पड़ती है। उसके इस अन्य रूप का सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत से रहता है—यह अन्तरंग दृष्टि ही छायावाद की विचित्र प्रकाशन रीति का मूल है। (वही, पृ. 341) यह ‘अन्तरंग दृष्टि’ जिसके कारण वस्तुएँ अन्य रूप में दिखलाई पड़ती हैं और जिसका सम्बन्ध कवि के अन्तर्जगत से है, छायावाद की मौलिक विशेषता है।

युग की प्रतिनिधि पत्रिका “सरस्वती” में छायावाद का सर्वप्रथम उल्लेख जून 1921 के अंक में मिलता है। इस अंक में सुशील कुमार ने “हिन्दी में छायावाद” नामक एक संवादात्मक निबंध लिखा। जिसमें अपने वक्तव्य में पंत ने छायावाद का प्रधान गुण अस्पष्टता माना है। डॉ. नामवर सिंह के अनुसार, “इस व्यंगात्मक निबंध से एक और बात सामने आती है कि उस समय के लोग छायावाद की कविता को टैगोर-स्कूल के छायाचित्रों के साथ रखकर देखते थे। यहाँ भी अभिव्यक्ति की अस्पष्टता को ही लेकर व्यंग्य किया गया है।” (*छायावाद*, पृ. 11) आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने मई 1927 की ‘सरस्वती’ में प्रकाशित “आजकल के हिन्दी कवि और कविता” शीर्षक निबंध में कहा, “छायावाद से लोगों का क्या मतलब है, कुछ समझ में नहीं आता। शायद उनका मतलब है कि किसी कविता के भावों की छाया यदि कहीं अन्यत्र जाकर पड़े तो उसे छायावादी कविता कहना चाहिए।” (उद्धृत, डॉ. नामवर सिंह, *छायावाद*, पृ. 11-12) आचार्य ने छायावाद को “पद्धति विशेष” स्वीकार किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तु से होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलम्बन बनाकर अत्यंत रहस्यमयी भाषा में प्रेमी की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अन्तर्भूत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतों या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं, जो तुरीयावस्था या समाधिदशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभास देती हुई मानी जाती थी। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में छाया (फँटसमाटा) कहते थे। इसी से बंगला में ब्रह्म समाज के बीच

उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भजन बनते थे, वे 'छायावाद' कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिंदी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ। 'छायावाद' शब्द का दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति विशेष के व्यापक अर्थ में है। (*हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ. 453)

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' में छायावाद की परिभाषा देते हुए कहा है कि "मानव अथवा प्रकृति के सूक्ष्म किन्तु व्यक्त सौन्दर्य में आध्यात्मिक छाया का भान मेरे विचार से छायावाद की एक सर्वमान्य व्याख्या हो सकती है।" (पृ. 162) साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि छायावाद का एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है और जिन प्रेरणाओं की वह उपज है, उसकी आवश्यकता की पूर्ति भी उसने की। उन्होंने छायावाद को 'राष्ट्रीय चेतना' से जोड़ा। उन्होंने स्वीकार किया कि जिस युग में छायावादी काव्य रचा जा रहा था, "वह मुख्यतः साहित्यिक और सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध विद्रोह का युग था। इस विद्रोह का स्वरूप व्यक्ति-स्वातंत्र्य पर आधारित है-ऐसी अवस्था में काव्य और साहित्य का स्वरूप व्यक्तिमुखी होने को बाध्य था। कविता की वाणी में संगीत है, उल्लास है, विद्रोह है और नवनिर्माण की उत्कट अभिलाषा है; परन्तु जागृति की यह सारी चेतना व्यक्तिनिष्ठ और आदर्शोन्मुख है।" (*नया साहित्य, नये प्रश्न*, पृ. 148) नन्ददुलारे वाजपेयी पहले आलोचक हैं जिन्होंने छायावाद पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया।

छायावाद के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अनेक विद्वानों ने छायावाद का मूल स्वर "विद्रोह" माना है। अज्ञेय ने छायावाद को "वैयक्तिक विद्रोह" कहा तो डॉ. नगेन्द्र ने "स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह" को छायावाद की मूल प्रेरणा स्वीकार किया। जिसके अन्तर्गत उपयोगितावाद के विरुद्ध भावमुक्ता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति स्वातंत्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छंद कल्पना और टेकनीक का विद्रोह है। (सुमित्रानन्द पंत, पृ. 2)

डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावाद का सम्बन्ध राष्ट्रीय चेतना से जोड़ते हुए उसे "साम्राज्य-विरोधी चेतना के निखार का साहित्य" कहा (*निराला की साहित्य साधना*, भाग-2 पृ. 553), "भारत में दूसरे महायुद्ध के बाद यूरोप की तीसरी सामंत-विरोधी क्रांति श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में सम्पन्न होने वाली, समाजवाद की ओर अग्रसर, रूसी राज्य क्रान्ति के बाद-स्वाधीनता-आंदोलन के नवीन अभ्युत्थान के युग में जो साहित्य रचा जाता है, वह छायावाद है।" (*वही* पृ. 574) छायावाद का उदय पूँजीवाद के साथ हुआ। इसलिए पूँजीवादी युग की असंगतियाँ भी उसमें आ गई हैं। लेकिन आरंभिक विकास के दौरान पूँजीवाद किसी हद तक प्रगतिशील भूमिका अदा करता है, इसलिए छायावाद का मुख्य स्वर सब प्रकार के बन्धनों के प्रति विद्रोह का है। "छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह नहीं रहा। वह तो थोथी नैतिकता, रूढ़िवाद और सामन्ती, साम्राज्यवादी बन्धनों के प्रति विद्रोह था। यह विद्रोह मध्यवर्ग के तत्त्वावधान में हुआ था। इसलिए उनके साथ मध्यवर्गीय असंगति, पराजय और पलायन की भावना जुड़ी हुई है। क्या जीवन के पराङ्मुख कोई व्यक्ति ऐसी पंक्तियाँ लिख सकता है। क्या स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहने से उस ठोस जीवन आकांक्षा, मानवीय प्रेम, मानवीय सौन्दर्य की व्याख्या हो सकती है।" (*संस्कृति और साहित्य*, पृ. 36) इसके अतिरिक्त डॉ. रामविलास शर्मा ने छायावाद को द्विवेदी-युग की "रूखी इतिवृत्तात्मकता" के विरुद्ध प्रतिक्रिया मात्र न मानकर उसे रीतिकालीन काव्य-परम्परा का विरोधी स्वीकार किया। दरअसल हुआ यह कि छायावादी कवियों की कल्पनाशक्ति से द्विवेदी-युग से चली आ रही यानी पूर्व प्रचलित प्रवृत्तियाँ

एक दिन विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त हुई। पूर्व प्रचलित भावबोध में सघनता आयी और उसका चित्रण पहले की तुलना में संश्लिष्ट हुआ। इसलिए यह भ्रम हुआ कि यह कविता द्विवेदी-युग की विरोधी है, पर वास्तव में, जैसा कि डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है, वह रीतिकालीन काव्य परंपरा की उसी तरह विरोधी है जैसी द्विवेदी-युगीन अथवा स्वच्छंदतावादी काव्यधारा। कवि निराला ने कविता को “कल्पना के कानन की रानी” अकारण ही नहीं कहा है। कल्पना उसकी वस्तु और रूप-विधान दोनों को रूपायित करने में सक्रिय भूमिका निभाती है, जो कि पहले बहुत ही कम था। श्री मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “सृजन के मूल में कल्पना की प्रतिष्ठा से छायावादी कवियों को दोहरी सुविधा मिल गयी—एक तो स्वाधीनता संग्राम काल की आधारभूमि से प्राप्त अपेक्षित वैयक्तिक स्वातंत्र्य की भावना और दूसरी सर्वथा नूतन सृष्टि के लिए आवश्यक वह वाहन जिससे सौन्दर्य विधायक गोचर प्रतिरूपों अथवा इन्द्रिय गम्य संवेदनों का अन्वेषण और चयन किया जा सके।” (*आधुनिक हिंदी साहित्य*, पृ. 69) “कामायनी” में इसी कल्पना-शक्ति के जरिए कवि ने “जल-प्रलय” के व्यापक और संश्लिष्ट चित्रों की सृष्टि की है—

“उधर गरजती सिंधु लहरियाँ
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों सी॥”

ऐसे चित्रों में इन्द्रिय बोधों की सघनता के कारण जटिल-बिम्ब-विधान का गठन ‘कामायनी’ में संभव हुआ है। देव-सृष्टि से लेकर रहस्य-लोक तक का चित्रण प्रसाद जी की सशक्त कल्पना शक्ति का ही परिणाम है।

स्वच्छंदतावादी कविता में जो आत्माभिव्यक्ति सरल रूप में पायी जाती है, वह छायावाद में आकर अधिक जटिल हुई है। वह “अपनी ही भावना की”, “चिर-पोषित छायाएँ” बाह्य जगत में देखता है। और “मैं शैली” अपनाकर “दुःखी निज भाई” को देखता है। इस आत्माभिव्यक्ति के कारण ही छायावाद में प्रगीत की प्रधानता है। “कामायनी” को मुक्तिबोध ने एक “आत्म-चरित” कहा है। और इसके “काम,” “वासना” तथा “लज्जा” सर्ग बाह्य कथा-विधान से काफी हद तक स्वतंत्र होकर आत्मभिव्यक्ति के वाहक बनते हैं। इनमें प्रगीतात्मकता की प्रधानता है—

“निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में,
चाहती नहीं जागरण कभी
सपने की इस सुधराई में।”

‘काम’, “स्वप्न” और “लज्जा” सर्गों में इसी तरह की वैयक्तिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति है। छायावाद में आत्माभिव्यक्ति एक तो आत्म-विकास के रूप में पायी जाती है और दूसरे रहस्यात्मक भावना के रूप में। “छायावाद” के साथ एक बात और हुई। उसने अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को विराट की जिज्ञासा में परिणत कर दिया। (डॉ. नित्यानंद तिवारी, *आधुनिक साहित्य और इतिहास बोध*, पृ. 41) कामायनी में श्रद्धा मनु को आत्मविकास के लिए प्रेरित करती है, उसे “विश्व विजयी” बनने को कहती है और स्वयं मनु आत्म-विस्तार चाहते हैं—

“इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।”

मनु कहता है, “मैं तो अबाध गति मरूत सदृश हूँ” और “वन, गुहा, कुंज, मरू अंचल में हूँ खोज रहा अपना विकास।” साथ ही वह चिर स्वतंत्रता की बात भी करता है। यह छायावाद में पायी जाने वाली पराधीनता-विरोधी भावना है। इस भावना को कवियों ने कहीं सीधे-सीधे “शेर की माँद में आया है आज सियार जागो फिर एक बार” और “स्वतंत्रता पुकारती” के जरिये अभिव्यक्त किया है तथा कहीं सांकेतिक रूप में। जैसे कामायनी में प्रजा-विद्रोह के जरिये तथा उजड़ें हुए सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण के जरिये नये भारत के निर्माण के संकेत किए गए हैं। वास्तव में, “ससीम” बंधनों से मुक्ति और “असीम” में “स्व” का विस्तार ही रहस्यात्मक भावना का मूल कारण रहा है, इसलिए प्रकृति में अनेक रहस्यमय संकेतों को कवि महसूस करते हैं—“तारों के मिस मुझे बुलाता कौन” (पंत) और “तोड़ दो यह क्षितिज मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है?” (महादेवी) “ससीम” और “असीम” का प्रतीक रहस्यात्मक है, भाषा अस्पष्ट है—फिर भी उनसे जो कुछ व्यंजित होता है, वह वास्तविक है। रूप-विधान आध्यात्मिक है, लेकिन विषयवस्तु सामाजिक है। सीमा और असीम सामाजिक सीमा और उससे मुक्ति के प्रतीक हैं। (डॉ. नामवर सिंह, *छायावाद*, पृ. 29) “कामायनी” का मनु असीम में व्याप्त हो जाना चाहता है। श्रद्धा रहस्यमयलोक में अपनी अलौकिक “स्मित” से इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सामंजस्य स्थापित करते हुए समरसता कायम करती है। समरसता का तरीका ‘कामायनी’ में रहस्यमय और आध्यात्मिक है, यहाँ तक कि पात्रों को भी दार्शनिक प्रतीकार्थ दे दिया गया है, श्रद्धा विद्यामाया का प्रतीकार्य लिए हुए हैं, लेकिन जीवन की विषमता को देखते हुए समरसता और समतामूलक समाज की माँग तथा स्थापना वास्तविक और स्वाभाविक जान पड़ती है।

असीम में “स्व” को विस्तृत कर देने की इच्छा-आकांक्षा और प्रेमानुभूति की वजह से जहाँ छायावादी कविता के शिल्प में प्रगीतात्मकता पायी जाती है, वहीं ससीम की जटिलता और उससे संघर्ष के कारण नाटकीय शिल्प का निर्माण हुआ है, उसमें प्रबंधात्मकता को महत्त्व मिला है। भारतेन्दु ने जिस प्रबंधात्मक लम्बी कविता की शुरुआत “प्रबोधिनी” नामक कविता के जरिये की थी उसका अधिक विकास छायावाद में हुआ। इसमें निराला की “राम की शक्ति-पूजा”, “सरोज-स्मृति”, “तुलसीदास” जैसी लम्बी कविताएँ पायी जाती हैं तो “पेशोला की प्रतिध्वनि”, “शेरसिंह का शस्त्र समर्पण” और “प्रलय की छाया” जैसी लम्बी कविताएँ कवि प्रसाद जी की भी हैं। इसी प्रबंधात्मकता की कड़ी में उन्होंने “कामायनी” लिखी है, जिसमें प्रगीतात्मकता और प्रबंधात्मकता अथवा नाटकीयता दोनों तरह के शिल्प का संयोजन हुआ है। इसलिए इसे प्रगीतात्मक प्रबंध कहा गया है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है छायावादी कवि ने खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया है और इन कवियों ने उसी भाषा-संघर्ष को आगे बढ़ाया है, जिसे श्रीधर पाठक इत्यादि स्वच्छंदतावादी कवियों ने अपनी रचनाओं के जरिये किया था। छायावादी कवियों की कल्पनाशील रचनाशक्ति की आँच में तप-गलकर खड़ी बोली के रूप में सर्वथा नयी काव्यभाषा का विकास संभव हो सका। “कामायनी” के जरिये प्रसाद जी ने खड़ी बोली के सशक्त रूप का परिचय दिया है। उसमें कहीं-कहीं ऊबड़-खाबड़ पन है, स्वच्छंदतावादी कवियों की सी वर्णनात्मकता है—

“जीवन की लंबी यात्रा में
खोये भी हैं मिल जाते,

जीवन है तो कभी मिलन है
कट जाती दुःख की रातें।” इत्यादि

तो अधिकांशतया सुगठित बिम्ब-विधान है—“कोमल किसलय के अंचल में। नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी। गोधूली के धूमिल पट में। दीपक के स्वर में दिपती सी” इत्यादि रूप में लज्जा का चित्रण है “कामायनी” में। यानी खड़ी बोली “कामायनी” में आंतरिक और बाह्य भावों, विचारों और स्थितियों को अभिव्यक्त करने में सक्षम साबित हुई है। यह सब प्रसाद जी की सशक्त कल्पना-शक्ति के माध्यम से संभव हुआ है।

इसी कल्पना-शक्ति के जरिये प्रसाद जी ने और अन्य छायावादी कवियों की तरह प्रकृति का व्यापक और संश्लिष्ट चित्रण किया है, जो कि स्वच्छंदतावादी कवियों के यहाँ अपने सरल रूप में वर्णित थी। वहाँ भी प्रकृति का आलंबनात्मक रूप है और यहाँ भी। लेकिन स्वच्छंदतावादियों के यहाँ प्रकृति का वर्णन और यथा तथ्यपूर्ण अंकन अधिक है—“लहराती दृग की सीमा तक धानों की हरियाली।” (पं. रामनरेश त्रिपाठी) और छायावादी कवियों के यहाँ प्रकृति के संश्लिष्ट बिम्ब मिलते हैं, क्योंकि इनका इन्द्रिय बोध सघन है, संश्लिष्ट है। अकेले ‘कामायनी’ में ही प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों की भरमार है, जैसे “मधु बरसाती बिधु किरन है काँपती सुकुमार/पवन में है पुलक मंथर, चल रहा मधुर भार” इत्यादि। यहाँ प्रकृति पहले की तुलना में अधिक चेतन और गतिशील दिखाई पड़ती है। यही नहीं, स्वच्छंदतावादी कवि जहाँ प्रकृति के “शांत मुख” को दूर से देखता है और मुदित होता रहता है—“विजन वन प्रांत था, प्रकृति मुख शांत था, रजनि का हो रहा उदय था”, जिसमें “शिशु चंद्रमा आकाश की ओर जा रहा था बढ़ा”, जिसे देखने का कवि के “चित्त में चढ़ा चाव था।” (श्रीधर पाठक) वहाँ छायावादी कविता में, प्रसाद जी की “कामायनी” में मनुष्य और प्रकृति गहरे रूप में सम्बद्ध हैं, प्रकृति का चित्रण जैसे मनुष्य का ही चित्रण है। ‘कामायनी’ में मनु और श्रद्धा जैसे प्रकृति के ही परस्पर-सम्बद्ध रूप हैं—

“एक जीवन सिंधु था, तो वह लहर लघु लोल,
एक नवल प्रभात, तो वह स्वर्ण किरण अमोल।”

इस तरह, छायावाद का प्रकृति-चित्रण स्वच्छंदतावाद में हुए प्रकृति-चित्रण की प्रवृत्तियों का ही स्वाभाविक विकास है। हाँ, उसमें रहस्यवाद, प्रतीकवाद जैसी कुछ नवीन प्रवृत्तियों का समावेश अवश्य हुआ है। उसके चित्रण में सूक्ष्मता आई है। इन्द्रियबोध पहले के बजाय सघन हुआ है और भावबोध पहले से अधिक गहन। प्रसाद जी की रचना “कामायनी” में जहाँ अतीत के पुनर्मूल्यांकन वाली स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति है तो रुढ़िवाद विरोधी स्वच्छंदतावादी-छायावादी प्रवृत्ति भी पायी जाती है। वहीं “कामायनी” में छायावाद के रहस्यवाद-प्रतीकवाद का भी समावेश पाया जाता है। कामायनी में चित्रण की, बल्कि कहना चाहिए कि अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता है, यानी सांकेतिकता की प्रधानता पायी जाती है। कामायनी की भाषा में जहाँ एक ओर स्वच्छंदतावादी वर्णन-प्रणाली है तो दूसरी ओर छायावादी इन्द्रियबोध-सघनता यानी सुगठित बिम्ब-विधान की विशेषता भी कम नहीं है। यानी “कामायनी” स्वच्छंदतावाद और छायावाद की प्रवृत्तियों के मिले-जुले रूप का प्रतिनिधित्व करती है।

(च) कामायनी की विभिन्न व्याख्याएँ

श्री जयशंकर प्रसाद की अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना “कामायनी” आलोचकों के लिए समय-समय पर चुनौती प्रस्तुत करती रही है। जैसे-जैसे साहित्य-संस्कृति के विश्लेषण-विवेचन की नयी-नयी दृष्टियाँ विकसित हुई हैं, वैसे-वैसे “कामायनी” को एक अलग ढंग से व्याख्यायित-विश्लेषित करने का प्रयास विभिन्न आलोचकों ने किया है। इसी क्रम में “कामायनी” की विभिन्न व्याख्याएँ सामने आयी हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रबंध को बहुत महत्त्व देते थे, क्योंकि उसमें जीवन-जगत अधिक व्यापक और परस्पर-संबद्ध रूप में अभिव्यक्ति पाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य में लोक-जीवन की अभिव्यक्ति को अनिवार्य कसौटी मानते हुए रचना और कवि की विशिष्टता को पहचानने पर बल दिया है तथा तमाम जीवन-विरोधी प्रवृत्तियों की जमकर आलोचना की है—चाहे वह कलावाद हो, प्रतीकवाद हो, रीतिवाद हो, व्यक्तिवाद हो और चाहे रहस्यवाद या अध्यात्मवाद अथवा अबुद्धिवाद। प्रबंधात्मकता की वजह से “कामायनी” ने आचार्य शुक्ल को आकर्षित किया है और वे “कामायनी” में जीवन-जगत की व्याप्ति, मार्मिकता को खोजने के अतिरिक्त जीवन-विरोधी प्रवृत्तियों की तीखी आलोचना की ओर भी उन्मुख हुए हैं। आचार्य शुक्ल को “कामायनी” में जो बात सबसे अधिक अखरती है, वह है रहस्यवाद का आग्रह। इसी के चलते उन्होंने “संवेदन का तिरस्कार” किया है, साथ ही साथ चेतना, जागरण और “बुद्धिवाद का विरोध” किया है। उनके अनुसार, “यदि मधुचर्या का अतिरेक और रहस्य की प्रवृत्ति बाधक न होती तो इस काव्य के भीतर मानवता की योजना शायद अधिक पूर्ण और सुव्यवस्थित रूप में चित्रित होती। वैसे तो प्रसाद जी ने “कामायनी” में किसी एक विशाल भावना को रूप देने की ओर ध्यान दिया है, और “ग्रंथ के अंत में जो इच्छा, बुद्धि और कर्म के मेल या सामंजस्य का पक्ष रखा गया है, वह बहुत समीचीन है,” लेकिन समस्या है रहस्यवाद, क्योंकि “जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नहीं होने पाया है।” काव्य की अन्तर्योजना में आचार्य शुक्ल ने खाई देखी है और उसमें परस्पर-संबद्धता का निर्वाह नहीं हो पाया है। इसलिए “समष्टि रूप में कोई समन्वित प्रभाव” वह नहीं डालती। इसके सर्ग अलग-अलग रूप में यानी स्वतंत्र रूप में बहुत ही प्रभावित करने वाले हैं। साथ ही साथ प्रकृति की “मधुर, भव्य और आकर्षक विभूतियाँ” हैं। आचार्य शुक्ल ने “कामायनी” की व्याख्या मूलतः उसके भीतर पायी जाने वाली “रूपक” की भावना के अनुसार ही की है। जिसके अनुसार श्रद्धा विश्वास समन्वित रागात्मिकावृत्ति है और इड़ा व्यवसायात्मिका बुद्धि है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया में सामंजस्य का अभाव है और फिर उनका सामंजस्य स्थापित किया गया है। लेकिन यह सामंजस्य काव्य में तार्किक परिणाम के रूप में नहीं आता। इस मूल व्याख्या के अतिरिक्त शुक्ल जी ने “कामायनी” में विज्ञान द्वारा सुख साधनों की वृद्धि के साथ-साथ विलासिता और असीम वृद्धि तथा यंत्रों के परिचालन से जनता के बीच फैली हुई घोर अशक्तता, दरिद्रता आदि के कारण वर्तमान जगत की जो विषम स्थिति हो रही है, उसका भी “थोड़ा सा आभास” देखा है, यानी “कामायनी” में चित्रित वर्ग-विषमता की ओर आचार्य शुक्ल ने संकेत किया है। साथ-साथ उन्हें “कामायनी” में वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी “दबी सी गूँज दो तीन जगह” सुनायी पड़ती है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास) आचार्य शुक्ल द्वारा की गयी “कामायनी” की व्याख्या में जहाँ यह कमी है कि उन्होंने उसकी व्याख्या मूलतः प्रसाद जी द्वारा

संकेतित “रूपक” के आधार पर की है, वहीं आचार्य शुक्ल ने कामायनी की व्याख्या के लिए अनेक सूत्र भी दिए हैं, जिन्हें आगे चलकर विभिन्न आलोचकों ने विस्तार दिया है। और शुक्ल जी ने “कामायनी” में अभिव्यक्त रहस्यवाद की जो आलोचना की है उसे अधिकांश आलोचकों का समर्थन मिला है। आगे चलकर कुछ आलोचकों ने तो शुक्ल जी की “रूपक” वाली व्याख्या को विस्तार दिया है तो कुछों ने वर्ग-विषमता और वर्ग-संघर्ष तथा साम्यवादी गूँज को मूलाधार बनाते हुए “कामायनी” की व्याख्या की है।

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने कामायनी की व्याख्या मूलतः मनोविज्ञान के आधार पर की है। उनके अनुसार “कामायनी” में चित्रित मनोविज्ञान सुगठित एवं प्रौढ़ है। (जयशंकर प्रसाद, पृ. 102) इसमें प्रसाद जी ने सर्गों का नामकरण स्थान, घटना या पात्र के आधार पर नहीं किया है, वरन् “मानसिक वृत्तियों के आधार पर” किया है, जिससे मानव जीवन की प्रवृत्तियों का क्रम दिखाने की सफल चेष्टा की गयी है। श्री वाजपेयी के अनुसार प्रसाद जी का मूल लक्ष्य “कामायनी” के जरिये मानव-मनोविज्ञान को प्रतिष्ठित करने का था। (जयशंकर प्रसाद, पृ. 97) इस “नवीन विज्ञान” पर वाजपेयी जी ने इतना बल दिया है कि उन्होंने “कामायनी” में चित्रित मनु और श्रद्धा को “सभ्यता इतिहास और परंपरा” से नितांत अलग कर दिया है। उनके अनुसार, “आज का मनुष्य और आज की नारी इतिहास की उपज है। उसमें कृत्रिम प्रवृत्तियों और संस्कारों का मेल हो गया है। इसलिए समस्त ऐतिहासिक और कालगत आवरण के परे जाकर मूल मानव प्रवृत्तियों के उद्घाटन में प्रसाद जी संलग्न हुए हैं।” (वही) इस इतिहास और कालगत निरपेक्षता के अतिरिक्त श्री नंददुलारे वाजपेयी ने “कामायनी” में “मानव प्रकृति” के शाश्वत स्वरूप की झलक भी देखी है तथा “आध्यात्मिक और व्यावहारिक तथ्यों के बीच संतुलन स्थापित करने की सर्वप्रथम चेष्टा” को भी इस काव्य में लक्षित किया है। (वही, 101) इस तरह, आचार्य नंददुलारे वाजपेयी ने आधुनिक मनोविज्ञान का सहारा लेते हुए “कामायनी” की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करने की कोशिश है, लेकिन उनकी सीमा यह है कि वे इसे एक निरपेक्ष स्थिति में प्रतिष्ठित कर देते हैं। “कामायनी” में अभिव्यक्त “मानसी वृत्तियों” को उन्होंने शाश्वत स्वरूप प्रदान करते हुए इतिहास, समाज और काल से परे अवस्थित कर दिया है। और इस तरह उनका योगदान यह कि वे अपनी व्याख्या “कामायनी” को उस समाजसापेक्षता से दूर हटा ले गए हैं, जिसका संकेत आचार्य शुक्ल ने अपनी व्याख्या में दिया था। “कामायनी” में मनोविज्ञान के चित्रण को देखना अच्छी बात है और नयी भी, लेकिन मनोविज्ञान समाज, इतिहास और काल से उतना परे नहीं होता जितना वाजपेयी जी ने बताया है और जिसके आधार पर “कामायनी” को सर्वश्रेष्ठ रचना सिद्ध किया है। उन्होंने “कामायनी” का कितना हित किया होगा इसे आसानी से समझा जा सकता है। “कामायनी” की जो व्याख्या वाजपेयी जी ने प्रस्तुत की है वह वास्तव में आचार्य शुक्ल की व्याख्या से आगे बढ़ी हुई व्याख्या नहीं है, वरन् पिछड़ी हुई है।

डॉ. नगेन्द्र ने “कामायनी” पर अंतिम समीक्षात्मक निर्णय की मुद्रा अखिल्यार करते हुए निष्कर्षात्मक शैली में “कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ” नामक पूरी एक पुस्तक ही लिखी है। “कामायनी” की व्याख्या के लिए उन्होंने काव्यशास्त्र और मनोविज्ञान को आधार बनाया है। उन्होंने “कामायनी” को “मानव चेतना का महाकाव्य” कहा है। (कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ, पृ. 23) मानव चेतना के इस महाकाव्य में उन्होंने एक तो अंगीरस को खोजने का निरर्थक प्रयास किया है, जिसका आज के संदर्भ में कोई अर्थ नहीं है। दूसरे, उन्होंने रूपक तत्त्व को घटित करते हुए सूक्ष्म मनोवृत्तियों के चित्रण का रहस्योद्घाटन किया है, जिसे उनसे पूर्व आचार्य शुक्ल और श्री नंददुलारे वाजपेयी उद्घाटित कर चुके हैं।

तीसरे, डॉ. नगेन्द्र ने “कामायनी” में निहित दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट और सिद्ध करने का अथक प्रयत्न किया है। इसमें पहले तो उन्होंने “कामायनी” के मूल प्रतिपाद्य का किया है और फिर “दर्शनशास्त्र की शब्दावली में उसका रूप-निरूपण”। (वही) उनके अनुसार यह मूल प्रतिपाद्य है क्या? देखें—“कामायनी के नायक का चरम प्राप्य है आनंद। तदनुसार कामायनी में निहित जीवन-दर्शन का चरम साध्य हुआ आनंद और कामायनी का मूल प्रतिपाद्य हुआ आनंदवाद” (वही) इस आनंदवाद की तीखी आलोचना मुक्तिबोध ने अपनी कामायनी संबंधी विवेचना में की है। वास्तव में डॉ. नगेन्द्र द्वारा स्थापित “आनंदवाद” भी आज के संदर्भ में कोई अर्थवान नहीं रह गया है। और जहाँ तक अपने विश्लेषण में आचार्य शुक्ल पहुँच गए थे उनसे विरोध जताते हुए भी डॉ. नगेन्द्र उनसे पिछड़ गए हैं। शुक्ल जी ने कामायनी के अन्तर्गठन, जो रूपक पर आधारित है, में असंगति की ओर सही संकेत किया था, लेकिन डॉ. नगेन्द्र के अनुसार उसमें कोई असंगति नहीं है—“जहाँ तक मूल कथन का सम्बन्ध है, रूपक सामान्यतया संगत और स्पष्ट है।” (वही) कथा में निहित असंगति और गठन की कमी को आगे चलकर मुक्तिबोध ने भी रेखांकित किया है। डॉ. नगेन्द्र ने “कामायनी” के विवेचन में एक नयी बात तो मनु के संदर्भ में यह बताई है कि मनु व्यक्तिवादी है। “व्यक्तिवादी मनु आधुनिक जीवन के व्यक्तिपरक भौतिक सुखवाद का प्रतीक है, जिसका व्यक्त रूप पूँजीवाद में मिलता है।” मुक्तिबोध ने इस सूत्र का बहुत विस्तृत विवेचन किया है। दूसरे, डॉ. नगेन्द्र ने “कामायनी” में पाये जाने वाले डार्विन के विकासवाद का भी जिक्र किया है। “डार्विन के विकासवाद का कामायनी पर गहरा प्रभाव है। मानव मन के विकास के माध्यम से मानव-सभ्यता के विकास-निरूपण में प्रसाद की कल्पना ने विकासवाद के सिद्धांतों से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण की है।” लेकिन प्रसाद जी की मूल समस्या तो यही है कि वे प्रकृति और मनुष्य में परिवर्तन तो देखते हैं, पर विकास नहीं देखते। इसलिए मनु जिस देव-सृष्टि के अंतिम अवशेष हैं, वैसे ही भोग-विलास की स्थापना यहाँ भी करते हैं, यह वास्तव में प्रत्यावर्तन है कोई विकास नहीं है। प्रकृति पुनः क्षुब्ध होती है और हिमालय से आए हुए मनु पुनः हिमालय पर पहुँच जाते हैं, यह भी प्रत्यावर्तन ही है, कोई विकास नहीं है। “कामायनी” का पूरा ढाँचा ही वर्तुलाकार और पुनरावृत्ति मूलक है—भावनाओं के चित्रण, कथा के गठन दोनों ही दृष्टियों से इसमें डार्विन के विकासवाद को खोजना दूर की कौड़ी लाने जैसा ही है और कुछ नहीं।

मुक्तिबोध ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से “कामायनी” की व्याख्या करते हुए आचार्य शुक्ल के उपरांत “कामायनी” के विवेचन-संबंधी एक जबर्दस्त चुनौती पेश की है। उन्होंने कामायनी पर पूरी एक पुस्तक ही लिखी है, जिसका शीर्षक है “कामायनी एक पुनर्विचार” मुक्तिबोध ने अपने विवेचन में आचार्य शुक्ल के “वर्ग-विषमता” वाले सूत्र को बहुत अधिक विकसित किया है, और श्री नंददुलारे वाजपेयी की इस धारणा का खंडन किया है कि मनु और श्रद्धा मानव मात्र के, शाश्वत नर-नारी के, मनन और मन के देश कालातीत प्रतीक हैं। उनके अनुसार, “प्रसाद का मनु उसी वर्ग का प्रतीक है, जिस वर्ग के स्वयं प्रसाद जी हैं। उसे मनन-मात्र का, मन-मात्र का, मानव-मात्र का प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है मनु एक टाइप है, उस वर्ग का टाइप, जिसकी शासन सत्ता तथा ऐश्वर्य छिन गया हो। उस वर्ग की समस्त प्रवृत्तियाँ मनु में हैं। (मुक्तिबोध रचनावली : चार, पृ. 207) मनु के चरित्र में जो खास बात मुक्तिबोध ने लक्षित की है, वह है उसकी “जनतंत्रात्मकता” से नितांत रहित होना। और इसका कारण वे यह बताते हैं कि “वह सामंत-व्यवस्था के शासक वर्गों का पुत्र है, जो नयी ऐतिहासिक, सामाजिक स्थिति के कारण, पूँजीवादी व्यक्तिवाद को लिए हुए, अपनी सामंती परंपरा से विच्छिन्न होकर भी सामंती-शासकवर्गीय प्रवृत्तियों की

तानाशाहियत को अपने खून में लिए हुए हैं (वही) मुक्तिबोध ने “कामायनी” में निहित अनेक समस्याओं की ओर ध्यान दिलाया है। इसमें सबसे बड़ी समस्या तो यह कि मनु, श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों का सही विकास, उसकी सही परिणति इस काव्य में नहीं दिखलायी पड़ती मनु की पतनशीलता को अधिक उजागर करने के स्थान पर प्रसाद जी उसे सहानुभूति प्रदान करते हैं। उसके व्यक्तिवाद का उद्घाटन तो सही है, जिसके दो सिरे हैं, एक, सब कुछ मेरे सुख के लिए हो और दूसरा सिरा है—वास्तविकता की चेतना को भीषण चेतना कहकर चेतना को खो देना। लेकिन “क्षमा की फिलॉसफी” के चलते श्रद्धा और इड़ा द्वारा भी उसे जो महात्म्य प्रदान किया गया है, वह मुक्तिबोध के अनुसार सही नहीं जान पड़ता, इससे श्रद्धा और इड़ा के चरित्रों की परिणति और विकास भी सही नहीं हुआ। उनके अनुसार इड़ा बुद्धिवाद की नहीं पूँजीवाद की प्रतिनिधि है। “उस पूँजीवाद की प्रतिनिधि जिसने एक ओर राष्ट्रवाद और नयी समाज-व्यवस्था का निर्माण करके मानव जीवन क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत और व्यापक बना दिया है तो दूसरी ओर उस समाज के अन्तर्द्वन्द्व को भी अधिक घनीभूत और विस्तृत कर दिया है। मुक्तिबोध ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि प्रसाद जी ने अपने समय में विकसित हो रहे पूँजीवाद के स्वरूप का चित्रण ‘कामायनी’ में किया है। प्रसाद जी की महत्ता इसी में है कि उन्होंने व्यक्तिवाद, राष्ट्रवाद और पूँजीवाद के उपस्थित स्वरूप को ध्यान में रखकर व्यक्तिवाद को शासन-सत्ता से सम्बद्ध कर दिया।” (वही) प्रसाद जी ने आधुनिक सभ्यता-पूँजीवादी सभ्यता की समीक्षा प्रस्तुत की है, लेकिन मुक्तिबोध के अनुसार प्रसाद जी वर्ग के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित नहीं हैं और परिचित होना उनका लक्ष्य भी नहीं था। वे अन्य छायावादी कवियों की तरह ही आधुनिक सभ्यता अथवा पूँजीवादी युग को “यंत्रयुग” के रूप में ही देखते हैं और उसका समाधान ऐसे “अयंत्रयुग” में देखते हैं, जिसका सामाजिक आधार पिछड़ा हुआ है। वह सामंती अथवा उससे पूर्व-कालीन सभ्यताओं की ग्राम संस्कृतियों का जीवन है उनके अनुसार प्रसाद जी की यह समझ थी कि मनुष्यता के स्वाभाविक गुणों के प्रयोग तथा उदार दृष्टिकोण और हार्दिकता की स्थापना से हमारे समाज की विषमताएँ दूर हो सकती हैं। प्रसाद जी द्वारा आधुनिक सभ्यता की समीक्षा में वर्ग भेद का विरोध, शासक वर्ग की जन-विरोधी आतंकवादी नीतियों की तीव्र भर्त्सना तो प्रगतिशील प्रवृत्ति है, लेकिन वर्ग भेद का विरोध करते हुए भी मेहनतकशों के वर्ग-संघर्ष का तिरस्कार प्रतिक्रियावादी तत्व है। और इसी तरह “वर्गहीन सामंजस्य और सामरस का वायवीय अमूर्त आदर्शवाद इसलिए प्रतिक्रियावादी है कि वर्ग-वैषम्य से वर्ग-हीनता तक पहुँचने के लिए उसके पास कोई उपाय नहीं। इस उपायहीनता का आदर्शीकरण है आदर्शवादी रहस्यवादी विचारधारा। इसे मुक्तिबोध ने युगीन सीमा बताया है—भारतीय समाज के अंदर, मार्क्सवादी विचारधारा का उनके जमाने में कोई निर्णायक प्रभाव न होने के कारण तथा तत्कालीन सामाजिक विकास स्तर की सीमाओं से ग्रस्त होकर, वे (प्रसाद) इस वर्ग-वैषम्यपूर्ण अराजक भयानकता के विश्व का कोई वैज्ञानिक विश्लेषण-निरूपण न कर सके। (वही, पृ. 291-2) रहस्यवादी विचारधारा के साथ ही साथ मुक्तिबोध ने कामायनी में व्यक्त दर्शन की कमी की ओर भी इशारा किया है। उनके अनुसार प्रसाद जी का दर्शन एक ऐसी भाव-व्यवस्था का नाम है, जो भाव-व्यवस्था व्यक्तियों को अपनी समस्याओं से मनोवैज्ञानिक छुटकारा तो दिला सकती है, किंतु उसकी उन समस्याओं का अस्तित्व समाप्त नहीं कर सकती। यही नहीं, “प्रसाद जी के दर्शन ने ‘कामायनी’ की खास रीढ़ पर गहरी चोट की है। उस दर्शन ने न केवल कथा-विकास संबंधी, वरन् चरित्र विकास-संबंधी दोष उत्पन्न किए और ‘कामायनी’ की भीतरी रचना भी उससे बिगड़ गई।” (वही, पृ. 324) मुक्तिबोध ने कामायनी की एक अन्य और नितान्त भिन्न

विशेषता यह बतायी है कि “कामायनी” की फैंटेसी एक ही साथ दो काम करती है। एक आधुनिक जीवन के तथ्यों तथा निष्कर्षों की चित्रात्मक समीक्षा के लिए उसके द्वारा एक विशाल कैनवास मिल जाता है। दो-उन तथ्यों तथा निष्कर्षों की तीव्र आधुनिक सप्रश्नता को काल तथा स्थान से हटाकर उसके अस्तित्व के तीखेपन को समाप्त कर दिया गया है।

मुक्तिबोध ने “कामायनी” को आधुनिक अर्थों में बहुत ही अर्थवान और प्रासंगिक बना दिया है। उसे पूँजीवादी समाज के विकास, उसकी स्थापना और उसकी समीक्षा से सम्बद्ध करना निश्चित रूप में एक भिन्न और मूल्यवान व्याख्या है, लेकिन मुक्तिबोध की व्याख्या की सीमा भी यही है। उसे आख्यानपरकता से एकदम काटकर नितांत पूँजीवादी समाज के चित्र के रूप में पेश करना एकांगी समीक्षा है। “कामायनी” की व्याख्या करते हुए, यदि श्री नंददुलारे वाजपेयी एक अतिरेक के शिकार रहे हैं तो मुक्तिबोध दूसरे अतिरेक के। इससे जो मुख्य समस्या उत्पन्न हुई है वह यह है कि “कामायनी” में मुक्तिबोध को खामियाँ ही अधिक नजर आयी हैं, उसके सकारात्मक पक्ष छूट गए हैं। जब स्वयं मुक्तिबोध मानते हैं कि वर्ग के स्वरूप को दिखाना प्रसाद का लक्ष्य या मन्तव्य ही नहीं रहा और वर्ग-संघर्षपूर्ण समाज भारत में विकसित ही नहीं हुआ था, जिससे प्रसाद जी समस्याओं का कोई वैज्ञानिक समाधान प्रस्तुत कर सकने में सक्षम होते हैं, तो फिर मात्र इसी पक्ष को केन्द्रीय महत्त्व मुक्तिबोध ने “कामायनी” के विवेचन-विश्लेषण में क्यों दिया? यदि प्रसाद जी के मन्तव्य का कोई अर्थ नहीं है तो भारतीय समाज की स्थिति का तो है। यदि मुक्तिबोध कवि के मन्तव्य को कोई महत्त्व नहीं देते तो फिर वे मनु को स्वयं कवि प्रसाद का ही प्रतिरूप, उसी का आत्मचरित्र क्यों बताते हैं? ऐसा करना वास्तव में असंगत ही नहीं, वरन् एक काव्य-नामक और स्वयं कवि के साथ अन्याय भी है। ऐसा करने से मनु के चरित्र का अद्यःपतन स्वयं प्रसाद जी का अद्यःपतन सिद्ध होता है। आलोचना की यह शैली वास्तव में संरचनावादी समाजशास्त्रीय शैली है जिसके शिकार, मुक्तिबोध और उनके द्वारा स्वयं प्रसाद तथा उनकी रचना “कामायनी” दोनों हो गए हैं। इसी शैली के प्रभावस्वरूप ही उन्होंने “कामायनी” के संश्लिष्ट काव्य-विधान की खोज करते हुए पहली बार उसे एक ऐसी विशाल “फैंटेसी” के रूप में देखने का प्रस्ताव किया है, जो कलाकार की विधायक कल्पना द्वारा जीवन की पुनर्रचना है। लेकिन इस क्रम में मुक्तिबोध ने नए जीवन-मूल्यों को व्याख्यायित और प्रस्तावित किया है, साथ ही नए साहित्य मूल्यों को भी। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल के बाद सही अर्थों में “कामायनी” का पुनर्मूल्यांकन और विवेचन मुक्तिबोध ने ही किया है। उनकी विवेचना में साहित्य की और समीक्षा की एक नयी दृष्टि का प्रवेश हुआ है।

“कामायनी” के पुनर्मूल्यांकन का दावा श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने भी किया है, पर उसमें कोई नयी जीवन-दृष्टि नहीं दिखलायी पड़ती, हाँ! समीक्षा की एक नयी पद्धति का आग्रह जरूर पाया जाता है, जिसमें रचना को वस्तुशिल्प या मूर्ति या चित्र की तरह किसी स्तर पर समग्रता में, उसके अनुभव की संश्लिष्टता में देखने का यत्न किया जाता है। इस संरचनावादी नवीन शैली के कार्य में, स्वयं उनके अनुसार ही, उनके अग्रणी मुक्तिबोध हैं। मुक्तिबोध के “फैंटेसी” वाले संकेत-सूत्र को पकड़कर श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी ने “कामायनी” को “बिम्ब-माला” के जटिल विधान के रूप में विवेचित करने की कोशिश की उनके अनुसार “कामायनी” में कमजोर आधार-भाषा के बावजूद इतना कुशल बिम्ब-प्रयोग साहित्यिक इतिहास की एक असाधारण पर सुखद विडंबना है। वर्णन की भाषा काव्य-भाषा का प्राथमिक स्तर है, और बिम्ब-गठन भाषा का अधिकतम सर्जनात्मक स्तर है। प्रसाद में वर्णन की यह भाषा जितनी अव्यवस्थित ऊबड़-खाबड़

है, भाषिक बिम्ब-गठन की क्षमता उतनी ही अधिक है। “कामायनी” को लेकर प्रायः हर सजग पाठक के मन में जो आकर्षण-विकर्षण-एंबीलेंस-चलता है, उसका एक प्रधान कारण इन दो भाषिक स्तरों की विफलता और सफलता का एक साथ होना है। ऐसा शायद इसलिए हो कि काव्य में अपना समूचा ध्यान बिम्ब-गठन पर ही केन्द्रित करके प्रसाद ने सामान्य वर्णन-भाषा की उपेक्षा की है। (कामायनी : एक पुनर्मूल्यांकन, माध्यम, अक्टूबर 1867) क्या भाषा के गठन का कोई संबंध संवेदना से भी होता है या नहीं? यहाँ संवेदना के गठन से उक्त भाषायी गठन का कोई संबंध नहीं जोड़ा गया है। यही नहीं, चतुर्वेदी जी ने यहाँ “कामायनी” में निहित एक विसंगति की ओर इशारा किया है—भाषायी स्तर पर। “कामायनी” में निहित विसंगति की ओर आचार्य शुक्ल और मुक्तिबोध पहले ही संकेत कर चुके हैं। इस दृष्टि से यह कोई नयी बात नहीं है, वरन् उन्हीं की स्थापना का विस्तार भर है। आचार्य शुक्ल और मुक्तिबोध ने इस विसंगति के संबंध सूत्र की तलाश रहस्यवादी चिंतन प्रणाली में खोजने का जो प्रयास “कामायनी” के अपने-अपने विवेचन में किया है, उसका भी यहाँ नितांत अभाव है। इस दृष्टि से भी यह कोई नया अथवा पुनर्मूल्यांकन नहीं कहा जा सकता। इसी तरह श्री चतुर्वेदी ने अपने “हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास” नामक ग्रंथ में जो “मानव संस्कृति के विकास का आख्यान “कामायनी” को बताया है, वह भी श्री नंददुलारे वाजपेयी की व्याख्या-विवेचना से प्रेरित होकर ही कहा है।” डॉ. नामवर सिंह द्वारा की गयी कामायनी की व्याख्या मुक्तिबोध की व्याख्या के ही इर्द-गिर्द घूमती है। एक बुद्धि-विरोध-अचेतनता और पलायन-इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वित रूप कामायनी में है। “कामायनी में जो बुद्धि का विरोध किया गया है, उसके मूल में अचेतनता का वही पुराना सिद्धांत है।” और दो, “विवेक को ताक पर रखकर सब में प्रेम का प्रचार किया जाए, सब में समरसता फैलायी जाए। सबमें सहृदयता की भावना भर देने से सब ठीक हो जाएगा।” (छायावाद, पृ. 145)—ये दोनों बातें मुक्तिबोध विस्तार में कह गए हैं, इसमें कोई नयी बात नहीं है, इस तरह डॉ. नामवर सिंह की व्याख्या मुक्तिबोध से अलग नहीं कही जा सकती।

“कामायनी” को व्याख्यायित करने का काम, उसे अपने ढंग से समझने का एक प्रयास डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने भी किया है। डॉ. मेघ ने “कामायनी” पर “मिथक और स्वप्न-कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका” नामक पूरी एक पुस्तक ही लिखी है। “कामायनी” जितनी जटिल रचना है डॉ. मेघ द्वारा प्रस्तुत “कामायनी” का विवेचन उससे कम क्लिष्ट और जटिल नहीं है। इस विवेचना के जरिये “कामायनी” को समझना मुश्किल ही नहीं, असंभव-सा जान पड़ता है। उनके द्वारा लिखा हुआ पुस्तक का “आमुख” अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है। इसमें उन्होंने स्पष्ट किया है कि “कामायनी में उन्होंने रूपांतरित संदर्शन का आलोचन किया है। इसके लिए मैंने मनोविज्ञान, सौन्दर्य बोध शास्त्र तथा समाजशास्त्र—इन तीनों की आधुनिक दृष्टियों को विशेष ग्रहण किया है।” (मिथक और स्वप्न, आमुख) इनको ग्रहण करते हुए डॉ. मेघ ने “कामायनी” में मनोविज्ञान की अभिव्यक्ति को, प्रसाद के “इतिहास-दर्शन” को, प्रसाद द्वारा रचित आधुनिक सभ्यता और उसकी समीक्षा को तथा कथा के मिथक से “स्वप्न” में रूपांतरण की प्रक्रिया को समझाने का प्रयास किया है। डॉ. मेघ ने श्री नंददुलारे वाजपेयी की इस मुख्य धारणा का विरोध करते हुए उसे “बेहूदी बात” कहा है, जिसमें सर्गों के आधार पर मनोभावों के विकास क्रम को रेखांकित किया गया है। (वही, पृ. 82) उनके अनुसार प्रसाद द्वारा अभिव्यक्त मनोविज्ञान की सार्थकता यह है कि “कामायनी” में “कवि ने अपने निराले ढंग से सर्गों में मनोभावों के पैटर्न गढ़े हैं। उदाहरण के लिए चिंता के साथ निराशा, अवसाद, विस्मति, भय, जड़ता की वृत्तियों को; आशा के साथ विश्वास, कुतूहल,

जीवनी-इच्छा, सहानुभूति, संवेदना, उल्लास आदि को...सहायकों के रूप में निबद्ध किया गया है।” (वही, पृ. 83) कामायनी में चित्रित मनोविज्ञान की सीमा डॉ. मेघ के अनुसार यह है कि “यह मनोविज्ञान मिथक, आध्यात्मिक प्रतीकों एवं अन्यापदेश से सीमित एवं अवशनीय एवं आक्रांत है।” (वही, पृ. 85) इसका मूल कारण उन्होंने यह दिया है—“कामायनी” में सभी कुछ “ऐतिहासिक काल के बजाय मिथकीय काल में” घटित होता है। डॉ. मेघ ने “कामायनी” में “पात्रों एवं घटनाओं को धारणाओं एवं प्रतीकों में रूपांतरित कर देने” की वजह से “इतिहास की कथा-सृष्टि से अधिक इतिहास दर्शन का संविधान” देखा है। (वही, पृ. 136) कामायनी में जहाँ एक ओर मनोविज्ञान में मिथक और दर्शन को मिलाने से गड़बड़ी उत्पन्न हुई है, वहीं इतिहास या मिथकीय घटना-क्रम में मनोविज्ञान को सम्बद्ध कर देने से इतिहास के विकास निरूपण में गड़बड़ी उत्पन्न हो गयी है। क्योंकि “ऐतिहासिक ज्ञान को केवल मनोवैज्ञानिक नियमों में बांधना असम्भव है।” (वही, पृ. 139) ऐसा करने से “कामायनी में बीज-बिम्बों के शिखरों पर कल्पना के पंख खोलकर उड़ने के फलस्वरूप इतिहास की चक्राम गति का उद्घाटन हुआ है।” (वही, पृ. 143) डॉ. मेघ के अनुसार “कामायनी” का मूल “अन्तर्विरोध” यह है कि इसमें कवि मिथक में “स्वप्नों” की अपनी मानसिक वैयक्तिकता का मेल कर देते हैं; जिसकी वजह से वे (प्रसाद) न सिर्फ “इच्छा-क्रिया-ज्ञान” के समन्वय के बजाय उनकी “समरूपता” स्थापित करते हैं, वरन् “वर्तमान की विषमता”, “विज्ञान का तिरस्कार” करते हुए भविष्य के स्वप्नों के बजाय अतीत के मिथकीय स्वप्नों और धार्मिक संदर्शनों से लुभाने लगते हैं। (वही, पृ. 217) डॉ. मेघ ने यह भी स्पष्ट किया है कि प्रसाद जी ने “कामायनी” में सारस्वतनगर के पूँजीवाद प्रजातंत्र, एक तानाशाह प्रशासक, एक अराजक बुद्धिवादी राष्ट्रीयता और एक आत्मजा प्रजा की धारणाओं को प्रस्तुत किया है। लेकिन इनके उपचार में वे आधुनिकीकरण की उस वैज्ञानिक प्रणाली को स्वीकार नहीं कर सके, जो आज की सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक समस्याओं से निपट सके। वे एक सचमुच जीवित दर्शन को नहीं समझ सके। (वही, आमुख)

“कामायनी” में पायी जाने वाली सभ्यता-समीक्षा के संबंध में डॉ. मेघ के वही विचार हैं, जो मुक्तिबोध के हैं, इस संबंध में कोई अलग बात नहीं कही गयी है। लेकिन डॉ. मेघ ने अपनी विवेचना का मूलाधार उस मिथकीय योजना अथवा आख्यानपरकता को बनाया है, जिसे मुक्तिबोध ने नितांत उपेक्षित कर दिया था। इस मिथक-तत्त्व को महत्त्व देते हुए डॉ. मेघ ने नंददुलारे वाजपेयी की मनोविज्ञान संबंधी व्याख्या को भी उनके द्वारा प्रस्तुत निष्कर्षों से असहमत होते हुए, ग्रहण किया है, और खुद अपने निष्कर्ष निकाले हैं, जो आचार्य शुक्ल और मुक्तिबोध से मिलते-जुलते हैं। वास्तव में डॉ. मेघ ने “कामायनी” की अपनी व्याख्या में मुक्तिबोध और श्री नंददुलारे वाजपेयी का समन्वय स्थापित करने का असफल प्रयास किया है। असफल इस अर्थ में कि ऐसा करते हुए वे “कामायनी” का न तो कोई अलग या विशिष्ट विवेचन ही प्रस्तुत कर सके हैं और न ही कोई ऐसे निष्कर्ष निकाल पाए हैं जो पहले समीक्षकों ने न निकाले हों। “कामायनी” के एक पहलू या मनु के व्यक्तित्व के एक पहलू की ओर उन्होंने संकेत जरूर किया है, जिसका संकेत पहले किसी भी समीक्षक ने नहीं किया है और जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। वह है “कामायनी” और उसे काव्य-नामक मनु में अस्तित्ववादी स्थितियों की पहचान कराना—“मनु में मृत्युबोध तथा अकेलापन सर्वोपरि है। कर्म सर्ग में उनमें स्वतंत्रता और परिस्थितियों के नियत चुनाव के बोध जागते हैं। संघर्ष सर्ग में आकर वे आत्मपराये (सेल्फ ऐलिथनेटेड) हो जाते हैं।... चिंता सर्ग से लेकर संघर्ष सर्ग तक (महाकाव्य काव्य के दो तिहाई खंड में) क्षण का, एवं अस्तित्व का बोध आद्यंत है। इस भाँति “कामायनी” भारतीय

अस्तित्ववादी चिन्ता की भी सबसे पहली कृति है। इस दृष्टि से छायावादी प्रसाद पहले अस्तित्ववादी कवि भी माने जा सकते हैं।” (वही, पृ. 118-19)

इस तरह “कामायनी” संबंधी विवेचन में अभी तक मुख्यतः दो ‘पैटर्न’ दिखलायी पड़ते हैं—एक वह है, जिसमें कामायनी की प्रगतिशीलता और उसकी आधुनिकता की पहचान-समीक्षा को मूलाधार बनाया गया है, और दूसरी वह है जिससे उसकी आख्यानपरकता, उसके “रूपकत्व” को मूलाधार बनाते हुए उसके प्रतिक्रियावादी तत्त्वों रहस्य-प्रतीकार्य आदि को उभारा गया है—चाहे उसकी प्रशंसा में और चाहे उसकी निंदा में। ऐसा देखने में नहीं आया कि “कामायनी” की आख्यानपरकता को मूलाधार मानते हुए, उसे उसकी ही भूमि पर अवस्थित करते हुए उसमें निहित आधुनिकता और प्रगतिशीलता को उद्घाटित किया गया हो। यह निराला और महत्त्वपूर्ण कार्य जिस एकमात्र आलोचक ने किया है, वह हैं डॉ. रामविलास शर्मा । उन्होंने प्रसाद जी पर “साहित्य में लोकजीवन की प्रतिष्ठा और जयशंकर प्रसाद” शीर्षक से एक लेख लिखा है, जो “परंपरा का मूल्यांकन” में संकलित है। इस लेख में उन्होंने प्रसाद जी से संबंधित कुछ प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास किया है, जैसे “प्रसाद जी इस संसार को सत्य मानते थे, या मिथ्या, साहित्य में जिस सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करना उनका लक्ष्य था, वह इस संसार में था, या इससे परे, भारतीय समाज में वह वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व स्वीकार करते थे या अस्वीकार, वे लोक-जीवन से उदासीन थे, या उसे सुखमय बनाना चाहते थे।” (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 130) डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार प्रसाद जी का मानववाद उनके अद्वैतवाद का सहज विकसित सामाजिक रूप है। “कामायनी की विषयवस्तु अध्यात्म-चिंतन न होकर इस भौतिक जगत के मानव की ही संस्कृति है।” (वही, पृ. 133) मनुष्य की सहायता उसकी लोकमंगल की भावना का नाम ही कामायनी है। यह मंगल कामना संसार को दुःखमय कहकर उससे भागने में चरितार्थ नहीं होती। “मनु संसार को दुःखमय कहकर जब उससे भागते हैं, तब कामायनी उन्हें रास्ते पर लाती है। मनु कभी तो वैराग्य और तप की राह अपनाते हैं, कभी उच्छृंखल भोगवाद की ओर चल पड़ते हैं। वास्तव में वैराग्य और भोगवाद दोनों का ही उद्गम एक है—संसार को क्षणभंगुर मानना। प्रसाद जी ने ये दोनों व्यापार एक ही व्यक्ति में दिखाकर उनके एक ही उद्गम की ओर संकेत किया है।” (वही, पृ. 134) डॉ. शर्मा ने यह स्पष्ट किया है कि मनु और प्रजा का संघर्ष ही यह सूचित नहीं करता कि प्रसाद जी के अनुसार भारतीय समाज में वर्ग-संघर्ष था। उन्होंने वर्गों के निर्माण और उनके संघर्षों का स्पष्ट उल्लेख भी किया है। और ऐसा करते हुए प्रसाद जी ने उन लोगों की धारणाओं का खंडन किया है, जो भारतीय समाज का विकास निराले ढंग से हुआ मानते हैं और जो उसमें पश्चिम की तरह न वर्ग का बनना मानते हैं और न ही वर्ग-संघर्ष का होना स्वीकार करते हैं, “वर्ग-संघर्ष का अंत कैसे होगा, प्रसाद जी के सामने यह स्पष्ट नहीं था। परंतु वर्ग हैं, वर्ग-संघर्ष है, इस संघर्ष का अंत करके वर्गहीन समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए यह सब उनके सामने स्पष्ट था।...प्रसाद साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय संस्कृति का सहज विकास वर्गहीन समाज में शोषण-मुक्त मानव की प्रतिष्ठा की ओर है।” (वही, पृ. 136) रामविलास जी के अनुसार प्रसाद जी की यह सीमाएँ कि वह मनु के नगर में नये समाज की स्थापना नहीं दिखाते, वरन् उसका अस्पष्ट चित्र कैलास पर दिखाते हैं, वास्तव में “उनके युग की सीमाएँ हैं।” (वही, पृ. 137) लेकिन प्रसाद जी के चिंतन की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वह गाँधीवाद सांस्कृतिक मार्ग से भिन्न है। डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. नगेन्द्र के मार्ग का अनुसरण करते हुए प्रसाद साहित्य में और विशेषतया “कामायनी” में गाँधीवादी आदर्श की तलाश की है। उनके अनुसार, “प्रसाद साहित्य में

लगभग वही आदर्श प्रचारित कर रहे थे, जो राजनीति में अंतिम दिनों में गाँधी जी कर रहे थे।” (छायावाद, पृ. 145) जबकि गाँधीवाद जहाँ जनता के क्रांतिकारी उभार को दबाकर वर्ग-शांति और समझौते की राह पर चलता है, वहाँ प्रसाद जी वर्ग-शांति के बदले वर्गहीन समाज का आदर्श सामने रखते हैं, और “सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि गाँधीवाद जहाँ निष्क्रिय प्रतिरोध की बात करता है, स्वयं कष्ट सहकर अन्यायी के हृदय-परिवर्तन की बात करता है, वहाँ प्रसाद जी ने सक्रिय प्रतिरोध का आदर्श रखा है, शस्त्र उठाकर आतताइयों का विरोध करने का चित्र खींचा है।” (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 137) रामविलास जी ने ‘कामायनी’ में बुद्धिवाद-विरोध की शंका का भी समाधान प्रस्तुत किया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि प्रसाद जी एक विशेष प्रकार की तर्क-पद्धति या बौद्धिकता का विरोध करते हैं, बुद्धिमात्र का नहीं। वर्गयुक्त समाज में शासकों के मन में कुछ होता है, कर्म कुछ होते हैं, मुँह से वे कहते कुछ और हैं। मन-वचन-कर्म की एकता सम्पत्तिशाली वर्गों में कम देखी जाती है। “कामायनी” में ज्ञान, कर्म और इच्छा तीनों सम्बद्ध हो जाते हैं। इसलिए “प्रसाद का दर्शन बुद्धिवाद विरोधी नहीं है, वरन् वह ज्ञान को मानव की सहृदयता से सम्बद्ध करता है।” (वही, पृ. 139) इस तरह डॉ. रामविलास शर्मा ने ‘कामायनी’ के सकारात्मक पक्षों को हमारे सामने प्रस्तुत किया है और अनेक शंकाओं का समाधान करने की कोशिश की है। लेकिन उन्होंने मनु के माध्यम से अभिव्यक्त “कामायनी” में आधुनिकतावाद, जिसका निरूपण और समीक्षा स्वयं प्रसाद जी ने भी की है, का विवेचन नहीं किया है, उसे बिलकुल छोड़ ही दिया है। इसका कारण शायद यह रहा है कि रामविलास जी ने, जैसा कि स्वयं भी कहा है, कुछ प्रश्नों के उत्तर देने तक ही अपनी विवेचना को सीमित रखा है, “कामायनी” का कोई विस्तृत विवेचन करना उनका उद्देश्य नहीं रहा है।

आज के उत्तर-आधुनिक दौर में ‘कामायनी’ की व्याख्या को लेकर एक बार फिर चुनौती महसूस की जाने लगी है। “देरिदा के विखंडन” और उत्तर-आधुनिक सोच को महत्व देने वाले आलोचक श्री सुधीश पचौरी ने “विखंडन में कामायनी” को व्याख्यायित करने की कोशिश की है। उनके अनुसार “कामायनी” में प्रसाद का विमर्श एक केन्द्र के लिए छटपटाता है। (देरिदा का विखंडन और साहित्य, पृ. 142) “कामायनी” की व्याख्याएँ और स्वयं “कामायनी” दो-दो “रूपकों की कैद” में नजर आती हैं। “कामायनी” की संरचना की दुर्लभ अपारता उसके रूपकवाद में है। उसमें या तीन रूपक एक साथ पढ़े जा सकते हैं और हर रूपक एक कैद बनाता है, जिसके चलते कामायनी की ‘टैक्स्ट’ के ‘विघ्न’ छिप जाते हैं, दब जाते हैं। आधुनिकता की समीक्षा एक ऐसा ही तत्त्व है, जिसे बुरी तरह समरसता के आरोह के जरिए दबा दिया जाता है। पचौरी जी ने अपनी वर्तुलाकार और पुनरावृत्तिमूलक ‘कामायनी’ के पाठ में निहित अर्थों के दमन का उल्लेख किया है—सांगरूपक के मोह ने दोहरे दमन, दोहरी गाँठें पैदा की हैं। पहला दमन आधुनिकता का है, क्योंकि प्रथम क्षण से उसे नकारात्मक, दोयम बताया गया है और समरसता को प्रथम। फिर समरसता की ओर यात्रा उस उत्तर-आधुनिक क्रिटीक को भी दबा देती है, जो आधुनिकता के केन्द्र के मुकाबले दिया गया था। “कामायनी इसलिए विकेंद्रित नहीं हो पाती। वह एक केन्द्र से छूटकर दूसरे में जा गिरती है।” (वही, पृ. 158) और भी ‘कामायनी’ में सबसे बड़ी समस्या है ‘समरसता’, क्योंकि “समरसता का केन्द्र कामायनी को पूर्ण उत्तर-आधुनिक”, ‘टैक्स्ट’ नहीं बनने देता। वह अधूरी ‘टैक्स्ट’ बनती है। (वही, पृ. 156) ‘कामायनी’ का ‘उलट पाठ’ सुधीश जी के सामने यह रहस्य खोलता है कि “कामायनी में दोहरे दमन की गाँठ है। एक है कामना का दमन। इसके साथ ही समरसता के पाठ ने प्रकृति

के पाठ को भी दबाया है।” (वही) लेकिन इस दमन और समरसता के केन्द्रवाद के बावजूद चिंता सर्ग, स्वप्न, इड़ा इत्यादि सर्गों में आधुनिकता की गहन समीक्षा कामायनी को एक उत्तर-आधुनिक पाठ की क्षमता देती है।” (वही, पृ. 157) सुधीश जी ने इसी स्तर पर ‘कामायनी’ के क्लासिक महत्त्व की ओर संकेत किया है—‘समरसता की अंधता के बावजूद उसकी चमक, भौतिक सुख को लेकर लगातार की गई उसकी समीक्षा में दिखती है।” उसमें “आधुनिकता का जो क्रिटीक उभरा है, वह उत्तर-आधुनिक क्रिटीक की तरह पढ़ा जा सकता है। कामायनी का यही क्लासिक महत्त्व है।” “कामायनी” के जिस महत्त्वपूर्ण पक्ष और जिस कमजोर पक्ष को सुधीश जी ने ‘उलट पाठ’ के जरिये अर्जित किया है, उसे मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ के सीधे पाठ से ही अर्जित कर लिया था। उसे नयी शब्दावली में कह देने से कोई चिंतन नया नहीं हो जाता। वास्तव में ‘कामायनी’ आधुनिकता का ‘क्रिटीक’ नहीं है, वरन् आधुनिकतावाद का क्रिटीक है, जो पूँजीवादी सभ्यता का परिणाम है। मुक्तिबोध ने तो स्पष्टतया ‘पूँजीवाद’ का उल्लेख किया है, पर सुधीश पचौरी उत्तर-आधुनिकता के चक्कर में ऐसी शब्दावली से साफ बचकर निकल गए हैं और कुछ नया कहने के फेर में मुक्तिबोध की स्थापनाओं को ही दुहराते हुए नजर आते हैं। फर्क सिर्फ इतना ही है कि मुक्तिबोध जहाँ समरसता के रहस्यवादी-दार्शनिक समाधान के बजाय ‘कामायनी’ में वैज्ञानिक समाज-व्यवस्था के एक केन्द्र-स्थापन की माँग करते हैं, वहाँ सुधीश पचौरी ‘समरसता’ के बजाय विकेन्द्रीयकरण की। यह विकेन्द्रीयकरण प्रसाद जी के रहस्य-लोक से भी अधिक रहस्यमय जान पड़ता है, क्योंकि इसमें सिर्फ शून्य शेष रहता है कोई लोक नहीं। इस विकेन्द्रितवादी शैली में एक अर्थ दूसरे उपस्थित अर्थ को काटता चला जाता है और अंत में शून्य हाथ लगता है। यकीन न हो तो देरिदा के भाषा संबंधी चिंतन को ध्यान से पढ़ना चाहिए—जिसे स्वयं सुधीश पचौरी अपना आदर्श मानते हैं।

इस तरह ‘कामायनी’ की विभिन्न आलोचकों ने जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं, उससे ‘कामायनी’ के विवेचन की अनेक दिशाएँ खुलती हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने विवेचन में सर्वाधिक बल इच्छा-क्रिया और ज्ञान के असंतुलन, उसके विभेद और विषमता पर दिया है, जिसके कारण मानव जीवन और समाज में असंतुलन और विषमता व्याप्त हो गयी है। इनके सामंजस्य की बात को भी वे बहुत महत्त्व का विचार मानते हैं, लेकिन सारी समस्या वे ‘कामायनी’ में रहस्य-भावना के प्रवेश की वजह से पाते हैं। इसी वजह से प्रसाद जी ‘कामायनी’ की अन्तर्योजना भी गड़बड़ा जाती है। फिर भी आचार्य शुक्ल स्वीकार करते हैं कि ‘कामायनी’ के सौन्दर्य को अलग-अलग ढंग से देखा जाए तो वह एक श्रेष्ठ कृति है। इसके अलावा वे इस कृति में वर्ग-संघर्ष और साम्यवादी स्वर की ओर भी संकेत करते हैं। श्री नंददुलारे वाजपेयी ने ‘कामायनी’ के सौन्दर्य को खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने का प्रयास किया है और उसके मनोवैज्ञानिक अध्ययन की दिशा का प्रवर्तन किया है। उनके अनुसार प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ में मानव-मन की जटिलता और उसको भेद का मनुष्य मात्र की प्रतिष्ठा-मनु और श्रद्धा के विशुद्ध नर-नारी रूप की, इतिहास-काल निरपेक्ष शाश्वत रूप की प्रतिष्ठा पर बल दिया है। इस मनोवैज्ञानिक-मनोविकारों पर आधारित विवेचना का खंडन करते हुए मुक्तिबोध ने ‘कामायनी’ में मूलतः सभ्यता-समीक्षा की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। उनके अनुसार प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ में पूँजीवादी आधुनिक समाज की प्रस्तुति की है और उसकी आलोचना भी की है। यह समाज, जिसकी स्थापना ‘कामायनी’ में मनु करता है, विषमता और समस्याओं से भरा हुआ है, उसमें जनता का निर्बाध शोषण किया जाता है। लेकिन मुक्तिबोध के अनुसार इस समाज की आलोचना तो प्रसाद जी ने सही की है पर उसका कोई वैज्ञानिक विकल्प कवि प्रस्तुत नहीं

कर पाता, जिसकी मूल वजह है प्रसाद जी की रहस्यवादी विचारधारा यानी रहस्यवादी ढंग से जिस तरह की समरसता 'कामायनी' में स्थापित की गयी है उससे व्यक्ति का तो समस्याओं से छुटकारा हो जाता है, पर समष्टि या समाज का छुटकारा संभव नहीं है। इसके अलावा मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के शिल्प की ओर भी संकेत किया है, जो कि मूलतः एक 'फैंटेसी' है। यानी 'कामायनी' स्वप्न-शैली में लिखी गयी रचना है, जिसमें चीजें एक साथ असंबद्ध रूप में उपस्थित रहती हैं और जिसमें जीवन के जटिल प्रश्नों को आसानी से टाला जा सकता है। डॉ. रमेश कुंतल मेघ ने 'कामायनी' में अस्तित्ववाद की अभिव्यक्ति की ओर संकेत करते हुए उसके विवेचन की एक सर्वथा नई दिशा इंगित की है। डॉ. नगेन्द्र ने काव्यशास्त्री नजरिये से 'कामायनी' की समस्याओं को हल करने की प्रयास किया है। और प्राचीन काव्यशास्त्र को अपर्याप्त पाते हुए 'कामायनी' के जरिये उसका विकास किया है, जैसे कि अंगीरस के रूप में आनंद रस का निर्माण जिसकी प्रतिष्ठा 'कामायनी' में है, और महाकाव्य के रूप में 'कामायनी' जीवन का नहीं, वरन् मानव-चेतना की अभिव्यक्ति का महाकाव्य ठहरती है, जिसमें मूलतः आनंदवाद की प्रतिष्ठा की गयी है। डॉ. रामविलास शर्मा 'कामायनी' को जीवन-जगत की प्रतिष्ठा, मनुष्य और मनुष्यता की प्रतिष्ठा करने वाली कृति के रूप में व्याख्यायित करते हैं और इस तरह 'कामायनी' में जीवन-जगत और मानव के महत्त्व की दिशा संकेतित करते हैं। उनके अनुसार प्रसाद जी का दर्शन भी जीवन-जगत को महत्त्व देने वाला है और उसमें मनु की पलायन वृत्ति का खंडन किया गया है। साथ ही प्रसाद जी ने 'कामायनी' के जरिये भारतीय समाज के वर्गहीन समाज में सहज और स्वाभाविक विकास को रेखांकित किया है। 'कामायनी' के विवेचन की जो दिशा डॉ. रामविलास शर्मा ने दिखाई है वही वास्तव में सही और उचित दिशा है, क्योंकि इसी तरह के विवेचन में 'कामायनी' की आख्यानपरकता भी सुरक्षित रह पाती है और वह एक आधुनिक और प्रगतिशील रचना भी नजर आती है। यानी ऐसे विवेचन से ही "कामायनी का ऐतिहासिक और सामाजिक महत्त्व" उजागर होता है।

(छ) कामायनी : संवेदना और शिल्प

—डॉ. रेणु बाला

‘कामायनी’ के प्रस्थान बिंदु को देखें तो यह काव्य-रचना की एक मूल्य-व्यवस्था से दूसरी रचना-मूल्य-व्यवस्था में प्रवेश का सूचक है। इसमें न सिर्फ मुक्तकों वाली एक भाव-स्थिति के बजाय मनुष्य और परिस्थिति के घात-प्रतिघात से बनने वाली कथात्मकता-घटना क्रम है, वरन् इस महाकाव्य की शुरुआत शृंगार के बजाय चिंता से होती है। यह चिंता वास्तव में पहले के काव्य और भद्र समाज में निहित एक मूल्य-व्यवस्था को लेकर है जिसमें नित्य निर्बाध भोग-विलास, उद्दाम वासना, शृंगार, सुरा-सुंदरी और सुरभिमय जीवन में डूबी निष्क्रियता, दंभ और क्रूरता से युक्त अमरता का भ्रम आदि सब अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। ऐसे चरणों (कामों) से ‘धरती’ प्रतिदिन ‘आक्रांत’ होकर थर-थर काँपती थी। यदि थोड़ा भी ध्यान दें तो यह रचना-मूल्य-व्यवस्था वास्तव में रीतिकालीन मूल्य-व्यवस्था नजर आती है। यह बात सही है कि हम ‘कामायनी’ की कोई भी व्याख्या उसकी आख्यानपरकता की नितांत उपेक्षा करके नहीं कर सकते, लेकिन इसके भीतर से निकलने वाले संकेतों को भी हम छोड़कर नहीं चल सकते, दोनों ही स्तरों पर ‘कामायनी’ आधुनिकता से युक्त है। रीतिकालीन रचना-मूल्य-व्यवस्था के बजाय चिंता को महत्त्व देना उसे प्रस्थान बिंदु बनाना इसी आधुनिकता का प्रमाण और परिणाम दोनों हैं। यह चिंता वास्तव में संस्कृति और समाज में मनुष्य की भूमिका से जुड़ी है, उसकी भूमिका की पहचान कराने वाली है। ‘चिंता सर्ग’ में एक मूल्य-व्यवस्था के ढह जाने का, उसके परिणाम का दुःख तो है—

गया सभी कुछ गया मधुरतम...
भरी वासना-सरिता का वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह
प्रलय-जलधि में संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह। (कामायनी)

साथ ही उसकी तार्किक परिणति की समझ भी है—

“क्यों न विशृंखल होती सृष्टि।” (वही)

निर्बाध भोग-विलास और वासना की बहती सरिता, दंभ तथा अमानवीयता की तार्किक परिणति है—सृष्टि का ‘विशृंखल’ होना। ‘कामायनी’ में एक मूल्य-व्यवस्था के परिणाम का जो गहरा दुःख है उसमें उस मूल्य-व्यवस्था-रचना व्यवस्था की समीक्षा छिपी हुई है, और ‘चिंता’ वास्तव में उसे बचाने की नहीं है, वरन् उसके कारणों की खोज है। परिणाम का दुःख वास्तव में हमें उसके कारणों की ओर ले जाता है तथा—“हम क्या थे, क्या हो गए और क्या होंगे अभी,” की चिंतन-प्रणाली से हम जुड़ जाते हैं। मनु जब पुरानी मूल्य-व्यवस्था के कारणों और उसकी तार्किक परिणति को जान लेता है तो उसमें “शान्ति और जागरण चिह्न-सा लगा धधकने अब फिर से।” तथा काम की ‘अनादि वासना’ नवीन होकर जाग उठती है। यह ‘काम’ पुरानी काम वासना का पर्याय नहीं है—यह रीतिकालीन ‘शृंगार’ का पर्याय नहीं है, वरन् उसका रूप अत्यंत व्यापक है। श्रद्धा काम-गोत्रजा है, इसलिए उसका एक नाम कामायनी भी है। वह लोकमंगल की भावना का पर्याय भी है—

‘वह कामायनी जगत की
मंगल कामना अकेली।’

श्रद्धा काम-भावना उत्पन्न करते हुए मनु के हताश-मन में रागपूर्ण आत्मविश्वास का संचरण करती है। वह उसे कर्म के लिए प्रेरित करती है—

‘दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।’

श्रद्धा स्पष्ट करती है कि ‘यह विश्व कर्म रंगस्थल है’ और इसमें ‘कर्म यज्ञ से जीवन के/सपनों का स्वर्ग मिलेगा।’ वह मनु को ‘कर्म का भोग/भोग का कर्म’ नामक दर्शन सिखाती है और उसे ललकारती है—

‘शक्तिशाली हो, विजयी बनो
विश्व में गूँज रहा जयगान।’

‘कामायनी’ में काम वास्तव में कर्म, वासना, प्रेम, जिजीविषा, विश्वास, लोकमंगल आदि अनेक भावनाओं का पुंज दिखलायी पड़ता है। उसमें देश-प्रेम, विश्व-प्रेम और प्रकृति-प्रेम इत्यादि की भावनाएँ घुली-मिली हैं। काम का पौराणिक रूप मुख्यतः ‘वासना’ के देवता वाला है और उसका शास्त्रीय-रीतिवादी रूप शृंगार तथा नायिका-भेद वाला। प्रसाद जी ने इस धारणा में परिवर्तन करते हुए उसे “जीवन परिचालिनी शक्ति के रूप में बहुत ही प्रशस्त उपस्थापन किया है। काम न केवल सृष्टि के उद्भव ही में है बल्कि वह सृष्टि के निर्माण एवं विकास में भी उपादेय है।” (डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी, *कामायनी : कला और दर्शन*, पृ. 63) प्रसाद जी ने ‘कर्म का भोग और भोग का कर्म’ बताकर ‘गीता’ के निष्काम कर्म के सिद्धांत में भी उलटफेर किया है। प्रसाद जी के अनुसार कर्म का कोई-न-कोई फल अथवा परिणाम निकलना ही चाहिए। यही नहीं, शृंगार और भोग की मूल्य-व्यवस्था को बदलने के क्रम में प्रसाद जी ने नारी-संबंधी धारणा को भी बदला है, शृंगार और भोग की मूल्य-व्यवस्था में नारी मूलतः भोग्या रही है। लेकिन प्रसाद जी के अनुसार वह कर्म की प्रेरणा देने वाली, सृष्टि में मंगल करने वाली तथा विश्व विजय और मनुष्य को शक्तिशाली बनाने वाली कल्याणकारी कारक है। इसलिए वह कोई ‘मायावनी-अविद्या’ नहीं है, जिसे त्यागना साधक का प्राथमिक कर्तव्य हो, बल्कि वह सम्मान और आदर की पात्र है—

‘नारी तुम केवल श्रद्धा हो।’

इस तरह, ‘कामायनी’ का चिंता से आरंभ होना और श्रद्धा द्वारा मनु को कर्म की ओर प्रेरित करना वास्तव में साहित्य को रीतिवादी रूढ़िवाद के संकुचित दायरे से निकाल कर उसे जीवन-जगत और संस्कृति की व्यापक चिंताओं से सम्बद्ध करना है, साथ ही गीता के निष्काम-कर्म तथा मध्यकालीन मायावाद से भारतीय मानस को मुक्त करते हुए नारी की उचित भूमिका की पहचान कराना है, और इस तरह ‘कामायनी’ पुरानी रचना-मूल्य-व्यवस्था के बजाय आधुनिक रचना-मूल्य-व्यवस्था की प्रस्तावना करती है, जिसमें जीवन जगत, मनुष्य और देश-हित के प्रश्न चिंतन के केन्द्र में आते हैं। अपनी आख्यानपरकता, प्रतीकवाद के बावजूद ‘कामायनी’ में जीवन-जगत और मनुष्य के महत्त्व की प्रतिष्ठा मिलती है, उसकी जटिल समस्याओं का रेखांकन पाया जाता है।

‘कामायनी’ में मनु परलोक अथवा देवलोक की तुलना में मानव-लोक की सृष्टि करते हैं। श्रद्धा और इड़ा इस कार्य में उनकी सहायता करती है, यह सृष्टि देव-सृष्टि से आगे बढ़ी हुई सृष्टि है। इसमें मनुष्य के कर्म का सर्वाधिक महत्त्व है, देव-सृष्टि में कर्महीनता है। यहाँ ‘अखिल मानव भावों का सत्य’/‘विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य अक्षरों से अंकित’ है। देवताओं का भावों से-विकारों से क्या लेना-देना? देव-सृष्टि काफी हद तक एकायामी है, लेकिन मानव-सृष्टि बहुआयामी। उसमें न सिर्फ भावों-विकारों की संश्लिष्ट बहुविध व्यवस्था होती है, वरन् वह अपने बाह्य रूपाकार में भी संश्लिष्टता और बहुआयामिता से युक्त होती है। कामायनी में न सिर्फ श्रद्धा, मनु, इड़ा और प्रजा की विविध भावनाओं—एक-एक भाव के साथ अनेक अनुभावों की व्यवस्था की अभिव्यक्ति है, वरन् ग्राम-समाज, साम्राज्य स्थापना के क्रम में नगर, विभिन्न कर्म और विभिन्न वर्ण अथवा वर्गों की बहुविध उपस्थिति है। साथ में प्रकृति का भी—कहीं स्वतंत्र और कहीं मानव द्वारा नियमित-अस्तित्व है। इस तरह, मनुष्य के आंतरिक भावों और बाह्य जीवन की रीतिकालीन एकरसता और एकायामिता के बजाय ‘कामायनी’ में उसकी संश्लिष्ट और बहुविध व्यवस्था का चित्रण किया गया है। नव-जागरणकालीन मानववाद की प्रतिष्ठा को यहाँ आसानी से देखा जा सकता है। वास्तव में जहाँ से देव-सृष्टि खत्म होती है, वहीं से मानव-सृष्टि की शुरुआत होती है। श्रद्धा कहती है—

“देव-असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज,
पड़ा है बन मानव संपत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज।”

मनुष्य के इस चेतनता के राज में ‘मानवता की कीर्ति अनिल, भू, जल में बंद’ नहीं रहेगी, यानी वह प्राकृतिक शक्तियों पर विजय प्राप्त करती हुई संपूर्ण जीवन-जगत में, अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाएगी और इस तरह मानवता की विजय होगी—

“शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
पार विकल बिखरे पड़े हैं हो निरूपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय!”

वास्तव में मानवता के विजय की कामना और देव-सृष्टि के ध्वंसावशेषों पर मानव-सृष्टि की प्रस्तावना है ‘कामायनी’। यह ‘कामना’ और प्रस्तावना संसार को दुःखमय कहकर उससे भागने में चरितार्थ नहीं होती। मनु संसार को दुःखमय कहकर जब उससे भागते हैं, तब श्रद्धा उन्हें रास्ते पर लाती है। डॉ. रामविलास शर्मा ने सही रेखांकित किया है कि प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ में मनु की आलोचना के जरिये जीवन-जगत विरोधी प्रवृत्तियों की आलोचना प्रस्तुत की है और जीवन-जगत विरोधी प्रवृत्तियों के मूल उद्गम की ओर संकेत किया है। वह मूल उद्गम है—संसार को क्षण भंगुर मानना। कोई क्षणभंगुरता के विचार से वैरागी हो जाता है, कोई क्षण के आनंद में ही सबकुछ भूल जाना चाहता है। अक्सर आज जो भोगवादी है, कल वही वैरागी भी बन जाता है। प्रसाद जी ने ये दोनों व्यापार मनु में दिखाकर यानी एक ही व्यक्ति में दिखाकर उनके एक ही उद्गम की ओर संकेत किया है। इसलिए रामविलास जी की यह स्थापना एकदम सही है कि “कामायनी की विषयवस्तु अध्यात्म-चिंतन न होकर इस भौतिक जगत के मानव की ही

संस्कृति है।” (परंपरा का मूल्यांकन, पृ. 133) मानव की यह संस्कृति देव-संस्कृति की तुलना में न सिर्फ इसलिए श्रेष्ठ है कि यह बहुआयामी और विविधता लिए हुए है कि उसमें कर्मशीलता की प्रधानता है, वरन् इस रूप में भी श्रेष्ठ है कि वह मूल्यों से युक्त है। इसमें सिर्फ अपना ही सुख मुख्य नहीं है, वह सुख संकीर्ण नहीं है, इसमें सबको सुखी बनाकर अपने सुख को व्यापक, संकीर्णता के बजाय विस्तृत बनाने की अवधारणा पर बल है—

“औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ!”

दूसरों को सुखी बनाना ‘शृंगार’ और ‘रति’ के जरिये संभव नहीं है जो देव-संस्कृति का ‘शृंगार’ और ‘रति’ ‘कामायनी’ में अपना मानवीय आकार ग्रहण करता हुआ परिवर्तित होकर ‘प्रेम’ और ‘लज्जा’ बन जाता है—यह गुणात्मक परिवर्तन है। इसी तरह देव-सृष्टि की अंधता यहाँ चेतनता और बुद्धि में—इड़ा में परिवर्तित हो जाती है। यह चेतनता और बुद्धि श्रद्धा का भी गुण है, सिर्फ इड़ा का ही नहीं है। डॉ. शिवनाथ के अनुसार बिना बुद्धि के किसी भी कर्म का संपादन संभव नहीं; ‘कामायनी’ में श्रद्धा उत्तमोत्तम कर्मों का संपादन-संचालन करती है, अंत में वह लौकिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से मनु की पथप्रदर्शिका भी बनी है; फिर भी कहा जाता है कि श्रद्धा में बुद्धितत्व की कमी है। किंतु किन्हीं अंशों में दोनों (श्रद्धा और इड़ा) में हृदय एवं बुद्धि का सन्निवेश है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। (कामायनी सं. लोढ़ा) इस तरह देव-सृष्टि की अंधता के बजाय चेतनता, बौद्धिकता, प्रकाश और ज्ञान-विज्ञान मानव-सृष्टि का लक्षण है। ‘कामायनी’ में मनुष्य ने अपने कर्म से सृजनात्मकता, संस्कृति और सभ्यता अर्जित की है। ‘कामायनी’ में ‘बिम्बविधान’ को अत्यधिक महत्त्व देने वाले आलोचक श्री रामस्वरूप चतुर्वेदी को भी ‘कामायनी’ में चित्रित मानव-सृष्टि की श्रेष्ठता को स्वीकार करना पड़ा है। “प्रसाद का पक्ष है कि देव-सृष्टि जहाँ भोग-विलास और महज भौतिक सुख-साधनों में डूबी हुई थी, वहाँ मनुष्य की सृष्टि कुछ नये मान-मूल्यों का आविष्कार करती है, जिनमें सबसे प्रमुख है प्रेम करने की क्षमता। मृत्यु पर विजय पाने के लिए मनुष्य प्रेम की क्षमता विकसित करता है, और उसी से जुड़ी सर्जनात्मक शक्ति।” (हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ. 118)

‘कामायनी’ में प्रतिपादित मानव-संस्कृति जहाँ एक ओर देव संस्कृति से भिन्न और विशिष्ट है, वहीं वह असुर-संस्कृति से भी अलग अपना खास महत्त्व रखती है। मनु देव-पुत्र हैं। वह देव-असुर संग्राम और दोनों संस्कृतियों की विशिष्टता से अच्छी तरह परिचित हैं। वह इसे स्पष्ट करता हुआ सोचता है—“जीवन का लेकर नव विचार/जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार/उस ओर आत्म विश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार—“मैं स्वयं सतत् आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर”। यानी “था एक पूजता देह दीन/दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण।” देव-संस्कृति जहाँ आत्ममुग्ध, अहंकारी और सब कुछ पर अधिकार किए हुए थी, वहाँ असुर-संस्कृति शरीर-सुख में डूबी हुई थी—देह-सुख ही जैसे उसका परम-पूजन कर्म था। ये दोनों ही संस्कृतियाँ अपूर्ण थीं। मानव-संस्कृति निश्चित ही इन कमियों से परे एक पूर्ण संस्कृति होगी, जो अन्य मनुष्यों की ही चिंता नहीं करेगी, वरन् सृष्टि के समस्त चर-अचर प्राणियों की भी चिंता करेगी—ऐसा संकेत हमें ‘कामायनी’ से मिलता है। प्रलय

से बचकर जब मनु यज्ञ करते हैं तो पशु की बलि नहीं देते तथा उसमें से बचा हुआ अन्न मनु दूमरों के लिए दूर रख आते हैं—“अग्निहोम अवशिष्ट अन्न कुछ/कहीं दूर रख आते थे/होगा इससे तृप्त अपरिचित/समझ सहज सुख पाते थे।” लेकिन मनु का यह सहज सुख अधिक दिनों तक नहीं चल पाया। किलात और आकुलि नामक दो असुर पुरोहित उस विप्लव से बच निकले थे—“असुर पुरोहित उस विप्लव से/बचकर भटक रहे थे/वे किलात आकुलि थे।” वे मनु के पास आए और उन्होंने मनु को पशु-बलि के लिए उकसाया तथा मनु की सुप्त वासना को जगाया। वह समझने लगा—“आकर्षण से भरा विश्व यह/केवल भोग्य हमारा।” श्रद्धा के यह समझाने पर भी कि “ये जो प्राणी बचे हुए हैं/इस अचला जगती के/उनके कुछ अधिकार नहीं/क्या वे सब ही हैं फीके”, मनु की कुछ समझ में नहीं आया और वह भोग-विलास तथा अधिकार-सुख की लालसा में सारस्वत प्रदेश में आ पहुँचा। यहाँ पहुँचकर देव और असुर संस्कृतियों का द्वन्द्व जैसे उसके भीतर ही समा गया—“मुझमें ममत्वमय आत्ममोह स्वातंत्र्य मयी उच्छृंखलता/हो प्रलय भीत तन रक्षा में पूजन करने की व्याकुलता/वह पूर्व द्वन्द्व परिवर्तित हो मुझको बना रहा अधिक दीना।” यानी आत्ममोह और शरीर सुख की आराधना दोनों के लिए रंगस्थल बन गए मनु। इड़ा की सहायता से सारस्वत-प्रदेश का निर्माण करने के उपरांत मनु भोग-विलास में डूब गए, तथा सब कुछ पर अधिकार कर लेने की वृत्ति ने उन्हें इड़ा पर भी पूर्ण अधिकार के लिए प्रेरित किया, जनता पर उन्होंने पहले ही अधिकार कर लिया जिन पर मनु अत्याचार करते थे। इसका परिणाम हुआ प्रजाविद्रोह और प्रकृति-क्षोभ। युद्ध में मनु घायल हो बेसुध हो गए। फिर श्रद्धा आयी और उन्हें कैलाश-पर्वत पर ले गयी तथा पृथ्वी पर राज्य करने के लिए अपने पुत्र मानव को इड़ा के पास छोड़ गयी। मानव का इड़ा के साथ होना इस बात का संकेत है कि मानव-संस्कृति में सहृदयता और चेतना का सुखद-संयोग रहता है, उसमें कर्म का महत्त्व होता है और सबकी चिंता का मानवीय मूल्य। मनु में जब आसुरी-वृत्ति जगी तो वह न सिर्फ सबको अपने भोग का साधन समझने लगा था, वरन् चेतना को भी अस्वीकार करने लगा था। उसकी समझ थी कि यह विश्व उसी समय हमारा ‘भोग्य’ बन सकता है, ‘जिस क्षण भूल सकें हम अपनी/यह भीषण चेतनता।’ जैसे इसी धारणा का विरोध करते हुए श्रद्धा मानव से कहती है—“यह (इड़ा) तर्कमयी तू श्रद्धामय/तू मननशील कर कर्म अभय/इसका तू सब सताप निचय/हरले, हो मानव भाग्य उदय/सब की समरसता कर प्रचार/मेरे सुत! सुन मां की पुकार।” यानी ‘कामायनी’ में जिस मानव-संस्कृति की अभिव्यक्ति की ओर प्रसाद जी ने संकेत किया है वह देव और असुर संस्कृतियों की तुलना में न सिर्फ विशिष्ट और श्रेष्ठ है, वरन् वह एक पूर्ण-संस्कृति भी है जिसमें शरीर-सुख और व्यक्तिगत अधिकार या हित के बजाय करुणा और समाज-हित के सरोकार प्रमुख हैं। यानी यह संस्कृति आत्म-सुख की आकांक्षा में दूमरों पर अन्याय-अत्याचार में लीन रहने के बजाय करुणा और जन-कल्याण जैसे मूल्यों की सृष्टि करती है।

‘कामायनी’ में यह जो मानव-संस्कृति की अभिव्यक्ति और ‘सर्जनात्मक शक्ति’ संभव हुई है वह ज्ञान-विज्ञान की स्वीकृति के बिना असंभव थी। ‘कामायनी’ में नवजागरण की मूल प्रवृत्ति ज्ञान-विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्वीकार और समर्थन है। ‘कामायनी’ में जब कवि श्रद्धा के व्यक्तित्व का निरूपण करता है, उसका चित्रण करता है तो उसकी तुलना सबसे अधिक अग्नि रूपों से, प्रकाश के रूपों से करता है। वह ‘घन तिमिर में चपला की रेख है’, ‘उषा की पहिली लेखा कांत है’, ‘भोर की तारक द्युति की गोद’ है, ‘अरुण की एक किरण’ है, ‘एक लघु ज्वालामुखी’ है और सबसे बड़ी बात यह है कि प्रकाशमय है—“खिला हो ज्यों बिजली का फूल।” यानी श्रद्धा अंधकार में प्रकाश फैलाने वाली है। यह प्रकाश वह

कवि बिहारी की नायिका की तरह अपने रूप-सौन्दर्य ('जगर-मगर होत दिवाली-सी') से नहीं फैलाती, वरन् अपने कर्मों, आदर्शों और विचारों से फैलाती है। वह अचेतनता में नहीं डुबोती, वरन् चाहती है—“चेतना का सुन्दर इतिहास/अखिल मानव भावों का सत्य, विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य/अक्षरों से अंकित हो।” और वह प्राकृतिक विज्ञान-शक्ति के विद्युतकणों के उपयोग से मानवता के विजय की कामना करती है। इड़ा भी इसी तरह, बल्कि अधिक मुखरूप में ज्ञान-विज्ञान का समर्थन करती है और प्रसाद जी के अनुसार इड़ा स्वयं 'संस्कृति के सब-विज्ञान-ज्ञान' से युक्त है इड़ा इस बात की चिन्ता-परवाह किए बिना कि—'हो कहीं विषमता या समता' मन का प्रेरित करती है कि—

“तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाया।”

और वह मनु के साथ मिलकर ज्ञान-विज्ञान का उपयोग करते हुए सारस्वत प्रदेश के निर्माण में सहायक बनती है। इस तरह 'कामायनी' में ज्ञान-विज्ञान की सहायता से मानव-सभ्यता—'आधुनिक सभ्यता'—के निर्माण और विकास की प्रस्तुति हुई है। इस सारस्वत नगर के निर्माण में आलोचकों ने 'पूँजीवादी समाज' औद्योगिक क्रांति तथा आधुनिक प्रजातंत्र का संकेत ग्रहण किया है—“बुद्धि के बल से मनु ने सारस्वत नगर का पुनर्निर्माण किया; विज्ञान के द्वारा उन्होंने प्रकृति पर विजय प्राप्त की, उत्पादन के बड़े-बड़े यंत्र खड़े किए और लोक कल्याण के लिए प्रजातंत्र की स्थापना की। इन सभी का अर्थ है औद्योगिक क्रांति तथा आधुनिक प्रजातंत्र की स्थापना।” (डॉ. नामवर सिंह *इतिहास और आलोचना*, पृ. 151) डॉ. सिंह के अनुसार सारस्वत नगर सबसे दिलचस्प प्रतीक है, क्योंकि यह “भारत के विकासोन्मुख राष्ट्रजागरण का प्रतीक है। सारस्वत नगर के वर्ग-भेद, ज्ञान-इच्छा, क्रिया भेद आदि की आलोचना करते हुए भी प्रसाद ने उसके वैज्ञानिक विकास औद्योगिक उत्थान तथा लोक-संगठन की प्रशंसा की है। इसके साथ ही उन्होंने अधिनायकवाद की पराजय तथा जनशक्ति का चित्रण करके भारतीय स्वाधीनता के भावी रूप की ओर भी संकेत किया है।” (*वही*, पृ. 155) सारस्वत नगर के निर्माण में विज्ञान का समर्थन, सभ्यता का निर्माण और राष्ट्रीय जागरण तथा स्वाधीनता के भावी रूप के संकेत अवश्य ग्रहण किए जा सकते हैं। लेकिन इसके जरिये पूँजीवादी समाज की स्थापना, औद्योगिक क्रांति और आधुनिक प्रजातंत्र को खोजना उचित नहीं जान पड़ता। यदि ध्यान से देखें तो सारस्वत प्रदेश का स्वरूप आधुनिक की अपेक्षा मध्यकालीन अधिक जान पड़ता है। इसमें मनु ही एकमात्र शासक है, लोग शिकार करते हैं, खेती करते हैं, और कुछ कारीगर हैं, जो हथियार बनाते हैं तथा कुछ व्यवसायी हैं। यह मूलतः कृषि पर आधारित समाज-व्यवस्था है, जिसमें व्यापार तो है, पर उसके लिए उत्पादन छोटे पैमाने पर है, इसमें चार मुख्य वर्ण हैं जो वर्ग भी बन गए हैं। यह व्यवस्था वास्तव में एक स्वावलंबी समाज-व्यवस्था है जिसमें लोग शासक के लिए विभिन्न नजराने पेश करते हैं, जिस व्यवसाय से वे सम्बद्ध हैं। इसलिए डॉ. रमेश कुंतल मेघ का यह कहना बहुत अर्थपूर्ण लगता है कि “इतिहासकार प्रसाद ने इस आधुनिक नगर का निर्माण भी मूलतः मध्यकालीन बोध से किया है।” (*मिथक और स्वप्न*, पृ. 73) इस नगर में समस्या तब पैदा होती है, जब इस समाज में विषमता तीव्र होती है और शासक मनु तानाशाह तथा निरंकुश हो जाता है, सब कुछ को वह अपने अधीन कर लेना चाहता है, जिसका परिणाम होता है वर्ग-संघर्ष—राजा और प्रजा का द्वन्द्व और युद्ध। प्रजा का विद्रोह और वर्गों का संघर्ष पूँजीवादी समाज से पहले भी होता था, कई ऐसे देशों में आधुनिक युग में समाजवादी क्रांति सम्पन्न हुई है, जिनमें पूँजीवाद का बहुत विकास नहीं हुआ था। ये सामाजिक क्रांतियाँ वास्तव में

साम्राज्यवाद का एक विश्व-व्यवस्था के रूप में पूँजीवाद का विरोध करते हुए समाजवाद की ओर, साम्यवाद की ओर उन्मुख हुई हैं। प्रसाद जी भी 'यंत्रवाद' यानी यांत्रिक सभ्यता से—एक साम्राज्यवादी विश्व व्यवस्था से—साम्यवाद की ओर जाते हैं, समरसता की ओर जाते हैं—

“शापित न यहाँ है कोई तापित पानी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।”

यदि इस बात का ध्यान रखा जाए तो मुक्तिबोध ने जो प्रसाद जी द्वारा व्यक्त वर्ग-स्वरूप और सभ्यता-समीक्षा की तीखी आलोचना की है वह उचित नहीं जान पड़ती, जबकि वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि यह प्रसाद के युग की सीमा रही है। प्रसाद जी ने भले ही मध्यकालीन बोध से सभ्यता का निर्माण किया हो, परंतु वे उसमें स्पष्टतया से वर्गों का उल्लेख करते हैं, “श्रम भाग वर्ग बन गया” और “अधिकारों की सृष्टि और उनकी वह मोहमयी माया/वर्गों की खाई बन फैली कभी नहीं जो जुड़ने की।”

साथ ही 'संघर्ष' सर्ग में स्पष्ट रूप से वर्ग-संघर्ष का चित्रण प्रसाद जी ने किया है। इसलिए प्रसाद जी की आधुनिकता और प्रगतिशीलता की तलाश मार्क्सवादी नजरिये से क्रांति-संपन्न होने में करने के बजाय (जैसा कि मुक्तिबोध ने चाहा है) 'कामायनी' की ही भाव-भूमि पर करनी चाहिए, जैसा कि डॉ. रामविलास जी ने की है। उनका यह कहना एकदम सही है कि प्रसाद जी की स्थापना उन लोगों का खंडन करती है, जो कहते हैं कि भारतीय समाज का विकास निराले ढंग से हुआ है। प्रसाद जी के सामने यह स्पष्ट था कि वर्ग हैं, वर्ग-संघर्ष है और इस संघर्ष का अंत करके वर्गहीन समाज में मनुष्य की प्रतिष्ठा होनी चाहिए।

वर्गहीन समाज में मनुष्य की इस प्रतिष्ठा के क्रम में प्रसाद जी एक महत्वपूर्ण मूल्य प्रक्रिया और आकांक्षा की ओर संकेत करते हैं, जिसे नितान्त आधुनिक कहा जा सकता है। वह है मानवीय स्वतंत्रता की मूल्यगत स्वीकृति। प्रजा स्वयं अपनी स्वतंत्रता के लिए तो संघर्ष करती ही है, सबसे बड़ी बात यह है कि वह इड़ा की स्वतंत्रता के लिए भी संघर्ष करती है—

“आज बंदिनी मेरी रानी इड़ा यहाँ है,
ओ यायावर! अब तेरा निस्तार कहाँ है।”

स्वतंत्रता के लिए संघर्ष तो सारस्वत नगर में ही होता है, पर वर्गहीन समाज की स्थापना इसी नगर में नहीं होती। वह दूर कैलाश-पर्वत पर होती है। प्रसाद जी की यह सीमा है, यह वास्तव में “उनके युग की सीमा है।” जिसमें यह स्पष्ट नहीं था कि “वर्ग-संघर्ष का अंत कैसे होगा।” समरसता की स्थापना प्रसाद जी अपने दर्शन के माध्यम से करते हैं।

वास्तव में प्रसाद जी साम्राज्यवाद का विरोध, साम्राज्यवादी यांत्रिक और शोषणकारी व्यवस्था का विरोध भारतीय दर्शन से करते हैं। उनके दर्शन की यह सामाजिक-सांस्कृतिक भूमिका है। जिसका महत्त्व कम करके नहीं आंका जा सकता। श्रद्धा अपनी चेतना से विषमता दूर करके समरसता स्थापित करती है। शुरू में श्रद्धा के व्यक्तित्व का चित्रण प्रसाद जी ने यों किया है—

“आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घन श्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।”

प्रसाद जी में पश्चिम के विरुद्ध पूर्व की चेतना इतनी प्रखर है कि वह श्रद्धा को इस रूप में देखते हैं कि पश्चिम के आकाश में जब काले बादल घिर आते हैं तो श्रद्धा का मुख रूपी अरुण-सूर्य अंधकार को भेद कर और भी सुंदर दिखाई देता है, प्रसाद जी द्वन्द्वपूर्ण स्थिति में सौन्दर्य के दर्शन करते हैं। यह द्वन्द्व पश्चिम और पूर्व का द्वन्द्व है जो भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन की ओर संकेत करता है। श्रद्धा का गहरा संबंध प्रसाद जी के दर्शन से है और सामरस्य की स्थापना से भी है। इस तरह साम्राज्यवाद के बरक्स-पश्चिमी सभ्यता के बरक्स-अपना 'पूर्व' का दर्शन-भारतीय दर्शन प्रस्तावित करते हैं। प्रसाद जी का दर्शन शुद्धाद्वैतवाद है या शैवाद्वैतवाद या कश्मीरी अद्वैतवाद अथवा तांत्रिक-योगियों का अद्वैतवाद है, इस बहस में न जाकर हमें यह देखना चाहिए कि वह भाववादी है या भौतिकवादी। वह संसार को असत्य मानने वाला है या सत्य। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रसाद जी अद्वैतवाद को लेकर चलता है, लेकिन यह शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। इसमें जीवन जगत की स्वीकृति है—

अपने दुःख-सुख से पुलकित
यह भूत विश्व सचराचर;
चित्ति का विराट वपु मंगल
यह सत्य सतत चिर सुंदर।”

यहाँ सत्य और सुंदर है चित्ति का विराट वपु मूर्त विश्व। यहाँ न मायावाद है और न ही शून्यवाद। यहाँ विश्व की मूर्त सत्ता की घोषणा है। प्रसाद जी के यहाँ समस्या है कि वे “भौतिक जगत को सत्य मानते हैं, लेकिन उनके लिए चेतना भूत या पदार्थ का ही एक गुण नहीं है जैसे कि वह द्वन्द्वात्मक भौतिकवादियों के लिए है।” (डॉ. रामविलास शर्मा, *परंपरा का मूल्यांकन*, पृ. 137) यानी वह भाववादी है या उस पर भाववाद का असर है। इसलिए यह मूर्त विश्व 'चित्ति का विराट वपु मंगल' है। इसमें चित्ति की-चेतना की-स्वतंत्रता और अखंड सत्ता की ओर संकेत है। श्रद्धा स्वयं चेतनामय है और इसी चेतना से समरसता की स्थापना करती है। कारण यह है कि प्रसाद जी के लिए सत्य प्रकृति में ही निहित नहीं हो सकता। वह प्रकृति में निहित जरूर है, पर उसका स्वरूप परिवर्तनशील है, भौतिकवादियों की तरह विकास भी नहीं है। उसमें विकास प्रकृति से भिन्न चित्ति-चेतना के जरिये ही हो सकता है। यही कारण है कि प्रसाद जी समरसता की स्थापना सारस्वत नगर से दूर कैलाश-पर्वत पर दिखाते हैं। उनके दर्शन के अनुसार यह जगत और प्रकृति में स्वयं संभव नहीं है। ज्ञान, क्रिया और इच्छा की समरूपता भी वे मनु अथवा श्रद्धा के संघर्ष-प्रयास के परिणाम के रूप में नहीं देखते, वरन् 'चित्ति' के प्रयास के परिणाम के ही रूप में देखते हैं, शुक्ल जी ने उचित ही इस असंगति की ओर इशारा किया है। जहाँ तक समतामूलक समाज की स्थापना या प्रस्तावना का प्रश्न है, उसके संबंध में प्रसाद जी आदिम साम्यवाद की ही स्थापना कर सकते थे—सामंती समाज के बजाय आदिम साम्यवादी समाज की स्थापना। इसमें उतना परेशान होने की बात नहीं है, जितना कि मुक्तिबोध हो उठे हैं। प्रसाद जी के सामने समाजवादी समाज के आदर्श का अनुभव नहीं था—यह उनके युग की सीमा थी जिसे स्वयं मुक्तिबोध ने स्वीकार किया है। उनके अनुभव के क्षेत्र में साम्राज्यवादी समाज था, सामंती समाज था और आदिम साम्यवादी समाज था। सवाल यह है कि इनमें से प्रसाद जी ने किसको चुना, उन्होंने सामंती समाज को नहीं चुना, वरन् साम्राज्यवादी समाज के बरक्स आदिम साम्यवादी समाज को चुना। यह उनकी बहुत बड़ी प्रगतिशीलता का प्रमाण है। हाँ! इसके स्थापना की प्रक्रिया निश्चित रूप से गड़बड़ है, जो 'कामायनी' को अपने तार्किक परिणाम तक नहीं ले जा पाती।

प्रसाद जी की रचना 'कामायनी' आख्यानपरकता के साथ-साथ आधुनिक समस्याओं-जीवन-प्रवृत्तियों और मूल्यों का भी समानांतर संकेत करती चलती हैं, यही इस रचना की सबसे बड़ी विशेषता और महानता है, इसकी आधुनिकता और प्रगतिशीलता न सिर्फ आख्यानपरकता में निहित है, वरन् उससे निकलने वाले संकेतों में भी निहित है। मनु के सिद्धांतों, प्रवृत्तियों और स्थितियों में हमें आधुनिकतावाद के पर्याप्त संकेत मिलते हैं, और प्रसाद जी ने इनको इस तरह व्यंजित और रूपायित किया है कि 'कामायनी' आधुनिकतावाद की एक मुकम्मिल आलोचना दिखाई पड़ती है। मनु के सिद्धांत और प्रवृत्ति यह है- 'मैं चिर स्वतंत्र' और 'मैं चिर बंधनहीन'। मनु चिर स्वतंत्रता की बात करता है। वह हमेशा 'अपने मन की' अबाधगति चाहता है। उसने अपने 'सुख को सीमित' कर लिया है यानी वह सिर्फ अपने तक सीमित है, वह न सिर्फ व्यक्तिगत सुख ही चाहता है, वरन् सिर्फ व्यक्तिगत विकास की चिंता करता है। ऐसा व्यक्ति न सिर्फ स्वयं भयभीत रहता है, वरन् दूसरों को भी भय ही पहुँचाता है, मनु की स्थिति क्या है-

“भयभीत सभी को भय देता
भय की उपासना में विलीन।”

काव्य में मनु की आलोचना श्रद्धा, इड़ा और प्रजा के माध्यम से प्रस्तुत की गयी है। मनु में मृत्युबोध तथा अकेलापन सबसे ऊपर है। कर्म सर्ग में मनु में स्वतंत्रता और परिस्थितियों के नियम चुनाव का बोध जागता है। संघर्ष सर्ग में आकर वे अजनबीपन महसूस करते हैं, चिंता सर्ग से लेकर कर्म सर्ग तक मनु जलप्रलय और मृत्यु का भीषण संत्रास झेलते हैं। इस तरह चिंता सर्ग से लेकर संघर्ष सर्ग तक आधुनिकतावादी बोध मनु के माध्यम से जगह-जगह दिखलायी पड़ता है। इन सर्गों में इसीलिए क्षण, कण, बिंदु, परमाणु इत्यादि शब्द कई बार प्रयुक्त हुए हैं, जो इतिहास के समक्ष क्षण और बिखराव के महत्त्व को सूचित करते हैं। इसलिए डॉ. मेघ का यह सोचना काफी अर्थपूर्ण जान पड़ता है कि 'कामायनी' भारतीय अस्तित्ववादी चिंता की भी सबसे पहली कृति है। (*मिथक और स्वप्न*, पृ. 119) यह चिंता अस्तित्ववादी हो या न हो, पर वह अस्तित्वपरक अवश्य है।

'कामायनी' में मनु और प्रकृति को आमने-सामने उपस्थित किया गया है। यहाँ प्रकृति एक स्वतंत्र सत्ता रखती है-वह सजीव और सचेतन है, कोई जड़ इकाई नहीं है, वह सक्रिय प्रतिक्रिया करती है। जब भी विषमता अधिकता होती है, भोग-विलास और अतिचार बढ़ जाता है, प्रकृति को सहचरी और सहायक न समझकर उसे पूरी तरह अधीन बनाने की कोशिश की जाती है और उसका निर्बाध शोषण और विकराल रूप धारण करती हुई अपना विरोध दर्ज कराती है कभी वह जल प्रलय के रूप में सामने आती है और कभी आकाश में 'रूद्र भयानक हुंकार' कर उठती है और मनु तथा प्रजा के संघर्ष में तटस्थ न रहकर अत्याचारी मनु पर प्रहार करती है-

“छूट चले नाराच धनुष से तीक्ष्ण नुकीले
टूट रहे नभ धूमकेतु अति नीले पीले,
अंधड़ था बढ़ रहा प्रजा दल-सा झुंझलाता
रण वर्षा में शस्त्रों सा बिजली चमकाता।”

प्रकृति मनु का विरोध करते हुए मानवीय और समता मूलक समाज की स्थापना में यहाँ सक्रिय दिखती है। प्रकृति और मनु का संघर्ष 'कामायनी' में अन्य जगहों पर भी दिखलायी पड़ता है। इड़ा मनु को 'प्रकृति संग संघर्ष' करना सिखाती है और ज्ञान-विज्ञान की सहायता से मनु प्रकृति पर विजय प्राप्त करता

है, उसकी विभूतियों का उपयोग करते हुए सारस्वत नगर-सभ्यता का निर्माण करता है। लेकिन प्रसाद जी दिखाते हैं कि उस पर अत्यधिक अत्याचार किया जाए तो वह विकराल रूप धारण कर लेती है। इस तरह, 'कामायनी' में प्रसाद जी मनुष्य और प्रकृति के परस्पर स्वस्थ संबंधों की प्रस्तावना करते हैं। जहाँ ये स्वस्थ संबंध संभव बनते हैं, वहाँ उसका सुंदर और कल्याणकारी रूप सामने आता है भयंकर प्रलय वाली प्रकृति अंत में समरसता कायम होने पर लास्य-नृत्य करती हुई ('बल्लरियाँ नृत्य निरत थीं') मनोहर और सुंदर दिखलायी देती है। जहाँ प्रकृति और मनुष्य के संबंध स्वस्थ नहीं होते वहाँ प्रकृति प्रलयकारी भीषण और विकराल रूप धारण कर लेती है। इसलिए सुधीश पचौरी ने यह सही लक्षित किया है कि 'कामायनी' का एक पाठ हमें 'कामना' के खेल की सीमा 'प्रलय' तक ले जाता है और प्रकृति के साथ अनुकूलन को प्राथमिक बताता है। (*देरिदा का विखंडन और साहित्य*, पृ. 157) 'कामायनी' में प्रकृति स्वतंत्र चरित्र के रूप में उपस्थित होने के साथ-साथ विभिन्न चरित्रों, भावों और विचारों की अभिव्यक्ति-प्रस्तुति का सशक्त माध्यम भी बनती है।

शिल्प-विधान

'कामायनी' के बाह्य और आंतरिक ढाँचे-संगठन पर गौर करें तो हमें दो तरह के ढाँचे दिखाई देते हैं, एक वह है जो प्रकृति के माध्यम से निर्मित होता है और दूसरा, आख्यानपरकता-मानव सभ्यता के विकास और इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान को आधार बनाकर खड़ा किया गया है। 'कामायनी' की शुरुआत हिमालय पर्वत से होती है। मनु 'हिम गिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठा' अपने 'भीगे नयनों' से 'प्रलय प्रवाह' को देखता है। फिर वह पर्वतीय प्रदेश में ही 'शिंकार' करता घूमता है, उसके बाद वह मैदानों में उजड़े हुए सारस्वत नगर का निर्माण करने के उपरांत अंत में पुनः पर्वत पर ही लौट आता है। वह 'कैलाश प्रदोष प्रभा में स्थिर बैठा' हुआ ध्यानमग्न है, जहाँ 'हिमवती प्रकृति पाषाणी', मांसल सी दिखलाई पड़ती है। 'कामायनी' का यह एक बाह्य ढाँचा है, जिसके भीतर सब गतिविधियाँ होती हैं। यह बाह्य ढाँचा पर्वत से पर्वत तक की यात्रा से निर्मित होता है, जिस पर मनु स्थिर बैठा हुआ दिखाई देता है—वह शुरू में भी बैठा हुआ था और अंत में भी। इस बाह्य ढाँचे के अलावा 'कामायनी' के आंतरिक गठन की निर्मिति में भी प्रकृति सहायक हुई। यह आंतरिक संगठन प्रकृति के पंचमहाभूतों—'क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा' यानी पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु से निर्मित हुआ है। 'कामायनी' में 'पंचभूत का भैरव मिश्रण' देखने को मिलता है। 'कामायनी' के शुरू में यानी 'चिंता सर्ग' में जल की सक्रियता और उसका महत्त्व है। मनु के चारों ओर जल ही जल दिखाई देता है, वह जल-प्रलय को देखता है, जिसमें 'प्रलय सिंधु लहर' उठती-गिरती हैं। ऊपर-नीचे सब जगह 'एक तत्त्व की ही प्रधानता' है—चाहे वह 'जल' हो या 'हिम', वास्तव में दोनों एक ही हैं, हिम भी जल का ही 'सघन' रूप है। 'जल-प्लावन' के धीरे-धीरे उतरने पर मनु जिस 'देव-सृष्टि' का स्मरण करता है उसमें भी यह जल-तत्त्व पीछा नहीं छोड़ता। वे कभी उसमें वैभव का 'पारावार' देखते हैं, जिसमें सब डूबे हैं तथा कभी 'दुःख-जलधि' का नाद सुनते हैं तो कभी 'वासना-सरिता' का 'प्रलय-जलधि' में संगम होता हुआ पाते हैं, कभी 'देव-यजन के पशु यज्ञों की ज्वाला' को 'जलनिधि' में लहरों में रूपांतरित हो जलता देखते हैं और कभी काल का जलधि—'काल-जलधि' के रूप में दर्शन करते हुए भयाक्रांत होते हैं। यानी पूरे चिंता सर्ग में मनु जल में ऊभ-चूभ करते नजर आते हैं।

‘आशा’ सर्ग में समीर यानी पवन सक्रिय होता है—वह कहीं आशा बनकर प्राणों के रूप में दिखाई पड़ता है—‘आशा बनकर प्राण समीर’ तो कहीं शिलाओं से टकराता गुंजार करता हुआ—‘शिला-संधियों से टकरा कर पवन भर रहा था गुंजार’, ध्यान रहे कि—पवन ‘चिंता’ सर्ग में ‘शब्दों को पी रहा था’ गुंजार नहीं कर रहा था, जबकि ‘आशा’ सर्ग में वह गीत गाता प्रतीत होता है—‘शीतल पवन गा रहा पुलकित हो पावन उद्गीथ’, और अपने ‘धीर स्पर्श’ से ‘समीर’ ‘श्रांत-शरीर’ को पुलकित करता है। ‘श्रद्धा’ सर्ग में अग्नि-तत्त्व की प्रधानता है। ‘श्रद्धा’ को ही मनु अग्नि रूप में देखते हैं वह ‘एक लघु ज्वालामुखी अचेत’ है तो कहीं ‘अरुण की एक किरण’ है और कहीं ‘बिजली का फूल’। इसी सर्ग में मनु स्वयं अपना परिचय एक उल्का सा जलता भ्रांत के रूप में देते हैं और श्रद्धा मनु के ‘अभिशाप’ को ‘जगत की ज्वालाओं का मूल’ बताती है और ‘शक्ति के विद्युतकणों’ के ‘समन्वय’ के लिए मनु को प्रेरित करती है, ताकि मानव-सृष्टि का निर्माण हो सके और मानवता विजय प्राप्त कर सके। इसके बाद के सर्गों में यानी ‘काम’ से लेकर ‘स्वप्न’ तक पृथ्वी-तत्त्व की ही प्रधानता ‘कामायनी’ में देखने को मिलती है, इन्हीं सर्गों में श्रद्धा अपना घर बनाती है, पृथ्वी पर वनस्पतियाँ उगाती हैं, मनु जंगल में शिकार करता है, फिर वह असंतुष्ट होकर ऐसे भूखण्ड की तलाश में निकल पड़ता है, जहाँ उसकी सभी इच्छाएँ पूर्ण हो सकें, वह इड़ा से मिलकर उजड़ा हआ प्रदेश बसाता है, जिसमें किसान खेती करते हैं, और कारीगर वस्तुएँ बनाते हैं तथा मनु सुंदर महल की रचना करवाते हैं। ‘संघर्ष’ सर्ग में हमें ‘कामायनी’ में आकाश-तत्त्व की सक्रियता देखने को मिलती है। कहीं आकाश रूद्रहंकार करता है—‘अंतरिक्ष में हुआ रूद्र हंकार भयानक’ और ‘गगन में क्षुब्ध हुई सब देव-शक्तियाँ क्रोध भरी’, तथा कहीं आकाश से ‘धूमकेतु’ टूटते हैं, वर्षा होती है और बिजली चमकती है। रहस्य सर्ग में मनु और श्रद्धा बहुत ऊपर पहुँचते हैं, जहाँ गगन मिलता है और जहाँ ‘भूधर’ भी ‘पदतल’ में नहीं है। इस तरह, प्रकृति के पंच महाभूत आंतरिक गठन का काम करते हैं।

‘कामायनी’ में दूसरा गठन-बाह्य और आंतरिक-मानव सभ्यता के विकास से सम्बद्ध है, जिसमें आंतरिक गठन का कार्य प्रसाद जी द्वारा प्रस्तुत ‘रूपक’ करता है। देव-सृष्टि के ध्वंसावशेष पर मनु, जो देवों की संतान है, काम की परोक्ष प्रेरणा से यानी कामगोत्रजा श्रद्धा की प्रेरणा से आदिम सभ्यता का निर्माण करता है, फिर इड़ा की प्रेरणा स्वरूप वह साम्राज्य-सामंती साम्राज्य और ‘यंत्रों’ से युक्त साम्राज्य की स्थापना करता है। कामायनी में उत्तरोत्तर जटिल होती हुई मानव-सभ्यता और मानसिक प्रवृत्तियों का एक बाह्य ढाँचा है। जब यह सभ्यता काफी जटिल हो जाती है इसमें वर्ण बन जाते हैं, वर्ग बन जाते हैं तो वर्ग-संघर्ष भी अनिवार्य हो उठता है और समतामूलक समाज की ओर जाना आवश्यक जान पड़ता है, क्योंकि दोनों ही विषमतामूलक समाज की तार्किक परिणति हैं। अंत में ‘कामायनी’ में समरसता की सृष्टि की ओर संकेत है, जो नगर से दूर कैलाश-पर्वत पर संभव बनती है, नगर में मानव श्रद्धा का पुत्र शासन करता है, जो सहृदयता और विवेक का सम्मिलित रूप है, यानी वह मनु से अधिक मानवीय है और उसका शासन निरंकुशता भरा न होकर प्रजातांत्रिक यानी मानवीय है। इस तरह अमानवीयता से निरंतर मानवीयता की ओर जाना—‘कामायनी’ का बाह्य ढाँचा है। यानी देव-सृष्टि से मनु और फिर मानव तक पहुँचना ‘कामायनी’ के बाह्य ढाँचे को निर्मित करता है। इसका आंतरिक ढाँचा इच्छा, ज्ञान और क्रिया से सम्बद्ध है। यानी इच्छा-ज्ञान-क्रिया की भिन्नता-विषमता और फिर उनमें एकता। देव-सृष्टि में कर्महीनता है, ज्ञानहीनता है। वहाँ सिर्फ भोग-विलास की और सब कुछ को आधीन कर लेने की अनंत-असीम इच्छाएँ अभिलाषाएँ हैं। मनु और श्रद्धा द्वारा निर्मित आदिम समाज में कर्म है, मनु की अनंत-असीम अभिलाषाएँ हैं, जिनका

यहाँ पूरा होना संभव नहीं लगता, यहाँ कर्म सहृदयता से युक्त जगत-कल्याणकारी और मानवीय है, जो श्रद्धा के माध्यम से चित्रित होता हुआ दिखाया गया है, जिसमें हृदय की प्रधानता है। लेकिन यहाँ ज्ञान की उतनी भूमिका नहीं है जितनी होनी चाहिए। साम्राज्य-स्थापना के दौरान ज्ञान की महत्वपूर्ण भूमिका है, उसी की प्रधानता है, इडा उसका प्रतिनिधित्व करती है। क्रिया अथवा कर्म की भी भूमिका है, लेकिन वह इतना मानवीय नहीं है, जितना उसे होना चाहिए—वह सबकी 'प्रकृत-शक्ति' छीनकर सृष्टि को 'झीना' बना रहा है। ऐसे में मनु की अनंत-असीम इच्छाएँ, जो कहीं-कहीं अनुचित भी हैं, पूरी होती हुई नहीं जान पड़तीं। काव्य के अंतिम सर्गों में इनकी एकता कायम होती है और जीवन-जगत में समरसता की स्थापना, इस तरह 'कामायनी' का एक और आंतरिक गठन इच्छा, क्रिया और ज्ञान की दूरी और एकता के जरिये निमित्त करने की कोशिश प्रसाद जी ने की है, जिसमें रहस्यवाद के कारण अंत में संगति नहीं बैठ पाती। हाँ, 'संघर्ष' सर्ग तक उसमें पर्याप्त संगति पायी जाती है। इसलिए डॉ. नामवर सिंह का यह कहना कि "प्रसाद के काव्य विशेषतः 'कामायनी' में अन्तर्गठन मिलता है। यही अन्तर्गठन 'कामायनी' को यह शक्ति देता है, जिसके कारण वह छायावाद की अनेक बिखरी रचनाओं के बीच स्तम्भ के समान खड़ी है।" (*छायावाद*, पृ. 155) 'कामायनी' में 'चिंता' सर्ग से लेकर 'संघर्ष' सर्ग तक अधिक लागू होता है—चाहे वह अन्तर्गठन प्रकृति के पंच महाभूतों के माध्यम से निर्मित किया गया हो और चाहे इच्छा-क्रिया-ज्ञान के जरिये सूत्रित किया गया हो।

सांकेतिकता 'कामायनी' की सबसे बड़ी काव्य-शक्ति है। इस रचना में आख्यानपरकता के समानांतर सांकेतिकता पायी जाती है, जो इसे आधुनिकता और प्रगतिशीलता के संदर्भों से युक्त करती है। देव-सृष्टि में वास्तव में रीतिकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक और दरबारी-परिवेश के पर्याप्त संकेत मौजूद हैं। इसमें पाया जाने वाला भोग-विलास, वैभव का चमत्कार और शृंगारिकता, सुरा-सुन्दरियों, रूप सौन्दर्य, मधु-मकरंद-सुरभि पर बल तथा जीवनशीलता का अभाव—सब का सब रीतिकालीन दरबारी सांस्कृतिक परिवेश और उसे घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध साहित्य का सूचक है। मनु द्वारा निर्मित मानव-सृष्टि में पाया जाने वाला वर्ग-वैषम्य, वर्ग-संघर्ष आज के जीवन की जटिलता और उसके संघर्षों की ओर संकेत करता है। 'यंत्र-सभ्यता' का विरोध वास्तव में साम्राज्यवाद-विरोध को सचित करता है और उजड़े हुए सारस्वत प्रदेश के नवनिर्माण में वास्तव में राष्ट्रीय-जागरण और राष्ट्र के पुनर्निर्माण के संकेत निहित हैं। 'समरसता' की स्थापना के जरिये 'कामायनी' में भारतीय समाज के वर्गहीन समाज में सहज विकास और रूपांतरण को ध्वनित करने का प्रयास किया गया है। ज्ञान-इच्छा और क्रिया की भिन्नता में शासक वर्ग के चरित्र की ओर प्रधानतया संकेत है, जिसमें मन-वचन-कर्म की एकता नहीं होती "वर्ग युक्त समाज में शासकों के मन में कुछ होता है, कर्म कुछ होते हैं, मुँह से वे कहते कुछ और हैं।" (डॉ. रामविलास शर्मा, *परंपरा का मूल्यांकन*, पृ. 139) कथनी और करनी में अंतर—यह दोगलापन—आज और भी बढ़ गया है। अन्य की ओर संकेत करने की प्रक्रिया को ही शुक्ल जी ने 'प्रतीक' कहा है। 'कामायनी' में प्रतीकों को खोजने का काम आलोचकों ने बहुत किया है। डॉ. नामवर सिंह ने तो 'कामायनी के प्रतीक' शीर्षक से पूरा एक लेख ही लिख डाला है। इसमें 'काम' के संबंध में बताया गया है कि "कामायनी का सबसे विचित्र प्रतीक है काम, जिसको प्रसाद ने जीवन की मूल शक्ति तथा मानव-सभ्यता की आदि वासना के रूप में चित्रित किया है।" (*इतिहास और आलोचना*, पृ. 155) प्रसाद जी की 'कामायनी' में भाषा ही प्रतीकात्मक नहीं है, वरन् स्थितियाँ, अवधारणाएँ और यहाँ तक कि चरित्र भी प्रतीकात्मकता से युक्त हैं। श्री रमेशचंद्र शाह के

अनुसार, “प्रसाद प्रतीकों से बहुत काम लेते हैं : उनके यहाँ हर चीज प्रतीकत्व प्राप्त कर लेती है।” (छायावाद की प्रासंगिकता, पृ. 23) हर चीज में प्रतीकत्व खोजने के बजाय हमें यह देखना चाहिए कि प्रसाद जी ‘कामायनी’ के माध्यम से क्या कोई ऐसा बड़ा प्रतीक निर्मित कर पाए हैं, जो इस रचना को स्थायित्व प्रदान करते हुए युगों-युगों तक प्रासंगिक बनाता रहे, जैसे तुलसीदास ने राम और ‘रामराज्य’ के प्रतीक का निर्माण किया है। प्रसाद जी के यहाँ उसी से मिलता-जुलता प्रतीक श्रद्धा और ‘समरसता’ का है, जिसमें तमाम तरह के विरोधों और तनावों का समाहार हो जाता है। तमाम तरह की भिन्नता और भेदों का समावेश समरसता में हो जाता है जैसे मनुष्य और प्रकृति का विरोध या संघर्ष, वर्ग-संघर्ष, वर्ण-भेद, इच्छा-क्रिया-ज्ञान की भिन्नता या विषमता, बुद्धि और हृदय का तनाव, व्यष्टि और समष्टि सुख का विभेद, स्त्री और पुरुष तथा वर्णन और बिम्ब का तनाव इत्यादि सभी समाहित होकर समरसता में रूपांतरित हो जाते हैं और ‘समरसता’ कायम करती है। श्रद्धा जिसका लक्ष्य है मानवीय सृष्टि की स्थापना करना-सिर्फ मनुष्यों की सृष्टि स्थापित करना नहीं। वह लोक का मंगल करना चाहती है, इसलिए वह ‘जगत की मंगल कामना’ का प्रतीक बन जाती है। कोई भी बड़ा काव्य या साहित्य उस समय तक बड़ा नहीं होता, जब तक कि वह कोई बड़ा प्रतीक निर्मित नहीं करता। प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ के माध्यम से ऐसी ही कोशिश की है, इसलिए वह एक बड़ी रचना है—महत् रचना अथवा महाकाव्य है। इसमें एक महत् कार्य को अंजाम दिया गया है। यह अलग बात है कि वह उस रास्ते से व्यावहारिक नहीं जान पड़ता, जिस रास्ते से वह सम्पन्न किया गया है। यही प्रसाद जी की सबसे बड़ी कमजोरी भी है।

‘कामायनी’ के शिल्प की एक खास विशेषता नाटकीय संवादों का सृष्टि करना भी है। ‘कामायनी’ में मुख्यतया चार प्रसंगों में संवादों की जबर्दस्त प्रस्तुति हुई है, जिनको यदि अलग कर लिया जाए तो एक अच्छे खासे नाटक की रचना और प्रस्तुति संभव हो सकती है। नाटकीय संवादों के प्रसंग इस प्रकार हैं, श्रद्धा और मनु के संवाद, इड़ा और मनु के संवाद, मनु और प्रजा के संवाद तथा श्रद्धा और इड़ा के संवाद। इन संवादों में विरोध, तनाव और विसंगति की स्थितियों द्वन्द्वपूर्ण स्थितियों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जिसमें अलग-अलग पात्रों की भिन्न-भिन्न स्थितियों, विचारों, सिद्धांतों और आदर्शों का उद्घाटन होता है, साथ ही चरित्रों का उद्घाटन-प्रस्तुतीकरण और निर्माण संभव बनता है। ऐसे संवादों की उपस्थिति और उसमें निहित द्वन्द्वपूर्ण स्थितियाँ, भाव, विचार और चरित्र तथा घटनाएँ ‘कामायनी’ के शिल्प को नाटकीयता का रूप देते हुए उसे नाटकीय-शिल्प की श्रेणी में अवस्थित कर देती हैं।

‘कामायनी’ की प्रबंधात्मकता पर विचार करें तो पायेंगे कि उसकी कथात्मकता बीच-बीच में या तो बहुत ही बारीक सूत्र से जुड़ी है और या फिर टूट जाती है। ‘चिंता’ सर्ग से लेकर संघर्ष सर्ग तक उसमें एक क्रमबद्धता है, लेकिन उसके बाद के सर्ग-‘निर्वेद’, ‘रहस्य’ और ‘आनंद’ कथा की तार्किक परिणति नहीं मालूम पड़ते, वे उससे टूट कर अलग जा पड़े हैं। ‘कामायनी’ का उद्देश्य मनु की कथा कहना नहीं है, वरन् मनु के माध्यम से मानव-सभ्यता के विकास को दिखाना है। या फिर जीवन-जगत में व्याप्त विषमता और उसका अंत दिखाना है। दोनों ही दृष्टियों से ‘कामायनी’ के अंतिम तीन सर्ग घटना-क्रम से नहीं जुड़ते, वे मानव-सभ्यता और जीवन-जगत से छिटक कर दूर जा गिरते हैं। और घटना-प्रवाह बाह्य जगत में न घटित होकर आंतरिक जगत और उसमें भी मूलतः वैचारिक-दार्शनिक यानी चेतनागत स्तर पर घटित होता है। और यहाँ ‘चेतना’ भूत या पदार्थ का परिणाम नहीं है और न ही वह उससे द्वन्द्वात्मक रूप में सम्बद्ध है, वरन् ‘महच्चिन्ति’ का परिणाम है और उस ‘चेतना’ की एक स्वतंत्र सत्ता है, जो जीवन जगत,

प्रकृति इत्यादि से ऊपर है। इसी तरह 'कामायनी' में बीच के तीन सर्गों—'काम', 'वासना' और 'लज्जा' में भी घटना-क्रम बाह्य से अधिक आंतरिक है। यहाँ कथा ठहरी हुई प्रतीत होती है और उसकी व्याप्ति आंतरिक जगत में विभिन्न मनोवृत्तियों में होती है। मनोभावों और मनोदशाओं की प्रधान अभिव्यक्ति के कारण शिल्प प्रगीत का रूप ले लेता है और नाटकीयता की जगह प्रगीतात्मकता प्रमुख हो उठती है। 'लज्जा' सर्ग के संबंध में डॉ. प्रेमशंकर का कहना है कि एक प्रकार से 'कामायनी' का कथा-विहीन सर्ग है। पर मात्र काव्य और वह भी गीतात्मकता की दृष्टि से वह 'कामायनी' का सर्वोत्कृष्ट प्रसंग है। ('कामायनी'—सं. लोढ़ा, पृ. 197) यह बात 'काम', 'वासना' और 'लज्जा' सर्गों पर भी लागू होती है। काम-वासना-लज्जा "महाकाव्य के रचना-शिल्प की दृष्टि से ये तीनों सर्ग स्वतंत्र और पृथक् भी हो सकते हैं, तथा स्वतंत्र रहकर भी ये अपने आप में पूर्ण एक श्रेष्ठ खंड-प्रबंध है।" (डॉ. मेघ, 'मिथक और स्वप्न', पृ. 93) इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। एक तो यह कि 'कामायनी' में संघटन-शिथिलता है और दूसरा यह कि वह एक प्रगीतात्मक महाकाव्य है। ये सर्ग महाकाव्य में कथात्मकता से बहुत बारीकी से जुड़े हुए हैं, जिसकी वजह यह है कि ये सर्ग और इनमें अभिव्यक्त मनोदशाएँ जीवन-जगत और मनुष्य से ही सम्बद्ध हैं। 'कामायनी' अपनी संघटन-शिथिलता के बावजूद एक महाकाव्य की श्रेणी में इसलिए आता है कि इसका फलक बहुत बड़ा है और इसमें अभिव्यक्त उद्देश्य या कार्य महत् है। 'कामायनी' के फलक में इतिहास, पुराण, मनोविज्ञान, दर्शन, आधुनिक जीवन की विषमता, मनुष्यों का विविध स्तरीय संघर्ष तथा प्रेम और प्रकृति इत्यादि सब समाहित हैं, जो कामायनी को व्याप्ति और एक महत् रूप प्रदान करते हैं। 'कामायनी' का महत् कार्य है लोकमंगल की कामना की अभिव्यक्ति और एक मानवीय-सृष्टि के आदर्श की प्रस्तुति। इसलिए 'कामायनी' एक उत्कृष्ट आधुनिक महाकाव्य ही ठहरता है।

कामायनी की भाषा के संबंध में अधिकतर आलोचकों ने यह रेखांकित किया है कि इसकी भाषा 'ऊबड़-खाबड़' है। यह वास्तव में खड़ी बोली की ही प्रकृति है। इस ऊबड़-खाबड़पन के अलावा 'कामायनी' में उत्कृष्ट 'बिम्ब-विधान' को भी लक्षित किया गया है, और 'कामायनी' की भाषा के दो भिन्न स्वरूपों को इंगित किया गया है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी 'कामायनी' में भाषा की यह 'असंगति' पाते हैं कि प्रसाद में वर्णन की भाषा जितनी ऊबड़-खाबड़ है, भाषिक बिम्ब-गठन की क्षमता उतनी ही अधिक है। डॉ. मेघ ने भी 'कामायनी' में 'बीज-बिम्बों' की खोज की है। 'कामायनी' की इस भाषायी-बनावट में असंगति के बजाय, जैसा कि डॉ. नामवर सिंह ने कहा है, तनाव को खोजना चाहिए—'सपाट भाषा और बिम्ब भाषा की असंगति संरचना की बनावट का तनाव है। इसलिए जरूरत उस असंगति को तनाव के रूप में देखने की है।" (कविता के नये प्रतिमान, पृ. 80)

सादृश्य-विधान के संबंध में प्रसाद जी ने अपना ध्यान 'प्रभाव-साम्य' पर विशेष रूप से केन्द्रित किया है। 'कामायनी' में मनु की जैसी मनःस्थिति है उसी रूप में वह चीजों और व्यक्तियों को देखता है। जल-प्रलय की मनोदशा में वह देव-सृष्टि में पायी जाने वाली 'वासना' को 'सरिता' के रूप में देखता है, जिसका पतन अंततः प्रलय-सिंधु में होना तय था—"भरी वासना-सरिता का वह/कैसा था मदमत्त प्रवाह/प्रलय-जलाधि में संगम जिसका/देख हृदय था उठा कराहा।" इसी तरह अन्य जगहों पर भी है। मनु हिमगिरि पर है, जाहिर है वह प्रलय की आघातों से तो टूट ही चुका है, सर्दी से निश्चेष्ट भी हो चला होगा, इसलिए उसे ऊर्जा-शक्ति-अग्नि की सख्त जरूरत महसूस हुई होगी। यही वजह है कि ऐसी मनःस्थिति में वह जिस भी मदद और पात्र को देखेगा उसे अग्नि रूप में देखेगा। श्रद्धा मनु को 'अग्निरूपा'

नजर आती है, वह कहीं 'लघु ज्वालामुखी' लगती है तो कहीं 'बिजली का फूल'। इड़ा में चूँकि बुद्धि और तर्क की प्रधानता है, इसलिए प्रसाद जी उसके बालों की तुलना तर्कजाल से करते हैं—“बिखरी अलकें ज्यों तर्कजाल।”।

डॉ. नामवर सिंह के अनुसार 'कामायनी' को छायावाद की भाव, भाषा, छंद सभी तरह से प्रतिनिधि रचना बनाने के प्रयत्न में प्रसाद जी ने आल्हा आदि लोक रूपों और अन्य छंदों के अलावा 'रोला' को भी स्थान दिया है।

(ज) पाठ्यक्रम में निर्धारित सर्गों का 'कामायनी' में महत्त्व

पाठ्यक्रम में जो सर्ग निर्धारित किए गए हैं, वे इस प्रकार हैं—चिंता, श्रद्धा और इडा। 'चिंता' सर्ग 'कामायनी' का सबसे पहला सर्ग है यह जल-प्लावन के वर्णन से शुरू होता है। जल-प्लावन में अकेला मनु बचा हुआ है, जो हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर बैठा है और भीगे नयनों से जल-प्लावन को देख रहा है, उसके चारों ओर जल-ही-जल है—पानी और बर्फ के रूप में। 'जल-प्रलय' में देव-सृष्टि का विनाश हो जाता है, मनु देव-पुत्र हैं और देव-संस्कृति का अंतिम अवशेष। इस सर्ग में जल-प्रलय का भयानक दृश्य चित्रित किया गया है, प्रकृति के कोमल रूप के बजाय उसकी भीषणता का चित्रण है। मनु उसके सामने अकेला और निस्सहाय महसूस करता है, वह डरा हुआ और सदमें में है। प्रकृति के सामने मनुष्य कितना असहाय हो सकता है, इसकी झलक हमें यहाँ प्राप्त होती है—मनु मात्र 'भीगे नयनों' से उसे देखने पर विवश है, वह और कुछ नहीं कर सकता प्रकृति की विराटता के समक्ष मनुष्य कितना लघु है—इस सच्चाई का बोध हमें इस सर्ग के जरिये होता है। यह बोध आज भी उतना ही सत्य जान पड़ता है, जब कहीं समुद्री तूफान या बाढ़ आती है। वहाँ मनु की सच्चाई हमें अपनी सच्चाई लगने लगती है। मनु कोई कमजोर प्राणी नहीं है, वह शरीर से अत्यंत बलिष्ठ है। प्रसाद जी ने उसकी शारीरिक संरचना का वर्णन इसी सर्ग में इस प्रकार किया है—'अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ/ऊर्जास्वित था वीर्य अपार/स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का/होता था जिनमें संचार/चिंता-कातर वदन हो रहा/पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।' यानी अपार शक्ति से युक्त मनु भी जिनमें पौरुष ओत-प्रोत है परेशान-चिंतित, भयातुर हो उठता है तो फिर साधारण मनुष्यों की क्या औकात है। यहाँ प्रकृति अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व लिए नजर आती है, जो प्रतिक्रिया करती है। प्रकृति के विरुद्ध संघर्ष वास्तव में एक शाश्वत संघर्ष है—कवि ने यहाँ इस बात के संकेत दिए हैं। प्रकृति के साथ स्वस्थ संबंध बनाने की जरूरत है, कवि ने यहाँ इस बात को प्रस्तावित करने की कोशिश की है। यानी उस पर अत्यधिक-अत्याचार और उसका अत्यधिक शोषण भावी-जीवन को अंधकारमय बना सकता है। देवताओं ने भी प्रकृति से संघर्ष किया था, उन्होंने उस पर अधिकार कर लिया था, उनका संबंध प्रकृति के साथ कोई स्वस्थ संबंध नहीं था, उनसे आक्रांत होकर धरती प्रतिदिन काँपती थी। देवताओं ने समझ लिया था कि उन्होंने प्रकृति पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, पर ऐसा नहीं था उनका सारा दंभ जल-प्लावन में एक झटके के साथ बह गया—वह जल में ही विलीन हो गया और तब मनु को बोध हुआ कि "प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित/हम सब थे भूले मद में।" इस सर्ग में मनु प्रकृति के सामने अस्तित्व की लड़ाई लड़ता हुआ दिखाई देता है। साथ ही वह देव-सृष्टि के ध्वंस के परिणाम को लेकर चिंता करता हुआ—'चिंता करता हूँ मैं जितनी उस अतीत की'—उसके कारणों की खोज करता है और पाता है वह सृष्टि कर्महीन, भोग-विलास में आकंठ डूबी, शृंगार, सुरा-सुन्दरियों में लिप्त तथा दंभी और क्रूर थी। उसमें जीवन-शीलता, जीवंतता, और स्वाभाविकता का नितांत अभाव था, उसका ध्वंस जैसे अनिवार्य बन गया था। 'चिंता' सर्ग में कवि प्रसाद इस तरह उस मिथ को तोड़ते हैं—उस रूढ़ि को तोड़ते हैं जिसमें देवताओं और उनकी सृष्टि को श्रेष्ठ माना जाता है। साथ ही उस रीतिकालीन साहित्यिक-सांस्कृतिक और दरबारी परिवेश की ओर भी इशारा करते हैं, जिसमें जीवनशीलता नहीं है, निर्बाध शृंगार, नायिका-भेद और कर्महीनता है। और इस तरह वे रीतिकालीन रचना-मूल्य-व्यवस्था का विरोध करते हुए रूढ़िवादविरोधी आधुनिक साहित्य के संघर्ष को

आगे बढ़ाते हैं। सर्ग की शुरुआत शृंगार से नहीं अपितु 'चिंता' से होती है। यह वास्तव में एक प्रचलित रूढ़िवादी रचना-मूल्य-व्यवस्था के बजाय दूसरी रचना-मूल्य-व्यवस्था की प्रस्तावना है, जो जीवनगत है और जीवन के जटिल प्रश्नों को महत्त्व देने वाली है। दरअसल 'चिंता' सर्ग उस प्रस्थान बिंदु और उस विरोधी मूल्य-व्यवस्था के आधार की ओर संकेत करता है, जिस पर पूरी 'कामायनी' और आधुनिक रचना-शीलता खड़ी हुई है। 'चिंता' सर्ग की अन्तर्वस्तु प्रकृति के प्रति स्वस्थ रवैये की प्रस्तावना और रूढ़िवाद-विरोध है, जो कामायनी को एक महत्त्वपूर्ण आयाम प्रदान करता है। साथ ही उसकी बिम्ब-गठन की भाषायी क्षमता का भी।

'चिंता' सर्ग में प्रकृति का कई रूपों में चित्रण है। एक तो इसमें प्रकृति का स्वतंत्र स्वरूप मिलता है, वह एक पात्र की तरह ही गतिशील और सक्रिय है—वह रीतिकालीन कविता की तरह मात्र उद्दीपन का कार्य नहीं करती, वरन् उल्टे वह रीतिकालीन मूल्यों—शृंगार, नायिकाभेद, सुरा-सुन्दरी, राग-अंगराग और बेल-बूटों से सज्जित सुगंधित वातावरण में जीवन की मरणशीलता और उसमें ढंकी-छिपी क्रूरता इत्यादि के विरोध में उठ खड़ी दिखाई पड़ती है। इस सबको वह जल-प्लावन में डुबो देती है—“वे सब डूबे-डूबा उनका/विभव, बन गया पारावार।” इस तरह 'कामायनी' में जो रीतिवाद विरोध मिलता है, वह चिंता सर्ग के जरिये ही आया है। 'कामायनी' में चिंता सर्ग का महत्त्व यह है कि वह उसके अर्थ में कई आयाम जोड़ता है, यानी वह उसकी संवेदना को कई स्तर देते हुए उसके अर्थ का विस्तार करता है। एक स्तर तो प्रकृति को स्वतंत्र महत्त्व देते हुए कविता को रीतिवादी संकुचित दायरे से बाहर निकलवाने में सहायक बनता है। प्रकृति का जो दूसरा या तीसरा रूप है, यानी जिसके जरिये प्रसाद चिंता सर्ग में विभिन्न मनःस्थितियों और विचारों को अभिव्यक्त करते हैं—‘उसी तपस्वी से लम्बे, थे देवदारू दो चार खड़े’ या ‘कीर्ति, दीप्ति, शोभा थी नाचती अरुण किरण सी चारों ओर’—इसके जरिये 'कामायनी' में उत्कृष्ट बिम्बों की सृष्टि हुई है और इस तरह 'चिंता' सर्ग 'कामायनी' में उत्कृष्ट बिम्ब-गठन का साधन बनता है। 'चिंता' सर्ग 'कामायनी' में अतीत-मोह, उसका महत्त्व और उसकी आलोचना के अर्थ विस्तार का भी साधन बनता है। इसी सर्ग में प्रसाद जी लिखते हैं—‘गया सभी कुछ गया मधुरतम’, और इसी में वास्तविकता भी बयान करते हैं—‘विकल वासना के प्रतिनिधि वे/सब मुरझाये चले गये/आह! जले अपनी ज्वाला से/फिर वे जल में गले, गये। यानी यह जो अतीत का गौरव, सुख और वैभव था उसका नष्ट होना जैसे देवताओं के अपने के ही दुष्कर्मों का परिणाम था, वे सब मानों विकल वासनाओं के प्रतिनिधि बन गए थे—भोग-विलास में आकंठ डूब गए थे। देव-सृष्टि एक निकृष्ट संस्कृति थी—इसका अर्थ विस्तार भी चिंता सर्ग के जरिये ही 'कामायनी' में होता है। यानी तमाम तरह की रूढ़ियों का विरोध 'कामायनी' चिंता सर्ग के माध्यम से ही करती है। यह उसका बहुत बड़ा महत्त्व है।

'श्रद्धा' सर्ग में श्रद्धा अथवा कामायनी 'अन्न' देखकर जीवन की तलाश करती है, तब उसे मनु नजर आते हैं। वह मन में जीवन की 'लालसा' जगाती है उसे जीवन की ओर उन्मुख करती है—‘दुःख के डर से तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान/काम से झिझक रहे हो आज/भविष्यत् से बनकर अनजान।’ यहा 'काम' शृंगार अथवा भोग-विलास का पर्याय नहीं है, वरन् कर्म और प्रेम का परिचायक है। श्रद्धा 'कामगोत्रजा' है और वह जीवनकर्म का संदेश देती है। यहाँ काम के मिथ में युगानुकूल परिवर्तन कर दिया गया है। 'श्रद्धा' सर्ग के माध्यम से, वास्तव में 'कामायनी' में जीवन की प्रतिष्ठा हुई है, उसके कर्म और प्रेम की प्रतिष्ठा हुई है। मनु श्रद्धा को कभी 'उषा की पहिली लेखा कांत' कभी 'बिजली के फूल' तो

कभी 'रक्त किसलय' और कभी 'एक लघु ज्वालामुखी अचेत' के रूप में देखते हैं। ये सभी सादृश्य-विधान जीवनमय है, जीवन के प्रतीक हैं और उसकी गतिशीलता-सक्रियता के परिचायक हैं। श्रद्धा जीवन-शक्ति और जीवन-जगत की करुणा से ओतप्रोत है—

“नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्ति,
स्पर्श के आकर्षण संपूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।”

जगत की करुण कामना यानी मानवीयता, जड़ में स्फूर्ति, यानी जगत में जीवन की गतिशीलता और 'नित्य यौवन छवि' यानी जीवनगत शक्ति की प्रतिष्ठा करने वाली 'दीप्ति' है या 'सूर्य की किरण' है श्रद्धा। 'श्रद्धा' सर्ग के जरिये 'कामायनी' में मानवीयता और जीवन-जगत के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है। श्रद्धा के अनुसार यह सृष्टि काम के मंगल से मंडित है। मनुष्य की इच्छाओं का परिणाम है, जिसका तिरस्कार करना अनुचित है—

“काम मंगल से मंडित श्रेय
स्वर्ग, इच्छा का है परिणाम।”

श्रद्धा परिवर्तन पर जोर देते हुए और मनु की जीवनी-शक्ति को जगाते हुए उसे कर्मशीलता की ओर प्रेरित करती है—

“अरे तुम इतने हुए अधीर।
हार बैठ जीवन का दाँव,
जीतते मर कर जिसको वीर।”

जब जीवन-जगत को मूलतः दुःख का कारण समझकर मनु जीवन-जगत से विमुख होते हैं तो श्रद्धा उन्हें बताती हैं कि जीवन सिर्फ दुःखमय ही नहीं है, बल्कि यह जगत प्रकृति के वैभव से भरा हुआ है, जिसमें कर्म का भोग और भोग का कर्म है और इसी में सुख अथवा आनंद छिपा है यानी सुख अथवा आनंद या दुःख से छुटकारा इस जीवन-जगत को त्यागकर, या उससे भाग कर नहीं मिल सकता, वरन् वह इसी जीवन, वह इसी जीवन-जगत में रहकर ही संभव बन सकता है—

“एक तुम, यह विस्तृत भू-खंड
प्रकृति वैभव से भरा अमंद,
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतना आनंद।”

यहाँ प्रसादजी न सिर्फ जीवन-जगत की महत्ता प्रतिष्ठित करते हैं, वे न सिर्फ जीवन-जगत की सत्यता स्वीकार करते हैं, वरन् बौद्ध धर्म के दुःखवाद और गीता के निष्काम कर्म का भी विरोध करते हुए दोनों के विकल्प को प्रस्तावित करते हैं। वह विकल्प है जीवन-जगत से प्रेम। 'कामायनी' में इस जीवन-जगत से लगाव को 'श्रद्धा' सर्ग के जरिये अभिव्यक्त किया गया है। इस जीवन-जगत का महत्त्वपूर्ण घटक है मनुष्य। श्रद्धा मनु को उस 'जयगान' को सुनने के लिए कहती है जो विश्व में गूँज रहा है और जिसमें मनुष्य के शक्तिशाली और विजयी बनने का वरदान छिपा है—

“शक्तिशाली हो, विजयी बनो,
विश्व में गूँज रहा जय गान।”

यहाँ मनु के शक्तिशाली और विजयी बनने में और विश्व के गूँजते जयगान को सुनने में विश्व-साम्राज्यवादी विरोध के स्वर की ओर भी संकेत किया गया है। श्रद्धा मनु को बिखरी हुई प्राकृतिक शक्तियों को संचित कर मानवता की विजय का उपाय सुझाती है—

“शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरूपाय
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।”

यहाँ ‘श्रद्धा’ सर्ग के माध्यम से ‘कामायनी’ में मनुष्य की और मानववाद की प्रतिष्ठा की गयी है। ‘श्रद्धा’ सर्ग में प्रसाद जी ने अपनी ‘पश्चिम’ विरोधी मानसिकता का भी संकेत दिया है। श्रद्धा का व्यक्तित्व पश्चिमी-सिद्धांतों और जीवन-शैली का विरोधी है—

“आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घन श्याम,
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।”

यानी पश्चिम के विचाररूपी काले घने बादलों से जब आकाश घिर जाता है, तब श्रद्धा का लाल सूर्य रूपी मुख उन्हें भेद कर सौन्दर्य का प्रसार करता है। वह इसलिए कि श्रद्धा का संबंध दर्शन से गहरे रूप में सम्बद्ध है, जिसे प्रसाद जी ने ‘कामायनी’ में प्रतिपादित किया है। श्रद्धा का सम्बंध मानवीय सहृदयता से है वह विषमता और अन्याय की विरोधी है, जिसे साम्राज्यवाद ने भारतीय समाज में कायम कर रखा था, पूँजीवाद का साम्राज्यवादी रूप मानवीय शोषण और घोर विषमता का जनक है। उसी से ज्ञान-इच्छा-क्रिया में विभेद उत्पन्न हो गया है। श्रद्धा इसका विरोध करते हुए अपनी ‘स्मित’ से इस विभेद को खत्म करती है और जीवन-जगत में समरसता स्थापित करती है। इस तरह ‘श्रद्धा’ सर्ग के जरिये अपने पश्चिम-विरोधी-साम्राज्यवाद विरोधी चिंतन को संकेतित करते हैं। श्रद्धा का एक रूप अविद्या माया का भी है, जिसका दर्शन से घनिष्ठ संबंध है। इस तरह ‘श्रद्धा’ सर्ग के जरिये प्रसाद जी ‘कामायनी’ में कर्म का महत्त्व स्थापित करते हैं; जीवन-जगत और मानवता की प्रतिष्ठा करते हैं, पश्चिमी वैषम्यपूर्ण विचार-प्रणाली का विरोध करते हैं, और उस विकास की प्रस्तावना करते हैं, जिसमें मनुष्य का आत्म-विस्तार होता है—“अकेले तुम कैसे असहाय/यजन कर सकते? तुच्छ विचार/तपस्वी! आकर्षण से ही/कर सके नहीं आत्म विस्तार।” यानी छायावादी कविता में निहित आत्म-विस्तार की प्रवृत्ति का प्रतिपादन ‘श्रद्धा’ सर्ग के माध्यम से ही ‘कामायनी’ में हुआ है। यही नहीं, इसी सर्ग के माध्यम से नारी-संबंधी बदली हुई, आधुनिक धारणा, जिसमें उसकी सामाजिक भूमिका और उसके बाह्य के बजा, आंतरिक सौन्दर्य की पहचान निहित है, का प्रतिपादन भी ‘कामायनी’ में हुआ है जिसमें नारी जीवन-कर्म की प्रेरणा देती हुई सम्मान की पात्र है। ‘श्रद्धा’ सर्ग द्वारा ‘कामायनी’ में प्रगीतात्मकता का महत्त्व प्रतिष्ठित होता है। यहाँ कथा बाह्य के बजाय आंतरिकता की ओर अधिक विकसित और विस्तृत होती है। यह कथा विहीन सर्ग होते हुए भी मात्र काव्य और वह भी गीतात्मकता की दृष्टि से ‘कामायनी’ का सर्वोत्कृष्ट सर्ग है।

‘इड़ा’ सर्ग में मनु एक बार फिर अतीत-स्मृतियों में खो जाता है। ‘इड़ा’ सर्ग के शुरू में मनु अपने अतीत को याद करता हुआ, जीवन-जगत के थपेड़ों से थककर बैठा हुआ नजर आता है। अपनी ‘चिर स्वतंत्र’ रहने वाली प्रकृति, किसी भी सीमा में बंधकर न रहने की प्रवृत्ति और असीम को यानी सब कुछ को पा लेने की लालसा मनु को श्रद्धा-गृह छोड़ने और भटकते हुए सारस्वत नामक उजड़े हुए प्रदेश में पहुँच जाने को बाध्य करती है। वह ‘शाश्वत अस्तित्व’ नामक समस्या से जूझता हुआ ‘विषम तीर’ है, जो ‘अबाध गति मरूत सदृश है’ पर ‘नियति नटी’ के चक्र में फँसा हुआ विवश नजर आता है। श्रद्धा के घर को छोड़ने का उसे ‘संताप’ है और अपने बीते हुए जीवन को-देव-दानवों के संघर्ष से लेकर श्रद्धा के साथ बिताये समय को वह याद करता है-समय का चक्र जैसे उलटा होकर उसकी आँखों के सामने घूमता है। इस सर्ग के शुरू में प्रसाद जी अस्तित्ववादी मनु को चित्रित करते हैं, साथ ही देवताओं और दानवों-असुरों की मूल प्रवृत्तियों-कर्मियों की ओर संकेत करते हैं। दोनों संस्कृतियों की अपूर्णता की ओर संकेत करते हैं-

“था एक पूजता देह दीन

दूसरा अपूर्ण अहंता में अपने को समझ रहा प्रवीण

दोनों का हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास हीन।”

अर्थात्, यदि दानव-संस्कृति शरीर को ही अंतिम सत्य मानकर प्राणों की पूजा में लगी थी तो देवता खुद को ही संपूर्ण समझ कर उच्छृंखल हो गए थे। दोनों ही संस्कृतियाँ अपूर्ण थी। देव-संस्कृति की अपूर्णता दिखाकर ‘इड़ा’ सर्ग में प्रसाद जी ने देव-संस्कृति की एक भिन्न व्याख्या प्रस्तुत की है और आधुनिकता का परिचय दिया है। ‘इड़ा’ सर्ग के जरिये ‘कामायनी’ में इस आधुनिकता की प्रस्तावना की गयी है। यही नहीं, देव-दानवों की जीवन-शैली को चित्रित करते हुए-‘जीवन का लेकर नव विचार/जब चला द्वंद्व था असुरों में प्राणों की पूजा का प्रचार/उस ओर आत्मविश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार-“मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म मंगल उपासना में विभोर/उल्लासशील मैं शक्ति केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और/आनंद उच्छलित शक्ति स्रोत जीवन विकास वैचित्र भरा/अपना नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा।” ये वास्तव में दो भिन्न जीवन-शैली और संस्कृतियाँ हैं, जिनमें अतिरेक है-एक खुद को ही नियम समझ रहा है-वह चाहे जो करे। यानी अत्याचार करे या भोग-विलास करे, वह अपने आप तक ही सीमित रहता है-आत्मकेन्द्रित है। देवता आत्मकेन्द्रित है, असुर शरीर केन्द्रित। मानव-संस्कृति और उसकी जीवन-शैली इन दोनों से भिन्न और श्रेष्ठ है, वह न तो आत्म-केन्द्रित है और न ही शरीर-केन्द्रित। वह आत्म के साथ समाज और शरीर के साथ विचार केन्द्रित है। यदि ऐसा नहीं हो तो उसे ऐसा होना चाहिए तभी वह पतनशील देव-दानवों की संस्कृति और जीवन-शैली से भिन्न और श्रेष्ठ हो सकेगी-‘इड़ा’ सर्ग के शुरू में प्रसाद जी ने यही प्रस्तावित करने की कोशिश की है। और मनु को कैसे साम्राज्य की स्थापना या कैसी मानव संस्कृति की रचना करनी चाहिए इसकी ओर भी संकेत किया है। ‘इड़ा’ सर्ग के जरिये ‘कामायनी’ में मानव-संस्कृति के स्वरूप और उसके निर्माण की पृष्ठ भूमि को द्योतित किया गया है। मानव-संस्कृति शरीर तक ही सीमित न रहकर वैचारिक विकास भी करे-इसकी भूमिका निर्वाह के लिए इड़ा नामक पात्र का प्रवेश होता है। उसके व्यक्तित्व को प्रसाद जी ने इस प्रकार रूपायित किया है-

“बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल

वह विश्व मुकुट सा उज्ज्वलतम शशिखंड सदृश था स्पष्ट भाल,

दो पद्म पलाश चषक से दृग देते अनुराग विराग ढाल
गुंजरित मधुप से मुकुल सदृश वह आनन जिसमें भरा गान
वक्षस्थल पर एकत्र धरे संसृति के सब विज्ञान ज्ञान
था एक हाथ में कर्म कलश वसुधा जीवन रस सार लिये
दूसरा विचारों के नभ को था मधुर अभय अवलंब दिये
त्रिबली थी त्रिगुण तरंगमयी, आलाक वसन लिपटा अराल
चरणों में थी गति भरी ताल।”

यहाँ सादृश्य-विधान की प्रभाव-सभ्यता पर ध्यान केन्द्रित करते हुए प्रसाद जी ने इड़ा के व्यक्तित्व को रूपायित किया है। इड़ा में तर्क की प्रधानता है, उसके बाल तर्कों के जाल की तरह बिखरे हुए हैं यानी वह तर्कपरक दृष्टिकोण से युक्त है। उसके नेत्रों से राग-विराग झलक रहा है जो मानव का ही गुण होता है। इड़ा का सुदृढ़ आधार सृष्टि के समस्त विज्ञान-ज्ञान हैं, उसकी शक्ति है सृष्टि के समस्त ज्ञान-विज्ञान को एकत्र कर भावी मानव-समाज का निर्माण करना-इड़ा भविष्य-उन्मुख है और मनु अतीत-उन्मुख। वह मनु को भी भविष्योन्मुख बनाती है। वह भावी मानव-समाज सारस्वत प्रदेश के नव-निर्माण के लिए मनु को प्रेरित करती है। इड़ा के एक हाथ में कर्म का कलश है तो दूसरे हाथ से वह विचारों के आकाश को थामे हुए है, यानी विचारों और कर्मों का उसमें सामंजस्य है, जैसे श्रद्धा का वैसे ही इड़ा का भी कर्मशीलता से गहरा रिश्ता है। वह भी मनु को कर्म के लिए प्रेरित करती है। वह मानव-संबंधी तीनों गुणों और बलों से युक्त है। और उसके चरणों में गति है, यानी गतिशीलता से उसका गहरा ताल्लुक है, वह संसार में कर्म और विचारों से गतिशीलता उत्पन्न करती है, उसकी जड़ता को तोड़ती है। इड़ा मनु की और संसार की जड़ता को भंग करने वाली शक्ति का प्रतीक है। इस तरह प्रसाद जी ने ‘इड़ा’ सर्ग के माध्यम से ‘कामायनी’ में कर्म, विज्ञान, गतिशीलता और जीवन की भविष्योन्मुखता तथा राग-विराग से युक्त मानव-समाज के नव-निर्माण का प्रतिपादन किया है-देव-दानवों की अपूर्ण संस्कृति के बजाय एक संपूर्ण मानव-संस्कृति के नव-निर्माण का प्रतिपादन किया है। इड़ा को मनु एक ‘आलोकमयी स्मिति चेतनता’ के रूप में देखते हैं। श्रद्धा का भी आलोक और ‘चेतना से घनिष्ठ’ संबंध है, वह भी मनु को भविष्य-उन्मुख बनाती है और उसे कर्म की ओर प्रेरित करती है। यानी इड़ा और श्रद्धा दोनों में कोई खास भेद नहीं है, दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं, जैसा कि इन्हें व्याख्यायित किया जाता है, दोनों में विरोध से अधिक विराधाभास है। अंतर सिर्फ यही है कि श्रद्धा इड़ा से अधिक मानवीय है वह जीवन-जगत की विषमता को अस्वीकार करती है, उसको समाप्त करना चाहती है, लेकिन इड़ा इसकी चिंता-परवाह नहीं करती। उसके लिए जैसे यह संसार की, शासन की एक अनिवार्य विशेषता है। इसके बावजूद वह मनु को श्रद्धा की ही तरह ‘प्रकृति के अखिल ऐश्वर्य’ का लाभ उठाते हुए, उसका नियमन या संयोजन करते हुए, विज्ञान का सदुपयोग करते हुए और निरंतर कर्मशील रहते हुए अखिल लोक या विश्व में मानव का यश फैलाने की ओर प्रवृत्त करती है-

“यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पठल खोलने में परिकर किस कर बन कर्मलीन
सबका नियमन शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता

तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाया।”

इस तरह प्रसाद जी ने ‘इड़ा’ सर्ग के जरिये मानव-संस्कृति को ‘कामायनी’ में और अधिक प्रतिष्ठित किया है जिसकी शुरुआत ‘श्रद्धा’ सर्ग से होती है। यानी ‘कामायनी’ में जीवन-जगत और मनुष्य की प्रतिष्ठा की दृष्टि से ‘इड़ा’ सर्ग ‘श्रद्धा’ सर्ग का ही विकास जान पड़ता है। यहाँ तक आते-आते ‘कामायनी’ में जीवन-जगत की जटिलता का और अधिक प्रवेश होता है, यहाँ मनुष्य संश्लिष्टता और पूर्णता की ओर बढ़ता नजर आता है।

(झ) कामायनी का दर्शन

—शंभुनाथ

प्रोफेसर हिंदी विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय,
कोलकाता

‘कामायनी’ एक दार्शनिक काव्य है। इसमें प्रसाद की पहले की कविताओं की तरह सिर्फ अनुभूति और कल्पना का नवोन्मेष नहीं है। प्रसाद की संपूर्ण काव्य-यात्रा को अनुभूति से दर्शन की यात्रा कहा जा सकता है, जो ‘कामायनी’ में भावनात्मक के साथ दार्शनिक उत्कर्ष प्राप्त करती है। इस कृति में छायावाद का वैचारिक अभिप्राय भी खुलता है। कहा भी जाता है कि ‘कामायनी’ छायावाद की उपनिषद् है। प्रसाद ने इस महत्वाकांक्षी कृति में अपने युग के राष्ट्रीय-सामाजिक जीवन का साक्षात्कार करते हुए मनुष्य जीवन का सार्वभौम अर्थ और तर्क खोजने की कोशिश की है। उनका प्रगीत से महाकाव्य की ओर बढ़ने का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि वे एक बड़े पौराणिक कथाफलक पर काव्य के आनंद को बाधित किए बिना एक दर्शन भी देना चाहते थे।

प्रसाद छोटी-छोटी जीवनानुभूतियों पर प्रेम और सौंदर्यपरक कविताएँ लिखने के साथ भारत के इतिहास, धर्म, दर्शन और संस्कृति के अध्ययन में भी गहराई से लगे हुए थे। उनकी निगाह बीसवीं सदी के तीसरे-चौथे दशक के विश्व में घटित हो रहे राजनैतिक-आर्थिक परिवर्तनों और वैज्ञानिक-तकनीकी विकासों पर थी। वे यांत्रिक बुद्धिवाद, उपयोगितावाद तथा भौतिकवादी सुख की पश्चिमी अवधारणाओं के वैचारिक आक्रमण साफ लक्षित करने लगे थे। उनका युग परंपरा और आधुनिकीकरण, विश्वास और विवेक, पूँजीवाद और शोषित वर्ग, सादा जीवन और सुख की असीमित भौतिक आकांक्षा, सामाजिक भेदभाव और सामंजस्यवाद, हिंसा और अहिंसा, साम्राज्यवाद और विश्वबधुत्ववादी मानवतावाद के बीच बहुस्तरीय वैचारिक संघर्ष का युग था। जाहिर है, प्रसाद के महाकाव्य ‘कामायनी’ के दार्शनिक गठन पर उपर्युक्त सभी वैचारिक संघर्षों का तीव्र दबाव है। उनके अनुभूतिपरक मानस के दार्शनिक रूपांतरण में भारतीय परंपराओं के ज्ञान, तद्युगीन पश्चिम-पूर्व अंतर्द्वन्द्व और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की आकांक्षाओं तीनों की निर्णायक भूमिका है। इस प्रकार ‘कामायनी’ में प्रसाद का दर्शन एक राष्ट्रीय, जनतांत्रिक और मानवतावादी परियोजना है। वह दरअसल भारतीय पुनर्निर्माण का ही एक आदर्शवादी दर्शन है।

‘कामायनी’ एक दर्शन ग्रंथ न होकर काव्य है। प्रसाद का दर्शन काव्य के बिंबों, प्रतीकों और मिथकीय संकेतों में फैला है, बल्कि कहना चाहिए बिखरा हुआ है। इन बिखरे दार्शनिक सूत्रों को समेटने में शुरू से ही आलोचकों को काफी कठिनाई होती रही है। इसलिए कभी दर्शन की जगह मनोविज्ञान और संस्कृति की विवेचना ज्यादा हुई, कभी उसे सिर्फ ‘दार्शनिकता के ऊपरी आभास’ (रामचंद्र शुक्ल), रहस्यवादी जीवन दर्शन (नंद दुलारे वाजपेयी), रहस्यात्मक आनंदवाद (गजानन माधव मुक्तिबोध) कहा गया। सामान्यतः ‘कामायनी’ का दर्शन सिर्फ ‘दर्शन’, ‘रहस्य’ और ‘आनंद’ सर्ग के आधार पर निर्धारित किया गया, जबकि इनमें दर्शन से ज्यादा दार्शनिक पिष्टपेषण है। इन तीन सर्गों का महत्त्व कम नहीं है।

किंतु इन सर्गों को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देने के कारण 'कामायनी' को शैव दर्शन से प्रभावित बताकर कई जगहों पर इसी आधार पर 'कामायनी' के दर्शन की विवेचना हुई।

निःसंदेह प्रसाद शिव भक्त थे और उन्होंने शैव दर्शन से नर्तित नटेश जैसे बिंब और भूमा तथा समरसता जैसे बीज शब्द लिए। लेकिन 'कामायनी' के दर्शन को शैव दर्शन से जोड़कर उसका आध्यात्मिक सीमांकन सही कदम नहीं होगा। शैव दर्शन 'कामायनी' के दर्शन की एक प्राचीन प्रेरणा है, खुद इस महाकाव्य का दर्शन नहीं है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कामायनी' पर लिखते हुए आरंभ में ही एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी, एक विशाल भावना को रूप देने की ओर भी अंत में प्रसाद ने ध्यान दिया, जिसका परिणाम है 'कामायनी'। कौन-सा रूप देने की ओर? निश्चय ही दार्शनिक रूप। प्रसाद मुख्यतः एक अनुभूतिप्रवण, कल्पनाशील और सौंदर्यवादी कवि थे, वह कोई दार्शनिक नहीं थे। कवि के पास कई दूसरों की तरह स्पष्ट सिद्धांत प्रतिपादन के अवसर नहीं होते। उसे संकेतों में यह कार्य करना पड़ता है। हर बड़े कवि के पास एक विश्वदृष्टि होती है, वह अपने युग की वैचारिक टकराहटों के बीच अपनी और अपने युग की विश्वदृष्टि बनाता है। प्रसाद को एक दार्शनिक की जगह कवि-दार्शनिक मान कर ही 'कामायनी' के दार्शनिक तत्त्वों का रेखांकन एवं मूल्यांकन करना चाहिए। दरअसल 'रहस्य' और 'दर्शन' दोनों का एक साथ अस्तित्व संभव नहीं है। यदि कहीं एक दर्शन है तो वहाँ कुछ भी रहस्यमय नहीं हो सकता। दर्शन 'रीजनिंग' की ओर ले जाता है, एक सार्वभौम तर्क की ओर ले जाता है। 'कामायनी' में भी एक रीजनिंग है, एक सार्वभौम तर्क की खोज की छटपटाहट है। यह अलग बात है कि यह खोज काव्य के छायावादी सौंदर्यात्मक उपकरणों के जरिए चलती है, सीधी भाषा में नहीं। अपने युग के मुखर सभी प्राचीन और आधुनिक मिथ्यावादियों और मिथ्या चेतनाओं पर व्यंग्य करते हुए प्रसाद कहते हैं—

सब कहते हैं 'खोलो खोलो'
छवि देखूँगा जीवन धन की,
आवरण स्वयं बनते जाते
है भीड़ी लग रही दर्शन की।

'कामायनी' में है मनुष्य के विकास की सार्वभौम कथा। प्रसाद ने इस कथा-संरचना के लिए वेद, पुराण और ब्राह्मण ग्रंथों से जो भी प्रसंग लिए, उन्हें आधुनिक संकेतों से भर दिया। 'कामायनी' की कथा को इतिहास नहीं समझ लेना चाहिए। फिर भी इस कथा के जरिये ही प्रसाद ने प्राण खोलकर 'चेतना का सुंदर इतिहास, अखिल मानव भावों का सत्य' कहा। 'कामायनी' का सत्य भारतीय परंपरा की खोज होकर भी सार्वभौम है। यह एक राष्ट्रीय जागरण भर नहीं, विश्व चेतना है। इस तरह, कामायनी के दर्शन को देश-कालबद्ध न मानकर विश्वचेतना तथा विश्व भर की मानवता के जागरण का रूप मानना चाहिए। वैसे भी दर्शन और विज्ञान क्षेत्र विशेष के नहीं होते। खासकर दर्शन देश के अलावा काल का भी अतिक्रमण करता है।

'कामायनी' का दर्शन नवजागरण की मानववादी और बुद्धिवादी धाराओं से प्रभावित है। मानववाद ने इहलौकिकता का प्रवर्तन करते हुए मनुष्य और इसके विकास को केन्द्रीयता दी। 'कामायनी' का आरंभ ही भौतिक दुनिया और इसकी सबसे सुंदर चीज मनुष्य की स्वीकृति से है। प्रलयोत्तर पृथ्वी एक मनुष्य के बच जाने की वजह से ही इतनी सुंदर है। वह एक यथार्थ है, माया नहीं। पृथ्वी पर दुःख और सुख दोनों हैं,

जड़ और चेतनशील दोनों हैं। पृथ्वी पर विकास चेतनशील प्राणी के श्रम का ही नतीजा है। प्रसाद एक भाववादी और आदर्शवादी कवि थे, पर व्यक्तिवादी नहीं। वे चैतन्य भाव से सृष्टि के सौंदर्य और मंगल को उत्पन्न हुआ मानते हैं। निःसंदेह वे द्वंद्वात्मक भौतिकवादी नहीं हैं। फिर भी भौतिक दुनिया को सत्य और सुंदर मानकर और इसे मंगलकारी दुनिया के आदर्शवादी ढाँचे में देखकर प्रसाद वस्तुतः अपनी छायावादी परियोजना को ही पूरा करते हैं—

अपने दुःख सुख से पुलकित यह भूत विश्व सचराचर,
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुंदर।

जाहिर है, 'कामायनी' आध्यात्मिक-चिंतन का रहस्यवादी काव्य न होकर, मनुष्य के बौद्धिक-भौतिक विकास की आदर्शवादी दिशा निर्देशित करने वाला काव्य है। इसमें हताशा का नहीं, आशा का दर्शन है। मनु प्रलय में देव सभ्यता के विनाश के बाद हताशा में विस्मृति, अवसाद और जड़ता की कामना करने लगते हैं। किन्तु प्रकृति में, जिसका मनुष्य भी एक अंग है, नवोन्मेष की एक अनोखी अजस्र शक्ति है। उसमें जीवन के चिह्न सदा के लिए कभी मिट नहीं सकते। मनुष्य को अंतिम रूप से कभी समाप्त नहीं किया जा सकता, उसकी कामनाओं के उज्ज्वल संसार को कभी विध्वस्त नहीं किया जा सकता। मानवता इस भौतिक दुनिया में उत्थान-पतन के अनगिनत दृश्य रचते हुए हमेशा गतिमान रहेगी, 'कामायनी' मुख्यतः यही संदेश देती है।

छायावादी काव्यधारा ने नवजागरण के बुद्धिवाद से वैर नहीं ठाना, लेकिन इसने यांत्रिक बुद्धिवाद, उपयोगितावाद और निरंकुश औद्योगिक सभ्यता को चुनौती देकर एक वैकल्पिक जीवन शैली जरूरत प्रस्तावित की। खासकर भारतीय समाज में अभी इतनी गतिशीलता नहीं आ पाई थी कि वह स्वातंत्र्य और औद्योगिक विकास का स्वाद व्यापक रूप से चख पाता। सामाजिक पिछड़ेपन ने मनुष्य के कामनाओं के संसार को सूखा और बंजर बना रखा था। इसलिए छायावादी चिंतनधारा का पहला लक्ष्य था मनुष्य के जीवन में कामनाओं के उज्ज्वल संसार का निर्माण। मनुष्य अपने 'स्व' को पहचाने और उसके भीतर सच्ची कामनाओं का जन्म हो। प्रसाद ने 'ऋग्वेद' की 'कामगोत्रजा श्रद्धा' को मंगलमयी कामना की ओर संकेत करने वाली स्त्री के रूप में देखा। मनुष्य का बनना-बिगड़ना उसके मन की कामना के वस्तुगत चरित्र पर निर्भर करता है। श्रद्धा मंगलमयी कामना की देवी है, इसलिए वह कामायनी भी है—'वह कामायनी जगत की मंगल कामना अकेली'। 'कामायनी' का अर्थ है कामगोत्रजा श्रद्धा, अर्थात् जगत की मंगलमयी कामना।

प्रसाद की 'कामायनी' आधुनिक कामनाओं के विकृत संसार की काव्यात्मक आलोचना है। औद्योगिक सभ्यता ने मनुष्य में प्रकृति से लगातार द्वंद्व और उस पर विजय की तीव्र कामना भर दी। मनुष्य प्रकृति का शत्रु होता गया, जबकि प्रकृति से द्वंद्व जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही राग भी। यदि नवजागरण प्रकृति से द्वंद्व की शिक्षा देकर वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास की प्रेरणा देता है तो छायावाद (रोमांटिसिज्म) प्रकृति से राग की शिक्षा देकर वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास को मानवतावाद से जोड़ने की शिक्षा देता है। प्रकृति से राग प्रसाद का मानवतावादी जीवन दर्शन का एक मुख्य तत्त्व है, जो जीवन को विस्तृत सौंदर्य और मधुरिमा से भरता है।

प्रसाद की प्रकृति-संबंधी अवधारणा में प्रकृति की सचेतनता और परा प्रकृति की ध्वनि निकलती है, प्रकृति के विराट रूप के चित्र हैं। 'कामायनी' के दर्शन में प्राचीन अध्यात्मवादी दर्शनों के चिह्न नहीं हैं, ऐसी बात नहीं है। आनंद सर्ग में कैलाश लोक की ओर बढ़ चुके श्रद्धा और मनु प्रकृति और पुरुष के रूप

में चित्रित हैं, “चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन। श्रद्धा और मनु में पहले दूरी थी, लेकिन दार्शनिक भूमि पर वे प्रकृति और पुरुष या शिव और शक्ति की तरह अखंड आनंद स्वरूप हैं। सभी कृत्रिम भेद खत्म हो चुके हैं। लेकिन ‘कामायनी’ के वृहत्तर काव्यात्मक और दार्शनिक फलक पर मामला भिन्न है, वहाँ अपरा प्रकृति है—सामने फैली अनंत दृश्यमान सृष्टि। हमेशा नवीनता के पक्षधर प्रसाद दृश्यमान प्रकृति के संदर्भ में ही कहते हैं, ‘प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल’। मानव जीवन में हर परिवर्तन ‘नूतनता का आनंद’ ले आता है। प्रसाद परिवर्तन की ये सभी बातें आध्यात्मिक संदर्भ में नहीं, ठोस मानव जीवन के संदर्भ में दृश्यमान प्रकृति की ही बात करते हैं। उनका मुख्य कथ्य यह है कि आधुनिक युग में प्रकृति पर विजय के भौतिक दंभ का वही नतीजा होगा, जो देव सभ्यता का हुआ। प्रसाद प्रकृति के संबंध में नवजागरणकालीन उपयोगितावादी, बुद्धिवादी और भौतिकवादी सुख के दृष्टिकोण को चुनौती देकर प्रकृति से राग का रिश्ता स्थापित करने के उद्देश्य से कहते हैं—

प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूलें मद में,
भोले थे, हाँ तिरते केवल सब विलासिता के नद में।

‘कामायनी’ के दर्शन के केंद्र बिंदु है आदर्शवादी मानवतावाद। इसकी धुरी है श्रद्धा। वह मनु को देव सभ्यता के सामंती दंभ से बाहर निकालकर कर्मशील और सर्जक व्यक्तित्व ही नहीं प्रदान करती, बल्कि उन्हें जीवन की पूर्णता और पारदर्शिता से भी परिचित कराना चाहती है। लेकिन मनु आधुनिक मनुष्य के व्यक्तिवादी जीवन की विडंबनाओं को उजागर करते हुए वस्तुतः अपनी क्षुद्र और विकृत कामनाओं के लिए धरती को नरक में बदल देना चाहता है। श्रद्धा आधुनिक मानव जीवन में प्रवृत्तिमूलकता, स्वच्छंदता, उदारता, ममता, करुणा, मधुरिमा, लोकमंगल, सौहार्द, समता, सादगी और विश्वनीड़ का संदेश लेकर आती है, जो समग्रता में आदर्शवादी मानवतावाद का संदेश है। वह मनुष्य की उदात्त चेतना है, जिसका निर्माण वस्तुतः स्वाधीनता संग्राम काल के उच्चतर मानवीय तत्त्वों से हुआ है। श्रद्धा एक ऐसे दौर का मानवतावादी आदर्शवाद है, जब पूँजीवाद उत्थानशील दशा में था। पैसा बहुत कुछ था, पर सब कुछ न था। प्रकृति से केवल द्वंद्व नहीं, राग का संबंध भी था। मानवीय राग के विस्तार का एक उदाहरण है। एक बार सरदार वल्लभ भाई पटेल जब गाँधी से स्वाधीनता संग्राम के किसी ताजा मुद्दे पर बात कर रहे थे, गाँधी एक बकरी को पत्ते खिलाने में व्यस्त थे। ‘कामायनी’ में मानव इच्छा, ज्ञान और कर्म के बीच सामंजस्य भी एक मुद्दा है। उस जमाने में पृथकतावाद की जगह समग्रता का बोलबाला था और विश्वास तथा विवेक के बीच लंबे द्वंद्व के बाद द्वंद्वत्मक अंतरक्रिया घटित हो रही थी। मानवता को विषमता की पीड़ा से मुक्त करने की आवाज उठ रही थी। श्रद्धा के आदर्शवादी मानवतावाद में न केवल संपूर्ण छायावादी आंदोलन की विचारधारा प्रतिबिंबित हुई, बल्कि बीसवीं सदी के महान भारतीय स्वाधीनता संग्राम की सांस्कृतिक विचारधारा भी। यह जीवन के सच्चे आनंद की ओर बढ़ने का मार्ग था, जीवन को एक अर्थ और तर्क देने का सार्वभौम मार्ग। श्रद्धा मनु की एंटीथीसिस थी।

‘कामायनी’ के दर्शन में भले प्रसाद के कुछ वैयक्तिक और धार्मिक पूर्वग्रह भी शामिल हों, लेकिन समग्रता में वह सामंतवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के विरोध में है। एशिया में विलंबित पूँजीवाद आरंभ से ही विकृत और पतनोन्मुख था, उसकी सामंतवाद से गहरी साँठ-गाँठ थी। मनु का चरित्र इस साँठ-गाँठ का मूर्तिमान रूप है। उन्हें श्रद्धा जब पहली बार मिली थी, वह ‘विश्व की करुण कामना मूर्ति’ की तरह दिखी थी। वह मनु के निरूपाय और वेदना भरे जीवन में आशा की ज्योति बनकर आई थी, वह दया,

ममता, मधुरिमा और विश्वास का उज्ज्वल दान और कर्म का संदेश बनकर आई थी। मनुष्य ने विध्वंस के पारावार में श्रद्धा से यही सुन—‘शक्तिशाली हो विजयी बनो, विश्व में गूँज रहा जय गान’। किंतु जब मनुष्य शक्तिशाली होने लगा वह सार्वभौम विकास की जगह मनुष्य के ही दमन और शोषण में प्रवृत्त हो गया। उसकी समन्वय चेतना खो गई। श्रद्धा विषमता की पीड़ा से त्रस्त विश्व में आधुनिक मनु को समरसता के संदेश के साथ मिली थी। श्रद्धा को पाने के बाद मनु में कर्म की प्रेरणा जगती है, उसमें कामनाओं का मधुर संसार प्रवेश करता है। ‘कामायनी’ में पहली बार काम आता है मनुष्य में उदात्त कामना के उष्ण संचार के लिए। वह दूसरी बार आता है अपने बुनियादी लक्ष्यों से भटके मनुष्य को वर्ग विभाजित पूँजीवादी लोकतंत्र का अभिशाप देने के लिए। काम का दार्शनिक अर्थ है सृजन करने की इच्छाशक्ति, वह ‘कामायनी’ में सेक्स का पर्याय नहीं है।

मनु ने शुरू में कुछ दिन श्रद्धा के साथ सादगी, भावनामय और युक्तिपूर्ण जिंदगी बिताई। मनु की कामनाओं का संसार अकलुषित था—‘चल रहा था सरल शासन युक्ति-सुरुचि समेत’। लेकिन एक महान प्राचीन दौर के बाद मनुष्य का पतन शुरू हुआ। मनु अब सोचने लगे, ‘विश्व में जो सरल सुंदर हो विभूति महान, सभी मेरी है, सभी करती रहे प्रतिदान’। वे काम का, उज्ज्वल कामनाओं का आंतरिक संसार बसाने का संदेश भूल गए। वे इंद्रियपरायण, व्यक्तिवादी और फासीवादी होने लगे। श्रद्धा ने अपने जीवन को एक बार स्त्री की भारतीय वास्तविकताओं के परिप्रेक्ष्य में भी देखा और स्त्री की मुक्ति से संबंधित समस्याओं पर भी विचार किया। मनु पुरुष प्रभुत्ववाद का परिचय देने लगे थे। उन्होंने आसुरी तत्वों आकुलि-किलात से मिलकर हिंसा और भोगवाद के नंगे दृश्य उपस्थित किए। श्रद्धा को बुरा लगा। क्या स्त्री को हमेशा पुरुष के अधीन रहकर रो-धोकर ही अपना जीवन व्यतीत करना होगा? अपनी गुलामी का संधिपत्र लिखते समय उसे रोने की भी आजादी नहीं, उसे मुस्कुराते हुए यह काम करना होगा। ‘कामायनी’ की लज्जा नारी की इस नियति की ओर संकेत करती है। लेकिन श्रद्धा सामंती नियति के आगे झुकती नहीं, उससे लड़ती है। आकुली-किलात से मिलकर मनु हिंसा और उपभोगवाद का जो नग्न दृश्य उपस्थित करते हैं, श्रद्धा उसमें हिस्सा नहीं लेती। वह ‘ऐलियनेशन’ का अनुभव करती है और आधुनिक मानव की हिंसा पर सवाल दागती है—

यह विराग संबंध हृदय का कैसी यह मानवता?

प्राणी को प्राणी के प्रति बस बची रही निर्ममता।

मनु सामंती सभ्यता के पूँजीवादी विकास से केवल सुख की गुलामी चुनते हैं और अमेरिकी शैली की व्यक्तिवादी स्वाधीनता चाहते हैं। वे कहते हैं, “आकर्षण से बना विश्व यह केवल भोग्य हमारा, जीवन के दोनों कूलों पर बहे वासना धारा।” मनु में आज के उपभोक्तावाद के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। यह प्रसाद की दूरदर्शिता थी कि उन्होंने बीसवीं सदी की चरम उपभोक्तावादी और बर्बरतावादी परिणतियों को काफी पहले ‘कामायनी’ के मनु में मूर्त कर दिया। मनु के भोगवादी या सुखवादी विचारों का कोई संबंध न संस्कृति से था, न मानव हित से। श्रद्धा अपने सजल पलकों में गहन वेदना लिए मानव सभ्यता के इस विकास का बड़े गौर से निरीक्षण करती है। ‘कामायनी’ का मूल दर्शन मानव सभ्यता के उपभोक्तावादी और बर्बरतावादी विकास से टकराहट का दर्शन है। यह निराशा की वेला में भी ‘मानवता विजयिनी हो जाए’ की कामना का दर्शन है।

मनु ने श्रद्धा को पाकर भी खो दिया। श्रद्धा जब श्रम करना शुरू करती है, बीज चुनती है, अपनी होनेवाली संतान के लिए तकली पर सूत बुनती है, मनु पूछते हैं कि उसके लिए कपड़े की क्या जरूरत है; क्या पशु के बच्चे का मुलायम चमड़ा बेहतर चीज नहीं है। श्रद्धा 'स्काइ स्कैपर्स' की जगह एक छोटा-सा घर बनाती है। वह 'स्माल इज ब्यूटीफुल' के आदर्श पर बल देती है तो मनु सारस्वत प्रदेश में बड़े उद्योग, बड़े साम्राज्य, सुख की गुलामी के बड़े-बड़े उपकरण, क्रूर उपयोगितावाद तथा स्त्री-पुरुष संबंध के स्तर पर यौन अराजकतावाद की ओर बढ़ते हैं। वे फासीवाद के रास्ते पर जाकर जनता से युद्ध में प्रवृत्त हो जाते हैं, जिसकी अंतिम परिणति घायल होने में होती है। 'कामायनी' सिर्फ मनु के घायल होने की नहीं, मानव सभ्यता के घायल होने की त्रासदी भरी दार्शनिक कथा है।

प्रसाद ने 'कामायनी' में बार-बार जो चिंता व्यक्त की है, वह यही है कि पश्चिमी पैटर्न का आधुनिक विकास हमारी जातीय आत्म पहचान को विकृत कर रहा है। यह सौहार्द, मानवता और समग्रता के बोध को नष्ट कर रहा है। यह आत्मनिर्भर ग्राम समाज के ही नहीं, उत्थानशील पूँजीवाद के अच्छे मूल्यों को क्षति पहुँचा रहा है—यह विकास हमारे अंतःकरण का उपनिवेशीकरण कर रहा है। प्रसाद ने कहा कि तर्क, बुद्धि और विज्ञान के बल पर आधुनिक विकास जब तक कुछ आधारभूत मानवीय मूल्यों और प्रतिबद्धताओं से नहीं जुड़ेगा, वह खोखला होगा और अंततः फासीवाद का पथ प्रशस्त करेगा।

भारत की भावी प्रगति तर्क, बुद्धि और विज्ञान-टेक्नोलॉजी के बल पर ही संभव थी। प्रसाद ऐसी प्रगति के, जो वस्तुतः औद्योगिक प्रगति थी, विरोधी नहीं थे। वे इड़ा के विरोधी नहीं थे। उनकी केवल एक उक्ति 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय, लेकिन नहीं बैठ जाना चाहिए।' इस उक्ति का भी यही अर्थ है कि मूल्यविहीन तर्कवाद या मूल्यविहीन तकनीकी प्रगति श्रेयस्कर नहीं है। प्रसाद नवजागरण से प्रभावित थे, वे बुद्धिवाद-विरोधी नहीं हो सकते थे। श्रद्धा मनु को ढूँढ़ते हुए जब इड़ा के पास पहुँचती है, उससे कहती है, 'तुमसे कैसे विरक्ति...तुम आशामयि! चिर आकर्षण'। वह मानव को इड़ा के पास छोड़ते समय कहती है—

हे सौम्य! इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार;

यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।

उपर्युक्त पंक्तियाँ 'कामायनी' के दर्शन की रीढ़ हैं। आधुनिक मनुष्य का जीवन तर्क-बुद्धि-विज्ञान-टेक्नोलॉजी और आदर्शवादी मानवतावाद के मेल से ही अर्थपूर्ण हो सकता है। आजकल नई अर्थव्यवस्था को मानवीय चेहरा देने की बात जोर-शोर से होती है, विज्ञान और टेक्नोलॉजी के मानव हित में इस्तेमाल की बात होती है। श्रद्धा अपनी संतान मानव को वैज्ञानिक-औद्योगिक प्रगति की नेत्री इड़ा के पास निधड़क छोड़कर भारत के राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के वास्तविक मार्ग की ओर इशारा कर देती है। यदि प्रसाद इड़ा या बुद्धिवाद-तकनीकी प्रगति के विरोधी होते तो श्रद्धा 'यह तर्कमयी तू श्रद्धामय' कहकर मानव को इड़ा के पास कभी नहीं छोड़ती। मनु श्रद्धाहीन होकर, आदर्शवादी मानवतावाद को खोकर इड़ा के पास पहुँचा था, उसकी बुरी दशा हुई। मानव श्रद्धायुक्त होकर पहुँचा। प्रसाद ने चेताया, 'मानव कर ले सब भूल ठीक'। वे इड़ा के क्षयशील पूँजीवादी रूप के विरोधी थे, उसके उत्थानशील बुद्धिवादी-वैज्ञानिक रूप के विरोधी न थे। वे उच्चतर परंपराओं और आधुनिकीकरण के बीच एक रिश्ता चाहते थे, जो टूटता जा रहा था।

प्रसाद मानव जीवन में भेदभाव और विखंडता के विरोधी थे। वे अखंड मानवता के गायक थे। सामंजस्यवाद के पक्षधर। विश्व में विषमता इसीलिए है कि कहीं सिर्फ दुःख है और कहीं सिर्फ सुख। दुःख और सुख दोनों का बँटवारा हो जाना चाहिए, तभी जीवन में समग्रता का बोध पनपेगा और केवल

तभी देश की चौहदियों को तोड़कर अखंड मानवता का वैश्विक विकास होगा। नवजागरण राष्ट्रीय जागरण था, जबकि छायावाद अखंड मानवता का विश्वबोध। मानव जाति के उच्चतर मूल्यों और परंपराओं को लेकर आधुनिकीकरण-तकनीकी प्रगति की ओर इस तरह बढ़ा जाए कि आज का मनुष्य अखंड मानवता का अनुभव कर सके, वह दुःख और सुख दोनों में हिस्सा ले सके। वह जीवन में समग्रता का बोध कर सके। मनुष्य की इच्छाओं का संबंध ज्ञान से हो, वे कृत्रिम इच्छाएँ न हों। मनुष्य का ज्ञान कर्म को सदा आलोकित करता रहे, उसके कर्म का उच्च उद्देश्य हो, प्रसाद का दर्शन यही है। वे 'कामायनी' में इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहना चाहते। वे ये बातें कभी काव्यात्मक संकेतों में कहते हैं, कभी कश्मीरी शैव दर्शन से शब्दावली लेकर। वे जीवन की समग्रता के दर्शन को 'भूमा' के मधुर अवदान के रूप में देखते हैं—

विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पर्दित विश्व महान
यही दुःख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान

शैव दर्शन के दो खास शब्द हैं, 'अल्प' और 'भूमा'। 'अल्प' का अर्थ है अंश, जबकि 'भूमा' का अर्थ है समग्रता। पत्ती अल्प है, जबकि पूरा पेड़ भूमा है। मनुष्य को उसकी मिथ्या चेतनाएँ समग्रता, अपृथक्ता और अखंडता के बोध से विच्छिन्न कर देती हैं। वे भेद की दीवारें खड़ी कर देती हैं। मनु मिथ्या चेतनाओं से ग्रस्त होकर समग्रता में जीवन की कल्पना नहीं कर पाते और 'मुझको दुःख पाने दो स्वतंत्र' कहकर आधुनिकतावादी मनुष्य की तरह व्यक्तिवादी रुख अपना लेते हैं। उन्हें श्रद्धा भूमा का संदेश देती है, पर वे नहीं सुनते। प्रसाद ने मनु की त्रासदी के जरिये क्षयशील पूँजीवाद की छाया में जन्मे अराजक व्यक्तिवाद की त्रासदी दिखाई है। वे समष्टिवाद का पक्ष लेते हैं, समरसता चाहते हैं। समरसता भी शैवागमों का एक पारिभाषिक शब्द है, समरसता का मतलब है विषमतामुक्त व्यवस्था।

प्रसाद ने प्राचीन दार्शनिक शब्दावलियों का उपयोग आधुनिक जीवन दर्शन के लिए किया है, उन्होंने परंपरा के स्रोतों को पहचाना है। शिव इच्छा, ज्ञान और क्रिया की सूक्ष्म शक्तियों की समरसता में विराजते हैं। इनमें से किसी एक का भी अभाव होने पर समरसता की अनुभूति नहीं हो सकती। प्रसाद कहते हैं, 'ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की'। आधुनिक जीवन में तीनों के बीच संपर्क छिन्न-भिन्न है, इसलिए जीवन विडंबनाग्रस्त है। प्रत्यभिज्ञादर्शन में समरसता एक तरह की निर्विकल्प समाधि है, वह एक आध्यात्मिक अनुभूति है। प्राचीन ग्रंथों में समरसता समन्वयवाद के रूप में भी आया है। समरसता अद्वैत का एक रूप भी है। प्रसाद समरसता को विश्व की विषमता के आदर्शवादी जवाब के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसके कारण उसका आध्यात्मिक अभिप्राय सहज ही ओझल हो जाता है। सामने आ जाती है मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता की रसात्मक अनुभूति। यह वर्गविहीन समाज का ही एक आदर्शवादी मानवीय स्वप्न है। श्रद्धा मानव को इड़ा के पास छोड़ते हुए उससे समरसता का प्रोपगंडा करने के लिए ही कहती है—

सब की समरसता का प्रचार,
मेरे सुत! सुन माँ की पुकार।

श्रद्धा मनुष्य जाति को अहं भाव के कारण देव सभ्यता के विनाश की याद दिलाती हुई और एक चेतावनी देती हुई ऐसे कर्म की ओर अग्रसर होने का संदेश देती है, जिससे महाविषमता के विष का सामाजिक असर बुझ जाए। मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम और समता का अटूट संबंध कायम हो और सभी मुक्त हों।

इस देवद्वंद्व का वह प्रतीक
मानव! कर ले सब भूल ठीक
यह विष जो फैला महाविषम
निज कर्मोन्नति से करते समय,
सब मुक्त बनें...

प्रसाद स्त्री-पुरुष संबंध के धरातल पर भी समरसता की बात करते हैं। श्रद्धा के पथ से विचलित मनु को काम अभिशाप देता है। काम मानव को अभिनव प्रजातंत्र के संदर्भ में द्वयता, वर्णभेद, समस्याग्रस्तता, इच्छाओं की आपूर्ति और अनवरत यंत्रणा का अभिशाप देता है—‘दुःख देगी यह संकुचित दृष्टि’। काम मनु पर सबसे बड़ा आरोप स्त्री-अधिकार के संदर्भ में लगाता है, जिससे प्रसाद की स्त्री के बारे में दृष्टि स्पष्ट हो जाती है। काम समरसता के स्त्री-संदर्भ को उजागर करते हुए कहता है—

तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की,
समरसता है संबंध बनी, अधिकार और अधिकारी की।

‘कामायनी’ में समरसता एक तरह से मानवीय बराबरी का बोध या सामंजस्यवाद है। प्रसाद ने ‘कामायनी’ के मिथक को अंत में जाकर एक कल्पलोक, एक यूटोपिया में भटका दिया है, अन्यथा सर्वत्र समरसता का भौतिक अर्थ ही प्रधान है। श्रद्धा घायल मनु को आत्महत्या से बचाकर कैलाश लोक के यूटोपिया की ओर ले जाती है, जहाँ प्रसाद भौतिक समस्याओं का आध्यात्मिक समाधान देते-से दिखाई देते हैं। प्रसाद ने रहस्य सर्ग तक में धर्म, न्याय और ज्ञान के क्षेत्र के प्रचलित ढोंगों का बड़ी तीखा अनावरण किया है। पर आनंद सर्ग में वे आनंदवाद की आध्यात्मिक अनुभूति के स्तर पर आ जाते हैं। दरअसल प्रसाद के भारत में समरसता की भौतिक अनुभूति महज स्वप्न की वस्तु थी। श्रद्धा और मन ‘कामायनी’ के अंत में एक आध्यात्मिक मुठभेड़ में अचानक पाते हैं—

समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था।
चेतनता एक विलसती, आनंद अखंड घना था।

कोई दर्शन सामाजिक समाधान का प्रेरक हो सकता है, खुद सामाजिक समाधान नहीं हो सकता। मुक्तिबोध ने प्रसाद के दार्शनिक समाधान को रहस्यवादी कहते हुए भी इतना जरूर स्वीकार किया, “संक्षेप में, प्रसाद बाह्य के प्रति संवेदनशील थे, जगत के प्रति अत्यंत तीव्र हार्दिक बौद्धिक प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे, समाज तथा सभ्यता-संबंधी प्रश्नों के समुदाय उनके हृदय में तड़पते थे।” इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि कामायनी में प्रसाद द्वारा उठाए गए दार्शनिक प्रश्न उनके जमाने के समाज और सभ्यता के प्रश्न भी थे। वे जीवन निरपेक्ष वायवीय प्रश्न नहीं थे। अपने वर्ग और युग की वैचारिक सीमाओं में जकड़े होने के बावजूद ऐसा नहीं था कि प्रसाद अपने दार्शनिक प्रश्नों की थोड़ी-बहुत प्रेरणा यूरोपीय जनतांत्रिक क्रांति और रूस की नवंबर क्रांति से नहीं पा रहे थे। रामचंद्र शुक्ल ने काफी पहले लक्षित किया था—“वर्गहीन समाज की साम्यवादी पुकार की भी दबी-सी गूँज दो तीन जगह है”। दरअसल समरसता ही वह गूँज थी। क्या

बिना किसी बुद्धि-विवेक या समाजवादी प्रेरणा के श्रद्धा सामंती समाज के पूँजीवादी रूपांतरण के प्रतीक मनु के सामने यह चुनौती फेंकती है?

अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा,
यह एकांत स्वार्थ भीषण है अपना नाश करेगा।

* * *

औरों को हँसते देखों मनु हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।

प्रसाद ने अपने युग के अन्य सभी छायावादी कवियों की भाँति वर्तमान की दीनता, पराधीनता और निराशा को चुनौती दी, उन्होंने मानव की स्वच्छंदतावादी मुक्ति का आह्वान किया। साफ कहा, “तप नहीं, केवल जीवन सत्य करुण यह क्षणिक दीन अवसाद। कामायनी का दर्शन वस्तुतः मानव जीवन का ही दर्शन है, वह कोई शुद्ध तार्किक विवेचना नहीं है।” ‘कामायनी’ का संदेश सुखवाद नहीं है, ‘सबको सुखी बनाओ’ है।

उस युग के भूमा और समरसता के नारों को क्या हम इसलिए खारिज कर देंगे कि ये मार्क्सवाद की वैज्ञानिक चिंतन-पद्धति से नहीं निकले हैं या हम यह देखेंगे कि इस चिंतन पद्धति के अभाव में, आदर्शवादी धरातल पर ही उस युग की द्वंद्वत्मक सोच बौद्धिक विकास के किस मोड़ पर आ गई थी। जिस प्रकार इंग्लैंड की औद्योगिक और जनतांत्रिक क्रांति हीगेल के जर्मनी में तब केवल एक भाववाद थी, उसी प्रकार यदि यूरोपीय जनतांत्रिक क्रांति और रूस की समाजवादी क्रांति भी यदि प्रसाद के भारत में समरसता के भाववादी ढाँचे में प्रकाश पाती है तो यह किसकी सीमा है—प्रसाद की या इतिहास की?

(क) राम की शक्ति-पूजा : निराला

-डॉ. रामविलास शर्मा

‘राम की शक्ति-पूजा’ पाश्चात्य महाकाव्यों का अधिक स्मरण दिलाती है, प्राच्यों का कम। उन महाकाव्यों में उसका सान्निध्य सबसे अधिक 'Paradise Lost' से है। छंद का गठन, भाषा का ओजपूर्ण किन्तु अत्यन्त संयमित प्रवाह, साथ ही भावों की असाधारण गरिमा, ये गुण हमें मिल्टन के काव्य में मिलते हैं। ‘राम की शक्ति-पूजा’ महाकाव्य नहीं है, खण्डकाव्य भी नहीं, वह एक लंबी कविता है, परन्तु उसमें ये सभी गुण वर्तमान हैं। अन्तर दोनों के बाह्य परिमाण का है और इस बात को अनेक आलोचकों ने स्वीकार किया है कि मिल्टन का महाकाव्य अपने सभी अंगों में समुचित संगठित महान् नहीं है। पौराणिक उपाख्यान को जिस प्रकार कवि ने काव्य में कल्पना द्वारा सजीव किया है, वह बहुत कुछ पाश्चात्य Epics के अनुकूल हुआ है। कवि ने थोड़े से अपने पात्रों का चित्रण किया है किन्तु वे अपनी छाप हृदय पर किसी Epics के ही पात्रों की तरह डालते हैं। राम, महावीर, विभीषण आदि पर आदिकवि से लेकर आज के कवियों तक न जाने कितना लिखा गया, फिर भी उनके भीतर से कवि ने जिन प्रतीकों की व्यंजना की है, वह तात्त्विक और आधुनिक दृष्टिकोण की सूचक है। संकेत व्यंजनाओं से यह कविता गुंथी हुई है और इन्हीं से हम उसके मूल अर्थ तक पहुँचते हैं। प्रतीकवाद का उथला रूप इसमें कहीं भी नहीं है। इस प्रकार की प्रतीक व्यंजना का मिल्टन में अभाव है। छन्द और भाषा का संगठन इस प्रकार हमारे पुराने काव्यों में नहीं किया गया। इस कविता के चारित्रिक घात-प्रतिघात ऐसी मानसिक, यदि उसे मानसिक कहा जा सके भूमि पर होते हैं, जहाँ बहुत कम कवियों की पहुँच है; इसीलिए यह कविता पुरातन और आधुनिक काव्य में अद्वितीय है, जिसका अर्थ यह नहीं कि वह सर्वोत्कृष्ट है। वह नवीन है, किसी भी महाकाव्य-सी मूल्यवान और वह हिन्दी की सम्पत्ति है। आरंभ इन पंक्तियों से होता है—

रवि हुआ अस्त, ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का.....

कवि का ध्येय राम-रावण का युद्ध वर्णन नहीं है, इसलिए वह सूर्य को अस्त करके पहले ही बता देता है कि आज का युद्ध समाप्त हो चुका है। ऊपर की पंक्तियों के बाद युद्ध का वर्णन चलता है, किन्तु वह चित्र का पाश्चाद्भाग सज्जित करने के लिए, कवि का वह मूल विषय नहीं। कुछ-कुछ इसी प्रकार मिल्टन ने भी खुदा और शैतान के युद्ध का वर्णन किया है, संकेत व्यंजना का ऊपर की दो पंक्तियाँ सुन्दर उदाहरण हैं। दिन समाप्त हो चुका है, परन्तु जो घटनाएँ उस काल में घटित हुई हैं, वे जैसे उसी दिन के ज्योति पत्र पर अंकित कहीं सुरक्षित हैं। कवि ऐसा आभास देता है कि ये घटनाएँ क्षणिक नहीं, उनकी महत्ता अनन्त है और वे अनन्त काल तक रहेंगी। साथ ही ‘अपराजेय समर’ से हमें युद्ध के अनिश्चित परिणाम का बोध होता है, राम की मनोभूमि पर जो संग्राम होने वाला है, हम कुछ-कुछ उसके लिए तैयार हो जाते हैं।

दूसरे पैरा में दोनों सेनाओं का अपने-अपने शिविरों की ओर लौटना वर्णित है। रावण की सेना की प्रसन्नता और राम की सेना का विषाद आगामी घटनाओं के लिए और भूमि तैयार करते हैं। युद्ध का परिणाम अनिश्चित अवश्य है, परन्तु जयाकांक्षी राम के लिए वह पराजय के समान है। प्रथम दो पंक्तियों में राक्षस सेना की प्रसन्नता का वर्णन इस प्रकार है—

‘लौटे युगदल, राक्षस-पदतल पृथ्वी टलमल,
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।’

राक्षसों के अत्याचार से पृथ्वी त्रस्त है, वह ध्वनि पहली पंक्ति की स्पष्ट है। दूसरी से उल्लास के आधिक्य से आकाश का विकल होना, अपनी सांकेतिकता आकाशतत्त्व और राक्षसों के किसी भीतरी सम्बन्ध की ओर कवि यहाँ इंगित करता दिखाई देता है में, और भी सुन्दर है। राक्षसों का उल्लास और आकाश के उल्लास से कुछ सामंजस्य खाता दिखाई पड़ता है। अंधकार, आकाश, तमोगुण, राक्षस—ये सब अविभक्त, प्रायः एक ही संज्ञा के सूचक, इस कविता में आते हैं। यह अधिक स्पष्ट हो जाता है, जब हम आगे पढ़ते हैं—

‘रावण-महिमा श्याम विभावरी अंधकार...’

रावण और भयानक रात्रि, जो राम को घेरे हुए हैं, एक ही हैं। आकाश में शिव का वास है और वह रावण के इष्टदेव हैं, इसलिए आकाशतत्त्व से रावण का गहन संबंध है। कवि ने आगे कहा है—

‘यह महाकाश है, जहाँ वास शिव का निर्मल’

इसलिए रावण की विजय पर आकाश का उल्लसित होना अत्यन्त स्वाभाविक है—

‘बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल।’

यहीं कवि हमें बता देता है कि यह राम-रावण का, दो व्यक्तियों का, संग्राम नहीं है यह उन आदि-शक्तियों का संघर्ष है, जो विश्व में सतत क्रियाशील रहती हैं। राम-रावण किन शक्तियों के प्रतीक हैं, यह कवि ने कहा नहीं है, उनकी ओर संकेतमात्र किया है। चरित्रों की मानवीयता सुरक्षित रहती है। राम अपनी वानर-सेना के साथ अपने शिविर की ओर चलते हैं। जटा-मुकुट खुल गया है और उनकी पीठ, बाहुओं और छाती पर फैल गया है और यहाँ भी एक जबर्दस्त संकेत देखकर हम सिहर उठते हैं—

‘उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशांधकार,
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।’

इस अंधकार रावण की महिमा ने राम को आक्रांत कर लिया है, आशा की तारिकाएँ अपनी क्षीण ज्योति में बहुत दूर पर टिमटिमाती दिखाई देती हैं। राम जहाँ अपने सेनानियों के साथ बैठते हैं, वहाँ भी एक पर्वत है; उसे भी रावण की महिमा, श्यामा विभावरी इसी प्रकार आक्रांत किए हैं।

अगला, इस कविता का एक अत्यन्त सुन्दर पैराग्राफ है। राम के मानसिक संघर्ष के लिए कवि ने जो प्रकृति की सैटिंग दी है, वह अत्यन्त ओजपूर्ण, साथ ही सांकेतिक है।

‘हे अमा निशा; उगलता गगन घन अन्धकार;
खो रहा दिशा का ज्ञान; स्तब्ध है पवन-चार;
अप्रतिहत गरज रहा पीछे, अंबुधि विशाल;
भूधर क्यों ध्यानमग्न; केवल जलती मशाल।’

अंधकार का आधिक्य इससे द्योतित है कि आकाश ही उसे उगलता दिखाई देता है। मिल्टन के Hell की Palpable darkness इससे अधिक तामसी नहीं है। यहाँ अंधकार एक तत्त्व के रूप में क्रियाशील है, उसका संबंध आकाश से है और आकाश का शिव से, रावण से। राम के चारों ओर यह चातुर्दिक प्रवाहित अंधकार जितना चित्ररूप में सुंदर है, उतना ही अपनी सांकेतिकता में सार्थक और उपयुक्त। दिशाओं का इस समय ज्ञान नहीं, जड़ शक्तियों ने चेतन को परास्त कर रखा है, पवन भी स्तब्ध है, शायद उसका संबंध हनुमान से है, इसीलिए पीछे अप्रतिहत रूप से विशाल समुद्र गर्जन कर रहा है; अंधकार के साथ मिलकर, वह राम को आक्रान्त करने में लगा हुआ है। पर्वत जैसे ध्यानमग्न, इन क्रियाओं से उदासीन, चुपचाप खड़ा है। सिर्फ एक मशाल जल रही है।

‘केवल जलती मशाल’

‘केवल’ का प्रयोग बहुत ही प्रभावोत्पादक हुआ है। इस अंधकार और समुद्र की उच्छृंखल क्रीड़ाओं के बीच सिर्फ एक मशाल जल रही है। हमें इसी से भावी विजय के लिए आशा मिलती है और हम धैर्य के साथ राम का दैन्य स्वरूप देखने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

एक ओर राम की अपराजिता शक्ति, दूसरी ओर वैसे ही रावण का प्रतिरोध, रामचन्द्र मन-ही-मन विकल हो उठते हैं—

‘स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर फिर संशय,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय;
जो हुआ नहीं आज तक हृदय दमनीय श्रान्त,
एक भी अयुत लक्ष में रहा जो दुराक्रांत,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार-हार...’

इसी समय राम को सीता का स्मरण होता है। यह राम की निर्बल मानसिक अवस्था का द्योतक है, कवि ने इंगित से इसे भी आगे स्पष्ट कर दिया है। क्षण भर के लिए हम जनक की वाटिका में पहुँच जाते हैं और राम और सीता का—

‘नयनों का-नयनों से गोपन-प्रिय संभाषण’

देखने लगते हैं। कवि ने राम की इस चारित्रिक निर्बलता को बड़े-सुन्दर ढंग से निबाहा है। राम इस दृश्य में इतने तन्मय हो जाते हैं कि आवेश में उनका हाथ फिर धनुष उठाने के लिए बढ़ जाता है। राम की इस क्रिया का कवि ने मार्मिकता से उल्लेख किया है—

‘पुलकित तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त,
हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त’

इस आवेश से एक दूसरी भावना का जन्म होता है, वह रावण-विजय की बात फिर सोचने लगते हैं। भावनाओं का यह सान्निध्य दिखाकर कवि ने अपनी मनोवैज्ञानिक सूझ का परिचय दिया है। समर में अपना पराक्रम-प्रदर्शन और आज का रावण-विरोध स्मरण करके राम की आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़ते हैं। यहाँ का चित्रण कविता के सर्वोत्कृष्ट प्रभावोत्पादक स्थलों में से एक है—

‘वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्र-पूत,
 फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत,
 देखते राम जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
 ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण खर,
 फिर देखी भीमा मूर्ति आज रण देखी जो
 आच्छादित किए हुए सम्मुख समग्र नभ को,
 ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझकर हुए क्षीण-
 पा महानिलय उस तन में क्षण में हुए लीन;
 लख शंकाकुल हो गए अतुल-बल शेष-नयन-
 खिंच गए दृगों में सीता के राममय नयन,
 फिर सुना-हँस रहा अट्टहास रावण खलखल,
 भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता दला।’

आकाश की ओर उड़ते प्रज्वलित बाण चित्र में वैसे ही सुन्दर हैं जैसे वे राम की शक्ति के परिचायक। परन्तु आगे जिस भीमा मूर्ति का वर्णन है, उसके आगे ये कुछ भी नहीं जँचते। बाणों के तेज को स्वीकार करके कवि ने इस मूर्ति की ही अनन्त तेजस्विता को अधिक स्पष्ट किया है। वह सामने सारे आकाश को, रावण के सहायक-शम्भू के वास को, ढाँपे हुए राम के सारे अस्त्रों को अपने ऊपर ही रोप लेती है। इस महाशक्ति में बाणों की क्षुद्र शक्तियाँ बुझ-बुझकर लीन हो जाती हैं। राम की निर्बलता, सीता का ध्यान, उन्हें फिर दबा लेता है। उनकी आँखों में सीता के नेत्र, जिनमें राम का चित्र स्वयं अंकित है, खिंच जाते हैं। कम-से-कम शब्दों से अधिक-से-अधिक व्यंजना का यह एक ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण है, जैसा और साहित्यों में खोजने पर मुश्किल से ही मिलेगा। सीता की राम-दर्शन की लालसा और वैसी ही राम की वियोग-व्यथा, कवि का चित्र सूक्ष्म, साथ ही भावुकतापूर्ण है। राम की इस निर्बलता के ही समय रावण का हँसना सुनाई देता है। Dramatic Contrast का यह सुन्दर उदाहरण है। रावण का विजय-मद और राम की पराभव-दीनता, दोनों की ही तुलना बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से की गई है।

हनुमान भक्तिपूर्ण राम की क्रियाएँ देख रहे थे। उनके चरण अस्ति, नास्ति के दो रूप एक ही पुरुष में अपना तादात्म्य प्रदर्शित करते उन्हें दिखाई देते हैं। पहले भक्त को यह भान नहीं होता कि उसके भगवान रो रहे हैं, वह उन अश्रु-बिंदुओं को आकाश की तारिकाएँ या दो हीरे समझता है। परन्तु जब उसकी समझ में असली बात आ जाती है तब उसकी शक्ति हठात् प्रबल वेग से स्पंदित हो उठती है।

‘ये अश्रु राम के आते ही मन में विचार,
 उद्वेत हो उठा शक्ति-खेल सागर अपार,
 हो श्वसित पवन-उनचास पिता-पक्ष से तुमुल
 एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल
 शत धूर्णावर्त, तरंग भंग उठते पहाड़,
 जल, राशि-राशि जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
 तोड़ता बंध प्रतिसंध धरा, हो स्फीत वक्ष
 दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष

शत वयु वेग बल, डुबा, अतल में देशभाव,
जलराशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्रांग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास।’

रावण के अट्टहास का उत्तर राम की ओर से दिया गया। राक्षसपति के इष्टदेव भी इस शक्ति के सम्मुख सिहर उठे। राम के प्रबल राम की अर्चना सिद्ध हुई, और हनुमान की सभी क्रियाएँ बैठे-बैठे होती हैं। बाह्य और आंतरिक संसार का भेद हम भूल जाते हैं। शक्ति-सागर एक हनुमान के भीतर उद्वेलित होता है, दूसरा सागर लंका के चारों ओर का है, जिसे वायु के थपेड़ों ने विचलित कर दिया है। जल और वायु, प्रकृति के आदि तत्त्वों के संघर्ष के भीतर से हम हनुमान की शक्ति को आकाश की ओर बढ़ते देखते हैं। क्या हनुमान ने पहले सीता से कहा था कि वह उन्हें अकेले राम के पास ले जाने में समर्थ हैं? आज वह रावण की विजय में फिर समर्थ दिखाई देते हैं, रावण की ही नहीं, रावण के इष्टदेव शंकर की भी। हनुमान के इस वेग का समकक्षी वर्णन अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। आधुनिक हिन्दी कविता के अत्यन्त ओजपूर्ण स्थलों में से यह एक है। इससे ओज में कम, परन्तु अधिक सुचारू रूप से निबाहा हुआ कवि की अन्य कृति ‘तुलसीदास’ का अन्तिम भाग है। तुलसीदास की मुक्ति के साथ कवि तत्कालीन और पुरातन भारत की भी मुक्ति की ओर इंगित करता है। यहाँ हनुमान की शक्ति, इस क्रियाशीलता के बाद, उन्हीं में फिर निहित हो जाती है। कपि को समस्त आकाश ग्रसता देखकर शिव क्षण भर को विचलित हो उठते हैं। रावण-महिमा की गहन रात्रि इस राम-अर्चना के तेज के सामने फटने लगती है। देवी से प्रार्थना करके उसे अंजना-रूप में कपि के पास भेजकर वे कपि को शान्त करते हैं।

इसके बाद विभीषण की वक्तृता है। अपने सामन्तों से घिरे राम बरबस मिल्टन के शैतान की याद दिलाते हैं; यहाँ के तर्क-वितर्क भी कुछ-कुछ Paradise Lost की दूसरी पुस्तक के वाद-विवाद से मिलते-जुलते हैं।

विभीषण को कवि ने वाल्मीकि के अनुरूप अधिक, तुलसीदास से कम चित्रित किया है। ‘रावणों लोकरावण’ से मेल खाते पद यहाँ भी आते हैं—

‘रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष गताचार....।’

वाल्मीकि रामायण में विभीषण की राम-भक्ति के भीतर हम उसकी राज्य-लोलुपता देखते हैं, वही निर्बलता यहाँ भी अंकित की गयी है। विभीषण के पास राम को उत्साहित करने के लिए इससे बढ़िया दूसरी तरकीब नहीं कि वह उन्हें सीता के दुःख की याद दिलाए और उन पर व्यंग्य करें।

‘मैं बना किन्तु लंकापति, धिक राघव, धिक् धिक्।’

इस एक पंक्ति के व्यंग्य द्वारा कवि विभीषण की सारी निर्बलता स्पष्ट कर देता है।

राम पर इन ओज भरे शब्दों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उनकी विरक्ति बहुत ही गहरी है; वे शब्द सुनते हैं, पर उनके अर्थ तक पहुँचने की चेष्टा नहीं करते। कवि ने राम की निराशा का सुन्दर चित्रण किया है।

‘बोले रघुमणि-मित्रवर, विजय होगी न समर,
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरी पा महाशक्ति रावण से आमंत्रण;

अन्याय जिधर हैं उधर शक्ति।' कहते छल-छल

हो गए नयन, कुछ बूँद पुनः ढलके दृग जल;

राम की निराशा फिर हमें बाल्मीकि का स्मरण कराती है, अत्यन्त मानवीय और नाटकीय चरित्र-विकास की कसौटी पर निखरी हुई। तुलसीदास में राम जहाँ निराश होते हैं, वहाँ भी जैसे स्वतः नहीं, प्रकट, केवल दर्शकों के लिए; और कवि-सूत्रधार तुलसीदास उसका अर्थ समझाते चलते हैं। पहली बार उनके आँसू गिरने पर हनुमान का पौरुष जागा था; इस बार लक्ष्मण की बारी है। थोड़े से शब्दों में—'चमका लक्ष्मण तेजः प्रजंड'—कवि लक्ष्मण के चरित्र की झाँकी हमें दिखा देता है। चरित्र-चित्रण की पटुता यहीं दर्शनीय है। यह लक्ष्मण हमारे कितने परिचित जान पड़ते हैं। और भक्त हनुमान—

'धँस गया धरा में कपि गह युग पद मसकदण्ड'

जाम्बवान सब बातें समझते हुए स्थिर हैं; सुग्रीव घाव-सा खाए अत्यन्त व्याकुल हैं और विभीषण मन-ही-मन सोचते हैं कि आगे अब और कौन-सा पासा फेंका जाय। इस प्रकार—

'मौन में रहा सुस्पंदित वातावरण विषम।'

एक ही पुरुष की बात का अनेक पर जो भिन्न प्रभाव पड़ता है, कवि ने थोड़े में, उनकी चारित्रिक विशेषताओं को झलकाते हुए दिखा दिया है। कवि जहाँ चित्र-सौन्दर्य में समुद्र के तूफान और हवा के झकोरों को एक में मिलाकर प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित कर देता है, वहीं वह छोटे-छोटे मनोवैज्ञानिक तथ्यों की ओर इंगित करने में भी नहीं चूकता। वह प्रकृति और मनुष्य के मन में होने वाले संघर्ष को, क्या छोटे, क्या बड़े परिमाण में समान सफलता के साथ चित्रित कर सकता है। इस उबा देने वाली शान्ति का वर्णन पढ़कर हम क्षण भर को भूल जाते हैं कि अभी जल और वायु अपनी असंयमित क्रीड़ाओं में लगे हुए थे।

आगे राम युद्ध का वर्णन करते हैं। एक बार कवि यह दिखा चुका है कि राम के बाण देवी ने अपनी ऊपर सहते हुए रावण की रक्षा की थी। यह उसी का और सविस्तार वर्णन है। शक्ति की इस कल्पना में ओज है, साथ ही राम की पराजय में एक बहुत ही मार्मिक वेदना। कविता भर में मुझे यह सबसे दोषहीन पैराग्राफ लगा, इसलिए इसे पूरा उद्धृत करता हूँ। कवि अपनी पूर्ण प्रौढ़ता में यहाँ दिखाई देता है; भाषा और भाव पर अद्भुत आधिपत्य है।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले—'आया न समझ में यह दैवी विधान;
रावण, अधर्मरत भी, अपना, मैं हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर, शंकर!
करता मैं योजित बार-बार शर निकर निशित
हो सकती जिनसे यह संसृति संपूर्ण विजित,
जो तेजःपुंज सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-युद्ध बोध सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्र-धर्म का घृत पूर्णाभिषेक
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित

वे शर हो गए आज रण में श्रीहत खण्डित।
 देखा है महाशक्ति रावण को लिए अंक,
 लांछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक;
 हत मन्त्रपूत शर संवृत करती बार-बार,
 निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पत वार!
 विचलित लख कपिदल क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों
 झक-झक झलकती वहिन वामा के दृग त्यों-त्यों
 पश्चात्, देखने लगीं मुझे, बँध गए हस्त,
 फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं, हुआ त्रस्त!

संग्राम के पूर्व राम ने भी शंकर की उपासना की थी, परन्तु उन्होंने राम का साथ न देकर रावण का ही साथ दिया। शक्ति की उपासना अभी राम द्वारा पूर्ण रूप से नहीं सधी। बार-बार बाण बरसाने पर भी वे श्रीहत खण्डित हो जाते हैं। और इन बाणों में पतन-घातक संस्कृति है; राम विध्वंस के साथ पालन करना भी जानते हैं। बाणों का मंत्र पढ़कर चलाया जाना पुराण-प्रसिद्ध है, परन्तु उनके भीतर विनाश और निर्माण देखना मौलिक और आधुनिक है। ऐसे ही स्थल इस कविता को पुरानी कथाओं के अनुवर्तन मात्र से भिन्न, एक मौलिक कृति के रूप में हमारे सामने रखते हैं। महाशक्ति का रावण को अंक में लेना जैसे चन्द्रमा अपने अंक में कलंक धारण करता है, दोनों के वैचित्र्य से एक अपूर्व चित्र तैयार करता है।

जाम्बवान सब बातें समझते हुए अभी तक चुप थे, अपना मौका देखकर अब राम को शक्ति की नए रूप से पूजा करने की मंत्रणा देते हैं। अनुभवी सेनानी की भाँति वे राम की अनुपस्थिति में आगे का कार्यक्रम निश्चित करते हैं और राम को साधना के लिए छुट्टी देते हैं। राम जाम्बवान की बात मान लेते हैं और प्रकृति में देवी की कल्पना करके पुलकित होते, उसका मर्म दूसरों को भी समझाते हैं। हनुमान इसके बाद पूजा के फूल लाने चल देते हैं।

भोर होते ही राम आसन पर बैठ जाते हैं; दूर पर युद्ध का कोलाहल सुनाई पड़ता है, परन्तु वे चुपचाप अपने ध्यान में लीन बैठे रहते हैं। एक दिन पूजा में बीत जाता है और उनकी साधना गहन होती जाती है। पाँच दिन बीतते हैं और किसी योगी की भाँति उनका मन एक चक्र से दूसरे चक्र पर चढ़ने लगता है।

चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
 प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण।

छह दिन पार होने पर अन्तिम चक्र रह जाता है और राम के पास कमल भी एक रह जाता है। दुर्गा इसी समय आधी रात को छिपकर वह कमल चुरा ले जाती हैं। कमल न मिलने पर अपनी स्वाभाविक निराशा से वह विकल हो उठते हैं।

धिक् जीवन में जो पाता ही आया हो विरोध,
 धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध!
 जानकी हाय! उद्धार प्रिया का हो न सका!

लेकिन राम फिर संभलते हैं और सोचते हैं—

कहती थी माता मुझे सदा राजीवनयन
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर, मातः एक नयन।

इस विपत्ति के समय माता का स्मरण होना और फिर नयन-राजीव से देवी की अर्चना के लिए सन्नद्ध होना—यहाँ राम की बालसुलभ सरलता और साहस अत्यन्त करुण हैं। अनेक पौराणिक कथाओं में जैसे भगवान् ठीक मौके पर आकर भक्त को मरने से बचा लेते हैं, वैसे ही यहाँ देवी राम को यह अन्तिम कमल समर्पित करने से रोक लेती हैं—

साधु-साधु साधक धीर, धर्म-धन-धन्य राम!
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देवी अपने पूर्ण रूप में प्रकट होती है और राम के मुख में लीन हो जाती हैं—
होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन!

इस प्रकार संशय से आरंभ करके निराशा के बीच होते हुए, विजय की पूर्ण आशा में इस कविता की समाप्ति होती है।

‘राम की शक्ति-पूजा’ और ‘तुलसीदास’ निश्चय ही निराला जी की आज तक की कृतियों में महत्तम है। एक तरह से वे बिलकुल नई हैं, जिनकी तुलना उनके गीतों और मुक्तकों से करनी भी न चाहिए, परन्तु इन्हें पढ़ते हुए हमें अनुभव होता है कि कवि की प्रतिभा अपने पूर्ण विकास के लिए गीतों और मुक्तकों से अधिक परिमाण चाहती है। भावों की गुत्थियाँ उलझाता सुलझाया हुआ, वह बड़ी-बड़ी इमारतें तैयार कर सकता है। जिस तरह के भाव हमें इन दो कविताओं में मिलते हैं, उस तरह के भावों के लिए हम व्यर्थ ही उनकी पहली कविताओं में खोज कर सकते हैं। एक नई बात चरित्र-चित्रण की है, जिसकी झलक मात्र ‘पंचवटी-प्रसंग’ में मिलती है। उसके साथ इन दो में से किसी की भी तुलना करने पर कवि की प्रौढ़ता समझ में आ जाती है। रहस्यवाद में जो कुछ भी अत्यन्त ओजपूर्ण है, वह इन कविताओं में समाहित है। युद्ध की आकांक्षा, संघर्ष से प्रेम, विजय का उल्लास, ये ही इन कविताओं की मौलिकता है। रहस्यवाद और निराशा का समन्वय यहाँ आँधी के आगे रुई की तरह उड़ जाता है। यहाँ की मानसिक क्रियाएँ बड़ी ही गतिशील और वेगवान होती हैं, परन्तु उस सतह पर, जो मनुष्य के विकास में सबसे ऊपर की होती है। और फिर भी ये कविताएँ साहित्य में नई, कवि के लिए भी नई हैं। अब भी अधिक विकास की गुंजाइश है। ‘यहाँ तक ही, इसके आगे नहीं’—इनकी पूर्णता के लिए नहीं कहा जा सकता जैसे कवि की कुछ अन्य छोटे परिमाण वाली कृतियों के विषय में कहा जा सकता है। इसी राम की शक्ति पूजा में Bathos का एक उत्कृष्ट उदाहरण मिल सकता है—

फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—

इनसे अधिक नीरस और हल्की पंक्तियों की एक सुन्दर कविता में कल्पना करना मेरे लिए दुष्कर है। परन्तु वे क्षम्य हैं, इसलिए कि वे कविताएँ निराला की हैं। क्या शेक्सपियर के साधारण पात्र कभी-कभी हास्यास्पद अलंकारिकता के साथ नहीं बोलते? अनुभव की हमें यहाँ एक नई भूमि मिलती है, भाषा और

भावों का गठन और ओज अधिकांश स्थलों पर अनुपम है और हमारे लिए यह काफी है। शब्दों के प्रास देते हुए कवि ने जो अपनी पंक्तियों की गति में भंग दिए हैं, वे पढ़ने में बड़े सुखद लगते हैं—

वारित-सौमित्रि-भल्लपति-अगणित मल्लरोध,
बिंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल—

आदि पंक्तियों में शब्दों के आवर्त दर्शनीय हैं और उनके पाठसुख को बढ़ाते हैं। तुलसीदास के आवर्त मधुर होते हैं और कला की सूक्ष्मता प्रदर्शित करते हैं। निरालाजी के ध्वनि-आवर्त अधिक ओजपूर्ण और स्वर-सौन्दर्य के लिये होते हैं। परन्तु पंक्ति में इस प्रकार का भंग आवर्तों द्वारा ही नहीं, और सूक्ष्म रूप से, स्वर और व्यंजनों की सजावट से भी किया जाता है—

हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त;
वे आए याद दिव्य शर अगणित-मंत्र पूत;
लांछन को ले जैसे शशांक नभ में अशंक—

आदि पंक्तियों में स्वर का उत्थान स्वर-व्यंजनों की कुशल मैत्री पर निर्भर है। पर छंद-सौंदर्य की बहुत तरकीबें हैं; उनका परिगणन संभव नहीं। पंक्तियाँ जैसे—

झकझक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यो-त्यो

अत्यन्त प्रभावपूर्ण है, किन्तु उनके स्वर-विस्तार की व्याख्या करना उतना ही कठिन है, शायद व्यर्थ भी। कवि अपनी कला को भूल जाता है, शब्द भावावेश में आप निकलते हैं, तर्क उनकी पहले सिद्धि नहीं करता। जहाँ उदात्त स्वर की ऐसी प्रधानता है, वहाँ निम्न पदों पर की गई स्वरों की मैत्री भी हृदय पर अपनी छाप छोड़े बिना नहीं रहती।

कहती थीं माता मुझे सदा राजीवनयन!

आदि पंक्तियाँ अपनी कोमलता में यथास्थान बीच-बीच में अलग ही सजी हुई हैं। क्या भाव, क्या छंद, दोनों के उत्थान-पतन और मैत्री अद्भुत हैं। चरित्र-चित्रण की लघुता और साथ ही कथा का सुगठन इस कविता के लिए हिन्दी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में से होने का दावा करते हैं।

(ख) राम की शक्ति-पूजा

—दूधनाथ सिंह

‘राम की शक्ति-पूजा’ की बहुत प्रशंसा हुई है। उसके शब्द-कौशल की, उसकी ओजस्विता की, उसके प्रगाढ़, संश्लिष्ट शिल्प और कथन संक्षिप्तता की। अध्यापकों और विश्वविद्यालयीय आलोचकों ने उसे ‘वीर-रस’ की राम के चरित्र-चित्रण, उनकी वीरता गंभीरता की बड़ी-बड़ी तारीफें की हैं। विद्यार्थी और उनके ग्रह उसकी सामासिकता में ओजगुण की सराहना करते हुए अलंकारों की खोज में सिर मारते बार-बार चमत्कृत होते हैं। विद्यार्थियों पर बड़ी आसानी से उसकी भाषा का खौफ हावी हो जाता है।

यदि ‘राम की शक्ति-पूजा’ एक परंपारित रचना है तो वह सिर्फ पिष्ट-पेषण होगी। निराला की किसी भी रचना को अनुगामीपन का उदाहरण सिद्ध करना (चाहे वह कितने ही परोक्ष ढंग से क्यों न हो) निराला की संपूर्ण रचनात्मकता का अपमान करना है। फिर भी निराला ने इस तरह के आलोचकों को क्यों नहीं दौड़ाया? इसके पीछे दो कारण हो सकते हैं। एक तो लगातार विरोध। ऐसी स्थिति में परंपरित ढंग से ही सही, जो भी व्याख्या उनके पक्ष में, उनकी प्रशंसा में होती थी, निराला के आहत मन और क्षत-विक्षत अहं को थोड़ी राहत मिलती थी। निराला यों भी अत्यंत भावुक मन, असंतुलित प्रकृति के व्यक्ति थे। दूसरे, यह भी हो सकता है कि इस तरह की परंपरित व्याख्या से निराला को सुख मिलता हो। ‘मेरे गीत और कला’ में जहाँ उन्होंने ‘जुही की कली’ या ‘सखि वसंत आया’ के एक छंद का अर्थ किया है, उसकी भाषा और उसका टोन निहायत पारंपरिक ढंग का है। शायद ‘राम की शक्ति पूजा’ को लेकर प्रबंध निर्वाह की पारंपरिक सफलता के उद्घोषणा की जाती होगी तो निराला के आहत अहं को यह भी तुष्टि मिलती होगी कि उन्हें व्यास, वाल्मीकि और तुलसीदास की कतार में रखा जा रहा है।

मुझे तो कभी-कभी यह भी लगता है कि ‘राम की शक्ति-पूजा’ में जिस शब्द-बंध का उपयोग और सृजन उन्होंने किया है, वह विषय-वस्तु और उसकी रचना के अनुकूल और उसके लिए आवश्यक ही क्यों न हो, उसमें थोड़ा-सा अंश अपनी प्रतिभा और कल्पना-ऊर्जा का जौहर दिखाने के लिए भी है। अपने विरोधियों के सामने यह प्रदर्शित करने के लिए कि जो निराला मुक्त छन्द के आविर्भाव और प्रयोग द्वारा हिन्दी कविता में क्रान्ति ला सकता है, और ‘रबड़ छन्द’ का रचयिता कहकर जिसकी तुम खिल्ली उड़ाते हो वह, वह सब कुछ भी कह सकता है, जो तुम्हारी नजर में ऊँची कविता है, महान रचना है। और उसे भी वह तुमसे बेहतर ढंग से कर सकता है।

अगर ये बातें सच नहीं हैं और निराला ने सचमुच इसे उसके प्रथम विवरणात्मक अर्थ में ही रचा है तो वह कविता कोई खास ऊँची कविता नहीं है। तब तो उसमें बस इतना ही है कि रावण से युद्ध करते हुए लगातार अपने मजबूत अस्त्रों को असफल होते देख, राम खिन्न हो जाते हैं। उन्हें पराजय की शंका घेर लेती है। उनकी सारी सेना और सैनिक अधिकारी उनके इर्द-गिर्द उनकी खिन्नता में हिस्सा लेते हुए स्तब्ध बैठे हैं। राम को सीता से प्रथम मिलन की बात याद आती है। वे फिर विजय की आकांक्षा से उद्वेलित होते हैं, लेकिन यह जान कर कि शक्तिमती दुर्गा रावण के साथ है, उनकी आँखों से दो बूँद आँसू टपक पड़ते हैं। उन आँसुओं को लक्ष्य करके स्वामिभक्त इन्द्रमान अत्यन्त उत्तेजित होकर आकाश में चढ़ जाते हैं और सूर्य को निगलने के लिए तत्पर होते हैं। अन्ततः अपनी माँ की डाँट खा कर वे नीचे उतर आते हैं और

फिर वैसे ही राम के चरणों में बैठ जाते हैं। फिर जामवन्त की सलाह पर राम शक्ति की आराधना में लगते हैं और लड़ाई उनकी सेनाएँ तब तक लड़ती है। अन्तिम दिन दुर्गा उनकी परीक्षा लेने के लिए पूजा का अन्तिम कमल उठा ले जाती हैं। राम उसे न पाकर पहले तो खिन्न होते हैं, फिर अपनी माँ द्वारा दिया गया नाम 'राजीव नयन' उन्हें याद आता है। वे अपना एक नेत्र पूजा में चढ़ाकर आराधना पूरी करना चाहते हैं। पुरानी कहानियों की तरह जब राम अपनी आँख निकालने के लिए लकलक करता तीर हाथ में लेते हैं तो उनकी परीक्षा पूरी होती है। स्वयं दुर्गा उनका हाथ पकड़ लेती है और उन्हें विजय का वरदान देकर उनके वदन में समा जाती हैं।

इस कथा का अगर इससे इतर कोई अर्थ नहीं है तो इसका प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित हो जायेगा। इस पर वही यकीन करेंगे, जो रोहिताश्व के जिन्दा होने या राजा बलि के पाताल लोक में धँसने की घटनाओं को अक्षरशः सही मानते हैं। यह कौन-सी 'पब्लिक' होगी, इसका अन्दाजा आसानी से लगाया जा सकता है। अगर ऐसी 'पब्लिक' के लिए उन्होंने इतनी ओजस्वी भाषा में यह कथा कही (रची नहीं), तब तो राम का यह चरित्र तुलसीदास के राम से भी पीछे जाता है, जहाँ किसी भी बड़े युद्ध के पीछे मुख्य कारण स्त्री ही होती थी—चाहे वह सीता हो, द्रोपदी या हेलेन। क्योंकि तुलसीदास के राम तो जानते ही हैं कि यह सब होगा। ऐन मौके पर कैकेयी की मति फिर जायेगी। दशरथ की मृत्यु होगी; उन्हें वन जाना पड़ेगा, उन्हें 'हेम-मृग' के पीछे सीता भेजेंगी और फिर उनका हरण होगा। वह सब जानते हुए भी मनुष्य की तरह आचरण करते हैं, लीलाएँ करते हैं, जिससे लोक-मर्यादा भंग न हो, जिससे मानवीय संबंधों का लोकादर्श बना रहे। इसीलिए रावण के विनाश में वे सीता के कारण उन्मुख नहीं होते। यह तो सिर्फ लीला है, जो जन-साधारण के मस्तिष्क में राम के निर्णयों और पूर्व-निश्चित कार्यक्रमों को स्वाभाविक बनाती हैं। क्योंकि राम उसी ढंग से उसी स्वभाव-जन्य, वास्तविक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में अपना 'मिशन' पूरा करते हैं, जिससे वह चमत्कार न लगे, जिससे वह एक वीर का मर्यादा-युक्त नैतिक कर्म ही दिखे। इसलिए वे बाल-क्रीड़ाएँ भी करते हैं; विश्वामित्र के आदेशों का चुपचाप पालन भी करते हैं; इसीलिए वे सेनाएँ भी इकट्ठी करते हैं; जटायु का पितृवत् श्राद्ध भी करते हैं; इसीलिए वे लक्ष्मण से सीता के विरह की भी बात करते हैं और शक्ति लगने पर उनके लिए घोर विलाप भी करते हैं। नहीं तो वे कुछ भी कर सकते थे। वे सर्व-अन्तर्यामी, घट-घट-वासी, शरणदाता प्रभु हैं। गोस्वामी जी बार-बार इसकी याद दिलाते रहते हैं। फिर भी राम से उन्होंने कुछ भी वैसा नहीं करवाया, जो ईसा के चरित्र की तरह चमत्कारपूर्ण हो। राम सब कुछ इस ढंग से करते हैं कि लोक में साधारण जन भी वैसा कर सकें। उनका किया हुआ कार्य अद्वितीय होते हुए भी, असंभव और जादुई या रहस्यमय न लगे।

यही तुलसी के राम की अद्वितीयता और महानता है। सब कुछ जानते हुए, पूर्व-निश्चित होते हुए भी वे उसे क्रियात्मक स्तर पर साधारण जन की शैली में ही करते हैं। लेकिन चूँकि वे सब कुछ जानते भी हैं, इसलिए उनके मन में शंका नहीं है। एक तटस्थ और सुख-दुःख रहित निर्णय है। इसीलिए वे सीता के लिए रावण के विनाश में तत्पर नहीं होते (गो कि लोक-भूमि पर उनका कर्म ऐसा ही लगता है), बल्कि रावण का विनाश तो पूर्व-नियोजित है और सीता तो मात्र निमित्त बनती हैं। राम इसे भी जानते हैं। निराला के राम इन अर्थों में वाल्मीकि के राम के अधिक निकट लगते हैं, क्योंकि रावण के विनाश की मुख्य प्रेरणा इन दोनों जगहों पर सीता ही हैं। 'रामचरित मानस' में सीता तो मात्र निमित्त हैं, राम का अवतार ही 'विनाशाय च दुष्कृताम्' हुआ है। इस अर्थ में 'राम की शक्ति-पूजा' में अगर सिर्फ प्रत्यक्ष अर्थ ही रचयिता

का उद्देश्य है तो फिर उत्तराखण्ड की राम-कथा में निराला सिर्फ इतना ही जोड़ते हैं कि राम ने शक्ति की भी आराधना की, जैसे कि तुलसी के राम ने कहा कि 'सिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहुँ मोहि न भावा...।' बंगाल में तो कृत्तिवास में माँ दुर्गा की प्रतिष्ठा को उनकी पूजा राम से करा कर और मजबूत किया।

इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि 'राम की शक्ति-पूजा' में निराला ने कोई दूसरा आधुनिक, निजी या सामाजिक अर्थ प्रतिष्ठित नहीं किया तो यह कविता मात्र कथा का पिष्ट-पेषण है।

लेकिन ऐसा है नहीं। इस सारे तर्क-वितर्क का उद्देश्य यही बताना है कि 'राम की शक्ति-पूजा' में प्रत्यक्ष अर्थ या मात्र इतिवृत्त-कथन निराला का अभिप्रेत नहीं है—कहीं से भी नहीं है। यही नहीं, परंपरा का सफल निर्वाह भी निराला का उद्देश्य पूर्णतया नहीं मालूम पड़ता।

कहीं-कहीं इस कविता में राम के माध्यम से निराला की राष्ट्रीय गुलामी से मुक्ति की चिंता झलक मारती है। यद्यपि इस अर्थ को पूरी कविता में बहुत सावधानी से पिरोया नहीं गया है। एक स्थूल ढंग से राम की विजय और सीता की मुक्ति की चिन्ता को हम राष्ट्र-मुक्ति और मर्यादा की रक्षा के लिए युद्ध में नियोजित होने के नैतिक पक्ष को कविता में से खींच सकते हैं। यह राष्ट्रीय मुक्ति किसी महान वीर पुरुष के हाथों ही संभव है, जो मुक्ति की बलि-वेदी पर अपना सब कुछ समर्पित कर देने के लिए तैयार हों। निराला इसके लिए शक्ति की आराधना का पक्ष लेते हैं।

ध्यान देने योग्य है कि यह सुझाव जन-साधारण के माध्यम से राम तक नहीं पहुँचता, बल्कि उनके वरिष्ठ मंत्री और सैनिक अधिकारी जामवन्त इसकी सलाह देते हैं। इस संपूर्ण युद्ध की तैयारी के पीछे राम की ओर से एक नैतिक उत्तरदायित्व भी है, लेकिन 'शक्ति की आराधना' यह वाक्य-खण्ड ही सैनिक पक्ष को सतत दृढ़ किये जाने का संकेत करता है। इसका यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रीय मुक्ति के लिए निराला गाँधीवादी सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करते। मनुष्य मात्र में हृदय होता है और किसी भी समय चरित्र-परिवर्तन हो सकता है, इसमें निराला का विश्वास नहीं है। यहाँ 'शक्ति की मौलिक परिकल्पना' का प्रश्न उठाया गया है। गाँधीवादी सिद्धान्तों में निराला का यह अविश्वास और भी दूसरी कई कविताओं में प्रकारान्तर से प्रकट हुआ है। 'महँगू महँगा रहा' कविता में गाँधी जी के पट्ट-शिष्य और उत्तराधिकारी, श्री जवाहरलाल नेहरू और उनके लगुओं-भगुओं पर महँगू विश्वास नहीं करता। उसे मालूम है कि और भी दूसरे लोग हैं, जो प्रकाश में नहीं हैं। पूँजीपतियों के अखबार उनके बारे में खबरें नहीं छापते। लेकिन वे फिर भी समय पर प्रकट होंगे और इस धरती को मुक्त करेंगे—

एक उड़ी खबर सुनी है/ हमारे अपने है यहाँ बहुत छिपे हुए लोग/ मगर चूँकि अभी
ढीला-पोली है देश में/अखबार व्यापरियों की ही सम्पत्ति है/राजनीति कड़ी से भी कड़ी
चल रही है/ वे सब जन मौन है इन्हें देखते हुए/ जब ये कुछ उठेंगे/और बड़े त्याग के
निमित्त कमर बाँधेंगे/ आयेंगे वे जन भी देश के धरातल पर

वे जन कौन हैं, जो अभी भूमिगत हैं? निश्चय ही वे गाँधी जी के चेले-चपाटे तो नहीं हो सकते। वे कोई और लोग, जो 'शत्रु को समर जीते पछाड़ने' में यकीन रखते होंगे। 'शक्ति की आराधना' की धारणा ही गाँधीवादी सिद्धान्तों के विरुद्ध है। शक्ति की मौलिक परिकल्पना की बात भी अहिंसा की शक्ति की परिकल्पना नहीं है—बल्कि कुछ ऐसी व्यूह-रचना, जो शत्रु को इस तरह मात दे सके। जिसकी उसे

कल्पना भी न हो। यह अपराजेय शक्ति को निःशंक अपनाने और धारण करने का संकेत है। राष्ट्रीय मुक्ति की समस्या वाले इस नये अर्थ-प्रकाश का उद्भास पहली बार इन पंक्तियों में लगता है—

स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय
रह-रह उठता जग-जीवन में रावण-जय-भय।

इसमें संशय सीता की मुक्ति के लिए उतना नहीं व्यक्त है, जितना संपूर्ण राष्ट्र में रावण की विजय से उत्पन्न होने वाले दुर्दमनीय अत्याचारों की चिंता व्यक्त है। पूरी कविता में प्रतीकार्थ बहुत सचेत और सधन ढंग से नियोजित नहीं है। उसमें शब्द-बन्ध की उठान आड़े आती है और इस प्रतीकार्थ को जगह-जगह बाधित करती है। जैसे हनुमान का प्रसंग ठीक ढंग से प्रतीकार्थ में जुड़ता नहीं लगता। वह उत्तेजित बल-प्रदर्शन का उदाहरण अधिक लगता है। कुछ-कुछ परम्परित पाठक को चमत्कृत करने वाला। उनके प्रदर्शन से विजय की संभावना कम और प्रलय की संभावना अधिक बढ़ जाती है। इसीलिए उन्हें रोका जाता है। क्योंकि राम सिर्फ मर्यादित विजय चाहते हैं—मुक्ति चाहते हैं, सर्वग्रासी विनाश नहीं। इसीलिए शायद इतने बड़े योद्धा के रहते हुए भी इस उच्छृंखल विनाश की जगह निराला को 'शक्ति की मौलिक कल्पना' की बात करनी पड़ी।

निराला को राम की विजय में पूरी आस्था है। वे 'नवीन पुरुषोत्तम' हैं। इसी को नरेश मेहता ने 'प्रज्ञा पुरुष' कहा है। वे 'शक्ति की मौलिक कल्पना' कर सकते हैं। बावजूद अपने सारे संशय, खिन्नता और उदासी के, वे अपनी अन्तिम विजय में आस्था कभी नहीं खोते। इस तरह 'भारती प्रार्थना' में जिस 'भारती, जय, विजय करें' की आकांक्षा उन्होंने प्रकट की थी, वह यहाँ आकर पूरी होती है—

'होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन।'
कह महाशक्ति राम के बदन में हुई लीन।

कथा के इस नये अर्थ के विकास में राम के 'संशय' का बहुत महत्व है। यह संशय ही उन्हें एक नये चरित्र के रूप में प्रतिष्ठित करता है। तुलसी के राम के मन में कहीं कोई संशय नहीं है। उनका विरह, विलाप और उनकी विजय की चिन्ता-सभी मात्र लीलाएँ हैं। वे मनुष्य-पुत्र के रूप में इस धरती पर अवतार लेते हैं, जिससे उनकी क्रियाएँ लोक-आस्था को फिर से प्रतिष्ठित करें और वह भी बिलकुल साधारण जन की शैली में। अवतार की आवश्यकता और महत्व इसी में निहित है। तुलसी इसीलिए राम के सारे कार्यों को जन-साधारण की शैली में सम्पन्न करते हैं, जिससे साधारण जन का आत्म-बल कायम रहे और वह यह विश्वास पा सके कि इस रूप में दुष्टों का विनाश वह भी कर सकता है—

राम कथा सुन्दर करतारी। संशय-विहग उड़ावनि हारी।

तुलसीदास के राम में संशय तो क्या होता, उनकी कथा का ज्ञान भी संशय को नष्ट करने वाला है; आत्म-बल, विश्वास और जन-आस्था को लौटाने और प्रतिष्ठित करने वाला है। संशय-रहितता की इस भूमि से ही निराला राम को 'संशय' की मनःस्थिति में पहली बार उपस्थित करते हैं। उनके चरित्र का यह संशय ही उन्हें नयी मानवीय भूमि पर लाता है। वह संशय लीला मात्र-नहीं, राम के संपूर्ण व्यक्तित्व का एक अंग है। इसी संशय के द्वारा वे जन-साधारण के लीलामय भगवान बनकर एक नवीन पुरुषोत्तम की भूमिका ग्रहण करते हैं और मनुष्य मात्र की तरह राष्ट्रीय मुक्ति की चिन्ता में समर्पित होते हैं। अतः उनको मनुष्य की भूमि पर उतारने वाला नया तत्त्व यह 'संशय' ही है। संशय मात्र को दूर भगाने वाले राम के चरित्र में व्यक्तिगत रूप से संशय का प्रवेश, तुलसी की राम कथा को तोड़कर उसमें एक नया

सामाजिक-ऐतिहासिक और समसामयिक अर्थ प्रतिष्ठित करता है। लेकिन यह संशय 'वैयक्तिक अन्धता' अथवा 'ऋत शोधन' के फेर में नहीं पड़ता, जैसा नरेश मेहता की लंबी कविता 'संशय की एक रात' में राम का 'संशय' है। 'राम की शक्ति-पूजा' में संशय ऐन लड़ाई के मैदान में पराजय की आशंका का प्रतिफल है, लेकिन 'संशय की एक रात' में राम के मन में संपूर्ण युद्ध की उपयोगिता को लेकर ही संशय उत्पन्न होता है। नरेश की कविता में संशय सेतु-बंध के अवसर पर ही नियोजित किया गया है। निराला द्वारा नियोजित नया अर्थ राष्ट्रीय मुक्ति का समस्या को लेकर है, जो स्वतंत्रता-पूर्व भारत में किसी भी कवि या रचनाकार के लिए सबसे बड़ी समस्या थी। इसके विपरीत 'संशय की एक रात' आजादी के बाद की रचना है। उसमें राम के मन का संशय राष्ट्रीय मुक्ति का न होकर युद्ध और शान्ति के व्यापक मानवीय प्रश्नों को लेकर उत्पन्न हुआ है। वे रावण से अपनी पराजय की चिन्ता को लेकर शक्ति नहीं हैं। वे भयंकर अनिर्णय के शिकार हैं। वे सीता-हरण को भी अपनी व्यक्तिगत समस्या समझते हैं और उसके लिए संपूर्ण राष्ट्र और जन-साधारण को युद्ध की आग में झोंक देना उचित नहीं समझते।

इस नज़रिये से 'संशय की एक रात' में राम घोर व्यक्तिवादी और नितांत साधारण मानव लगते हैं। सिर्फ उनकी नैतिक दृष्टि पकी हुई और साफ है, लेकिन इसके अनुकूल भी वे आचरण नहीं कर पाते। वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों के लिए जन-विनाश का निमित्त नहीं बनना चाहते। यहाँ तक कि 'मानव-रक्त पर पग धर आती सीता' की प्राप्ति भी वे नहीं चाहते। क्योंकि वे जानते हैं कि चाहे जिस सिद्धान्त या नैतिक अवधारणा की उद्घोषणा क्यों न की जाय, सारे युद्धों के पीछे कुछ लोगों या किसी एक व्यक्ति की सत्ता-अन्धता का स्वार्थ छिपा रहता है। राम युद्ध के इस सत्य को जानते हैं। इसलिए वे युद्ध से प्राप्त कोई साम्राज्य, कोई भी ऐश्वर्य नहीं चाहते। व्यक्तिगतता की, सार्वजनिकता के लिए यह निराकृति ही, युद्ध की गहरी अन्दरूनी वास्तविकता की पहचान ही उन्हें एक 'प्रज्ञा पुरुष' बनाती है।

दरअसल मुझे बराबर लगता है कि निराला ने राम के संशय, उनकी खिन्नता, उनके संघर्ष और अंततः उनके द्वारा शक्ति की मौलिक कल्पना और साधना तथा अंतिम विजय में अपने ही रचनात्मक जीवन और व्यक्तिगतता के संशय, अपनी रचनाओं के निरंतर विरोध से उत्पन्न आंतरिक खिन्नता, फिर अपने संघर्ष, अपनी प्रतिभा को अभ्यर्थी, अध्ययन और कल्पना-ऊर्जा से एक नयी शक्ति के रूप में उपलब्ध और प्रदर्शित करके अंततः रचनात्मकता की विजय का घोष ही इस कविता में व्यक्त किया है। वही स्वयं 'पुरुषोत्तम नवीन' है। नये काव्य, नयी रचनात्मकता के सर्वप्रथम और श्रेष्ठतम उद्भावक वही हैं। जो शेष हैं, उनमें से बहुत से छद्म हैं और अपने छद्म को ही रावण की तरह वे शक्ति या प्रतिभा-प्रदर्शन के रूप में प्रयुक्त कर रहे हैं। वे निराला की पुरुषोत्तमता, उनकी एकांत नवीन मौलिकता को 'उद्धत-बल-विस्त' और सामयिक 'महोल्लास' से बेध कर पराभूत कर देना चाहते हैं। फिलहाल उनका पक्ष प्रबल दिखाई देता है। उन्होंने अपनी छद्म-रचना के अट्टहासों से कवि की एकान्त ऊर्जा और प्रतिभा के मन्त्रपूत शरों को निरस्त्र कर रखा है। इससे खिन्नता, संशय और भावावेग स्वाभाविक है। अपनी इसी खिन्न मनःस्थिति का सघन बिम्ब-चित्र निराला राम के रूप-वर्णन में करते हैं—

अनिमेष राम-विश्वजिद्-दिव्य-शर-भंग-भाव
विद्धांग-बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि खर रुधिर स्राव
श्लथ धनु-गुण है, कटिबंध-सस्त-तूणीर-धरण
दृढ़ जटा-मुकुट हो विपर्यस्त प्रति-लट से खुल

फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार
चमकती दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार।

यह छवि सिर्फ राम की ही नहीं है—कवि की भी है। जिन्होंने कवि को दारागंज वाले मकान के कमरे में बैठे हुए बाहर गली की तरफ़ शून्य में एकटक अपने आयत नेत्रों से घूरते हुए एक बार भी देखा है, वे इस अनिमेष 'राम' की छवि और उसकी चिन्ता को समझ सकते हैं। उसका सारा मन क्षत-विक्षत है। मुट्ठियाँ गुस्से में कसी हुई हैं। मन का घाव रिस रहा है। अन्दर लगातार खून बह रहा है.....शुद्ध, लाल-लाल, पवित्र, मौलिक रचनात्मक ऊर्जा का खून.....जिस पर लगातार वर्षों से प्रहार होता रहा है। कवि के मन-मस्तिष्क पर ही नहीं, उसके सिंहवत् शरीर पर भी प्रहार की यह छाप विद्यमान है—कटिबन्ध ढीला हो गया है, लंबे केश बाँहों, कन्धों पर फैले हुए हैं। कवि की पर्वत की तरह ऊँची प्रतिमा-क्षमता, उसका दृढ़, कभी न हारने वाला शिखर मन जैसे इस अंधकार में, इस सामयिक और क्षणिक नैराश्य में, पत्थर की तरह जड़ हो गया है। लेकिन यह अवसाद-ग्रस्त, उदास, मानसिक शारीरिक सौंदर्य का धुँधलापन, उसकी आच्छन्नता, क्षणिक है। अभी भी कवि की तेजस्वी रचनात्मक क्षमता के नेत्र टिमक रहे हैं—उसकी दूरदर्शिता बरकरार है, जैसे अंधेरे पर्वत-प्रदेश से दूर कहीं सितारे चमक रहे हों।

अपने निजत्सव की समीपतम पहचान का यह प्रतीकार्थ, धीरे-धीरे इसी तरह पूरी कविता में संगुम्फित होता हुआ आगे बढ़ता है। इस खिन्नता, उदासी और क्षणिक नैराश्य के बाद फिर उसे अपनी रचनात्मक कोमल ऊर्जा का प्रथम साक्षात्कार याद आता है। कला-साधना के वे शुरू के दिन! जानकी का सारा प्रसंग इसी कलात्मक संरचना के प्रारंभिक दिनों का प्रतीकार्थ देता है। इसमें कविता कवि से गोपन संभाषण करती है, प्राकृतिक वैभव-विलास और सौंदर्य से भरपूर। उसके प्रथम अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने एक संपूर्ण वाक्य-बिंब की रचना की है—'ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय ज्ञात छवि प्रथम स्वीया।' जैसे प्रकाश का स्वर्गीय झरना हो...कुछ इस तरह के आंतरिक सौंदर्य का अनुभव। कवि अपनी उस प्रथम रचना-ऊर्जा के ऊर्जस्वित सौंदर्य की स्मृति से जैसे फिर जागता है। अपनी प्रतिभा और रचना-शक्ति पर ही तो प्रश्नवाचक लग गया था, जो रह-रहकर उसके दृढ़ मन को झकझोर रहा था। उस संशय से वह मुक्त होता है और नये सिरे से उसे अपनी रचनात्मक क्षमता की अद्वितीयता का अहसास होता है। उसे अपने व्यर्थ पड़ गये दिव्य शर याद आते हैं और वह अपनी काव्य-वर्चस्विता का सर्वान्त प्रसार देखने के लिए सन्नद्ध हो उठता है—

ऐसे क्षण अंधकार-घन में जैसे विद्युत
जागी पृथ्वी-तनया-कुमारिका-छवि अच्युत,,
देखते हुए, निष्पलक याद आया उपवन,
विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का नयनों से गोपन प्रिय संभाषण
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान पतन
काँपते हुए किसलय, झरते पराग समुदय
गाते खग नव-जीवन परिचय, तरु-मलय-वल्लय
ज्योतिः प्रपात स्वर्गीय, ज्ञात छवि प्रथम स्वीय

जानकी-नयन-कमनीय प्रथम कंपन तुरीया।
 सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त
 हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त
 फूटी स्मिति सीता-ध्यान-लीन राम के अधर
 फिर विश्व-विजय भावना हृदय में आयी भर
 वे आये याद दिव्य-शर अगणित मंत्रपूत
 फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत।

नैराशय के घने अंधकार के बीच उसे अपनी काव्य-रचना और प्रतिभा का प्रथम सौंदर्यपूर्ण कोमल अनुभव एक बिजली की कौंध की तरह याद आता है। फिर वह उसी तरह 'अनिमेष', एकटक अपनी रचना-ऊर्जा के प्रथम सौंदर्य की स्मृति को देखने लगता है। उसकी वह रचना-ऊर्जा, जो धरती से उपजी है जो धरती की अनन्त उर्वरता की साथी है, जो सच्चाई है, जो यथार्थ है....। अपनी रचना में नये सिरे से पैदा हुआ यह आत्म-विश्वास उसे फिर से नयी रचनात्मकता के लिए तैयार करता है। उस कलात्मक ऊर्जा का फिर से संधान करने के लिए, उस सीता को, उस धरती की रचना को फिर से पाने के लिए प्रतिभा की शक्तिमन्तता को निखारना होगा, शक्ति की साधना करनी होगी...। हनुमान का प्रसंग कवि के उसी शक्ति-स्रोत का प्रतीक है। उसी आज्ञाकारी रचनात्मक शक्तिमन्तता का, जो अद्वितीय कलात्मक उपलब्धियों के लिए संपूर्ण जीवन, सारी प्रकृति, धरती, समुद्र, आकाश-अनुभव के सारे आयाम, सारे छोर-खान रहा है—

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
 जल राशि-राशि जल पर चढ़ता, खाता पछाड़,
 तोड़ता बन्ध, प्रतिसंध धरा, हो स्फीत-वक्ष
 दिग्विजय अर्थ, प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।

इस तरह अनुभव और जीवन के सभी आयामों को छानते हुए कवि अपनी रचनात्मकता की पुनर्पहचान करता है। उसे लगता है, जब मिडियाकर कवि-लेखक-अलेखक भी उस शब्द-शक्ति की छद्म-साधना से विजयी होने का आभास दे सकते हैं, तुम्हारी प्रतिभा को (कुछ समय के लिए ही सही) आच्छन्न कर सकते हैं तो तुम्हारे जैसा महान् प्रतिभाशाली शास्त्र-विद्, नैतिक, कभी 'क्षीण का अन्न न छीनने वाला', क्यों नहीं कर सकता। अतः शक्ति की मौलिक कल्पना करो, प्रतिभा और रचनात्मकता के उस अद्वितीय बिंदु पर खड़े दिखाई दो, जहाँ कोई न हो। उस कठिन साधना के लिए तुम्हें अपना सब कुछ समर्पित करना होगा—सारे विचार, संपूर्ण दृष्टि, अपना शरीर, रक्त, मन, मस्तिष्क—संपूर्ण अन्तर बाह्य व्यक्तित्व। द्विधा-ग्रस्त मन से रचना की यह साधना संभव नहीं है। एकान्त मन से—पूजा भाव से, संपूर्ण आत्मदान के साथ...। तब तुम देखोगे की विजय तुम्हारी ही होगी। क्योंकि नित-नूतन, मौलिक, सत्यद्रष्टा, साधक-पुरुषोत्तम नवीन-तुम्हीं हो—

1. रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त
 तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त
 शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन

2. कहती थीं माता मुझे सदा राजीव नयन।
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मात; एक नयन।

इस तरह अपने रचनात्मक जीवन के संघर्षों का साक्षात्कार और अपनी प्रतिभा के पुनर्दर्शन का अर्थ ही 'राम की शक्ति-पूजा' के अंदर प्रतिष्ठित वह अद्भुत, मौलिक और नवीन अर्थ है, जिससे यह कविता जगमगाती है और इसकी गरिमा कई गुनी बढ़ गयी है। इससे इसका इतिवृत कहीं भी गलत जगह खण्डित नहीं होता, न ही इसका पहला नया अर्थ कहीं बाधित होता है। बल्कि इन अर्थों का एक सुधड़ समाहार पूरी कविता में देखने को मिलता है। आत्म-साक्षात्कार का यह अर्थ राम के चरित्र के भीतर इतनी सूक्ष्मता से कवि ने पिरोया है कि साधारणतः उसकी जानकारी नहीं हो पाती—लेकिन अर्थ-संधान की खोज में डूबने पर पंक्ति-पंक्ति, शब्द-शब्द इस अर्थ को ले दौड़ता है।

यह अवश्य है कि विरोध-पक्ष का स्पष्ट अंकन निराला ने कहीं नहीं किया। रावण के प्रतीक में वे सभी समाहित हो जाते हैं, जो उनकी रचनात्मकता का विरोध करने और उसे धुँधलाने के लिए कटिबद्ध हैं। स्थूल रूप से इनकी जानकारी व्यर्थ है। किसी भी मौलिक विद्रोही कवि को किस तरह के विरोधों का सामना आजीवन करना पड़ता है और फिर भी अपनी रचनात्मकता में उसका विश्वास नहीं टूटता, और किस तरह वह अपनी अपराजेय प्रतिभा का लोहा मनवा लेता है—यही इस कविता का विषय है। इसे निराला के स्थूल जीवन से हटा कर एक जीवन्त सत्य के रूप में भी समझा जा सकता है...। आत्म-साक्षात्कार की इसी अद्वितीयता के समक्ष 'संशय की एक रात' एक नगण्य कविता लगने लगती है। इसीलिए 'आत्म-संभवा अभिव्यक्ति' की खोज और उपलब्धि ही 'राम की शक्ति-पूजा' का लक्ष्य है। वह अपने इतिवृत के लिए नहीं, बल्कि इसी अर्थ-संभार के लिए महत्वपूर्ण है।

(ग) 'राम की शक्ति-पूजा' : एक लघु आख्यान

—आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी

दीर्घ प्रगीत और लघु आख्यान के बीच की विभाजक रेखा प्रायः सूक्ष्म हुआ करती है। दोनों का अंतर पहचानने के लिए हमें प्रगीत और आख्यान शब्दों का सहारा लेना पड़ता है। यह अन्तर बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा लंबी कहानी और लघु उपन्यास का अन्तर। कभी-कभी कहानी उपन्यास से आकार में बड़ी भी हो जाती है, पर वह उपन्यास का स्थानापन्न नहीं हो सकती। प्रगीत में चाहें वह दीर्घ ही क्यों न हों, कवि की चेतना एक क्षण पर सघन रूप से केंद्रित रहती है और उसी क्षण की प्रतिक्रिया प्रस्तुत करती है, जब कि आख्यान में काल की गति और उसका विस्तार द्योतित होता है। प्रगीत में इसीलिए अन्तरंग अन्विति का संधान किया जाता है, जबकि आख्यान में बहिरंग अन्विति अपेक्षित होती है। चाहे कितना भी लघु आख्यान हो उसका एक आरंभ, मध्य और अन्त ढूँढ़ा और पाया जा सकता है। परन्तु प्रगीत के लिए यह कालरेखा आवश्यक या अनिवार्य नहीं होती।

'राम की शक्ति-पूजा' वस्तुतः एक गाथा काव्य है, जिसे निराला ने गाथा की भूमि से उठाकर महाकाव्योचित गांधीर्य देना चाहा है। गाथा-काव्य में लोक-विश्वासों की प्रचुरता, अतिरंजना के चमत्कार और अलौकिकता की योजना रहा करती है। ये सभी योजनाएँ 'राम की शक्ति-पूजा' में भी हैं, परन्तु इसके साथ ही 'शक्ति-पूजा' को असाधारण गांधीर्य देने की चेष्टा भी की गयी है। महाकाव्य का औदात्य और संतुलन तथा गाथा की अतिरंजना और असंभाव्यता अनुरूप तत्त्व नहीं है। अतः जब निराला जी गाथा की लोक-सामान्य भाव-भूमिका से महाकाव्य की उन्नततर और असामान्य भूमि पर प्रवेश करते हैं, तो एक मौलिक विरोधाभास अनायास आभासित होता है। 'शक्ति-पूजा' का शिल्प इन दोनों के बीच किस प्रकार का सेतु बंधन कर सका, यह हमें देखना होगा।

'राम की शक्ति-पूजा' का मूल कथानक महाकाव्योचित औदात्य से संपन्न नहीं हैं। राम के मन में आगामी युद्ध की विभीषिका उपस्थित है। वे रावण की अप्रतिहत शक्ति को देखकर चिंतित और निराश हैं। अपने सहयोगियों और साथियों की सलाह से वे शक्ति-पूजा का अनुष्ठान करते हैं। इस पूजा के अनुक्रम में उन्हें पुनः हताश होना पड़ता है, जबकि गणना में एक पुष्प की कमी रह जाती है। इस त्रुटि का प्रक्षालन वे अपनी एक आँख देकर करना चाहते हैं। इसी समय दुर्गा देवी प्रकट होती हैं और उन्हें विजय का आश्वासन देती हैं। इस कथानक में महाकाव्य के लिए उपयोगी सामग्री नहीं है। परन्तु निराला इस कथानक के बल पर ही उदात्त की सृष्टि करते हैं। उनके पास एक मात्र संबल भाषा का है।

आरंभ में युद्ध का घटाटोप से भरा वर्णन प्रस्तुत कर निराला जी राम की चिंता का उल्लेख करते हैं। प्रकृति भी अंधकारमयी बन गयी है। राम को सहसा स्वयंवर के समय की सीता का स्मरण होता है। वे क्षण भर को अभिनव उत्साह से उद्दीप्त हो उठते हैं। परन्तु दूसरे क्षण उन्हें युद्ध के समय अट्टहास करते हुए रावण की स्मृति हो आती है और उनकी आँखों से दो बूँद आँसू गिर पड़ते हैं। यह प्रसंग भी राम के मानसिक संघर्ष का सूचक अधिक है, महाकाव्य के औदात्य का विधायक कर्म।

दूसरे प्रकरण में हम हनुमान का क्षुब्ध और उत्तेजित स्वरूप देखते हैं, जो राम के आँसुओं से उद्विग्न होकर सृष्टि का नाश करने के निमित्त आकाश की ओर उठते हैं। परन्तु क्षण भर में माता की

फटकार सुनकर पुनः पृथ्वी पर उतर आते हैं। हनुमान के इस आस्फालन और अवतरण में केवल एक अलौकिक चमत्कार है, जो गाथा-काव्य के लिए तो उपयुक्त है, परंतु महाकाव्य की गरिमा का उन्नायक नहीं।

तीसरे प्रकरण में साथियों और सहायकों द्वारा शक्ति-पूजा का सुझाव पाकर राम उस ओर प्रवृत्त होते हैं। यह शक्ति-पूजा मूलतः एक धार्मिक विश्वास का आधार लेकर चली है, यद्यपि निराला जी ने इसमें योग-साधना के तत्त्वों को जोड़कर इसे उच्चतर मानसिक भूमिका प्रदान की है। पूजा के इस प्रकार का जोड़ा जाना अवश्य ही एक बौद्धिक उपक्रम है, जो महाकाव्य के संभार के उपयुक्त है।

अंतिम प्रकरण में पूजा की परिणति के पूर्व एक पुष्प का कम पड़ना और उसके स्थान पर 'राजीवलोचन' राम का अपनी एक आँख निकाल कर चढ़ाने को उद्यत होना एक नाटकीयता और भावनात्मक उत्कर्ष की सृष्टि करता है। परन्तु क्या हम इसे महाकाव्योचित भावभूमिका कह सकते हैं? शायद नहीं। इसी के पश्चात् देवी का प्रकट होना और आशीर्वाद देना कथा का एक विस्मयकारक उपसंहार है।

विशुद्ध शिल्प की दृष्टि से इसे हम गाथा का गरिमा-सम्पन्न शिल्प कह सकते हैं, क्योंकि इसमें ऐसे प्रकरणों की योजना हुई, जो विशुद्ध गाथा में नहीं रहा करते। इसमें आश्चर्य, कौतूहल और विस्मय-बोध के उपकरण तो मौजूद हैं, जो इसे गाथा की मूल विशेषताओं के समीप ले जाते हैं, परन्तु साथ ही इसमें भाषा का वह सौष्ठव और छंदों की वह गंभीर भूमिका भी उपलब्ध है, जो इसे महाकाव्योचित संभार देती है। शिल्प के आधार पर हमारा यह निष्कर्ष अनुचित न होगा कि इसमें एक मिश्र शिल्प की योजना की गयी है, जो दो विभिन्न प्रकृतियों के कथानकों और काव्यरूपों को एक में मिलाने का प्रयत्न करती है। इस प्रयत्न में कवि को उतनी ही सफलता मिली है, जितनी संभव थी। 'राम की शक्ति-पूजा' का शिल्प एक भिन्न प्रकृति के कथानक को एक भिन्न भाव-भूमिका पर ले जाने का उत्कट प्रयास है। यह प्रयास अपने में ही इतना असाधारण बन गया है कि इसकी सफलता या असफलता हमारे विचार का विषय नहीं बन पाती।

अंधेरे में : मुक्तिबोध

—डॉ. राजेन्द्र प्रसाद

पूर्व रीडर, हिन्दी-विभाग

मुक्त शिक्षा विद्यालय

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कवि-परिचय

गजानन माधव मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर, 1917 को श्यौपुर (जिला मुरैना, ग्वालियर) में हुआ। उनके पिता श्री माधवराव पुलिस सब-इंस्पेक्टर थे। पिता की बार-बार बदली होने के कारण शिक्षा एक स्थल पर संपन्न न हो सकी। बीच-बीच में क्रमभंग भी होता रहा। आरंभिक शिक्षा उज्जैन, विदिशा, अमझरा, सरदारपुर आदि स्थानों पर मिली। 1931 में मिडिल परीक्षा में सफल हुए। इसके बाद पढ़ाई का सिलसिला कुछ ठीक ढंग से चला। 1935 में माधव कॉलेज से इंटरमीडिएट तथा 1938 में होलकर कॉलेज से बी.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। इसके बाद काफी वर्षों तक विश्वविद्यालयी शिक्षा का अंतराल रहा। आर्थिक दबाव के कारण इसी वर्ष से नौकरी करनी पड़ी। विवाह के संबंध में माता-पिता के स्वप्न कुछ और थे, किन्तु मुक्तिबोध ने 1939 में प्रेम-विवाह कर लिया। पढ़ाई का क्रम काफी अरसे के बाद फिर जुड़ा और 1953 में नागपुर विश्वविद्यालय से वे एम.ए. (हिन्दी) कर पाये।

नौकरी का सिलसिला भी जुड़ता-टूटता रहा। 1938 से 1942 तक उन्होंने बड़नगर, शुजालपुर, उज्जैन आदि स्थानों के विभिन्न स्कूलों में प्राध्यापक की नौकरी की। इसके बाद कुछ अरसे तक 'विश्वबंधु' (कलकत्ता) तथा 'हंस' (बनारस) पत्रिका से भी संबंध रहे। इसके अतिरिक्त सारथी, जय हिन्द, समता, संकेत, नयी दिशा, संस्कार, वसुधा आदि पत्रिकाओं से भी किसी-न-किसी रूप से जुड़े। कुछ अरसे तक सूचना तथा प्रकाशन विभाग, नागपुर तथा कुछ काल तक आकाशवाणी, नागपुर से भी उनका संबंध रहा। शिक्षण इनका मुख्य व्यवसाय रहा, जिस पर ये बार-बार लौट आते रहे। अक्टूबर 1956 से 'नया खून' का संपादन किया। अंत में वे दिग्विजय महाविद्यालय, राजनादगाँव में प्राध्यापक हो गये। लंबी बीमारी के बाद 11 सितंबर, 1964 को उनका निधन हो गया।

मुक्तिबोध को काव्य की आद्य प्रेरणा प्रकृति से मिली। उनका किशोर मन प्रकृति के सौंदर्य-लोक में निमग्न हो जाया करता था। 'तार सप्तक' के वक्तव्य में वे लिखते हैं—'मेरे बाल-मन की पहली भूख सौंदर्य और दूसरी विश्व-मानव का सुख-दुःख इन दोनों का संघर्ष मेरे साहित्यिक जीवन की पहली उलझन थी।' आरंभ में 'रमाशंकर शुक्ल के स्कूल की कविताएँ, जो माखनलाल स्कूल की निकली हुई शाखा थी,' कवि को प्रभावित करती रहीं। उनकी आरंभिक रचनाओं का मुख्य विषय 'मूलतः विरहजन्य करुणा और जीवन-दर्शन' था। कवि के अनुसार इन्दौर में मित्रों के सहयोग और सहायता से वे आंतरिक क्षेत्र में प्रविष्ट हुए और 'पुरानी उलझन-भरी अभिव्यक्ति और अमूर्त करुणा छोड़कर नवीन सौंदर्य-क्षेत्र' के प्रति जागरूक हुए। बाद में जीवन और जगत के द्वन्द्व को सुलझाने की दुर्दम प्यास उनके मन में बनी रहने लगी।

काव्य-रचना का आरंभ 1935 से हुआ। 1936 से 1938 तक काव्य के साथ-साथ कहानी की रचना भी चलती रही। कहानी-लेखन आरंभ करने पर वे पाते थे कि कथा-तत्त्व उनके इतना ही समीप है जितना कि काव्य किन्तु काव्य को उन्होंने अपने हृदय का स्पंदन बना लिया। 'तार-सप्तक' के वक्तव्य में, अपने बारे में वे लिखते हैं—“1938 से 1942 तक के पाँच मानसिक संघर्ष और वर्गसोनीय व्यक्तिवाद के वर्ष थे। आंतरिक विनष्ट शांति के और शारीरिक ध्वंस के इस समय में मेरा व्यक्तिवाद कवच की भाँति काम करता था। बर्गसाँ की स्वतंत्र क्रियमान जीवन शक्ति के प्रति मेरी आस्था बढ़ गई थी।” क्रमशः उनका झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। इसे उन्होंने अधिक वैज्ञानिक, मूर्त एवं तेजस्वी दृष्टिकोण के रूप में देखा। उन्होंने पाश्चात्य साहित्य का भी भरपूर अध्ययन किया। बाल्जाक, फ्लाबेयर, गार्की आदि उनके प्रिय लेखक थे। अंग्रेजी व फ्रेंच उपन्यास उन्होंने खूब पढ़े थे। पियरे, एदमोशा दाहान प्रिंस, पुदशिकन शोगोजिन किरिलोण्ट आदि का उल्लेख वे अक्सर किया करते थे। उन्होंने फ्रायड, युंग, एडलर आदि मनोविश्लेषणशास्त्रियों का अध्ययन किया था। तर्कशास्त्र, दर्शनशास्त्र एवं विज्ञान के अध्ययन में भी उनकी रुचि थी। निरन्तर अध्ययन एवं साहित्यिक मित्रों से बहस ने उनकी काव्य-चेतना को व्यापक बनाने में भी सहयोग दिया।

स्वतंत्रता के पश्चात् मुक्तिबोध की काव्य-चेतना में किंचित् बदलाव आ गया। मुक्तिबोध ने इस तथ्य को स्वयं स्वीकार किया है कि 'स्वाधीनता के इस युग में' उनकी कविता 'सघन-बिंब मालिकाओं में अधिकाधिक प्रकट होने लगी। अचानक अंतर्मुख दशाएँ और भी दीर्घ और गहरी होती गयीं।' किन्तु उनकी अन्तर्मुखता आत्मग्रस्तता नहीं है। उनकी संवेदना व्यापक समाज से संपृक्त होकर आगे बढ़ी है।

रचनाएँ

मुक्तिबोध बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास, आलोचनात्मक निबंध आदि अनेक विधाओं में रचना की। वे मुख्यतः एवं स्वभावतः कवि थे। उनकी कविताएँ, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' नामक कविता संग्रह के रूप में 1961 में प्रकाशित हुई। इससे पूर्व उनकी कविताएँ—'तार सप्तक' (1943) में प्रकाशित हो चुकी थीं। उनका दूसरा काव्य संग्रह 'भूरी-भूरी खाक धूल' शीर्षक से 1980 में प्रकाशित हुआ। उनके दो कहानी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'काठ का सपना' (1967) एवं 'सतह से उठता आदमी' (1971), 'विपात्र' (1970) नाम से एक लघु उपन्यास भी प्रकाशित हुआ है। गद्य लिखने में भी उनकी रुचि थी। 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' (1964), 'एक साहित्यिक की डायरी' (1964), एवं 'नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' (1971)। उनके निबंध संग्रह हैं। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' नामक समीक्षात्मक पुस्तक 1967 में प्रकाशित हुई थी। 'भारत इतिहास और संस्कृति' (1943 से पूर्व) स्कूल के छात्रों के लिए लिखी गई थी; जिसे मध्य प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग ने पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृति भी दे दी थी, किन्तु राजनीतिक कारणों से बाद में सरकार द्वारा लोक-सुरक्षा कानून के अधीन यह पुस्तक अवैध घोषित कर दी गयी। 1980 में राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली द्वारा मुक्तिबोध की समस्त रचनाओं को 'मुक्तिबोध रचनावली' शीर्षक से छः भागों में प्रकाशित किया गया है।

(क) मुक्तिबोध का यथार्थ-बोध

‘यथार्थ’ की अवधारणा

मुक्तिबोध के यथार्थ-बोध का विवेचन-विश्लेषण करने से पूर्व ‘यथार्थ’ शब्द पर संक्षेपतः विचार कर लेना उपयुक्त होगा। ‘यथार्थ’ शब्द ‘सत्य’, ‘प्रकृत’, ‘असल’ आदि का पर्याय है। साहित्य जगत में सामान्यतः ‘यथार्थ’ को ‘आदर्श’ का विलोम माना जाता है। आदर्श के अंतर्गत उच्च नैतिक, आध्यात्मिक और सौंदर्यपरक प्रतिमान आते हैं। जबकि यथार्थ के अंतर्गत वे वस्तुएँ, क्रियाएँ, घटनाएँ, विचार एवं भाव, आते हैं, जो कभी अस्तित्ववान् हुए थे, या अब अस्तित्ववान् हैं अथवा जिनके अस्तित्व में आने की पूरी संभावना है। अर्थ की दृष्टि से क्रियमान जगत में घटित, घटता हुआ एवं घटित हो सकने वाला सत्य भी यथार्थ के अन्तर्गत ही आयेगा। आदर्श की तरह यथार्थ किसी नीति के द्वारा पुष्टि की अपेक्षा नहीं रखता। प्रकृति के वशीभूत जो कुछ भी घटित होता है, वह स्वतः प्रमाण, सर्व प्रत्यक्ष तत्त्व ही यथार्थ है। भौतिक जगत की तरह मानसिक जगत का भी अपना यथार्थ होता है। आदर्श भी कभी यथार्थ हो सकता है, किंतु ऐसा प्रायः कम ही होता है। आज जीवन और जगत में हमारे चतुर्दिक जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह इतना कटु है कि हम यथार्थ को अशुभ, कटुता आदि का पर्याय मानने लगे हैं। घटित यथार्थ भले ही कड़वा हो वस्तुतः यथार्थ शुभ और अशुभ दोनों ही पक्षों वाला हो सकता है।

काव्य के क्षेत्र में आदर्श एवं यथार्थ का अलग-अलग महत्त्व है। आदर्श को चित्रित करने वाला सर्जक व्यक्ति और समाज को किसी वृहत्तर आदर्श की ओर ले जाना चाहता है। वह समाज को एक नैतिक ऊँचाई देने की कामना से युक्त होता है और उसके सामने एक ऐसा लक्ष्य रखता है, जो प्राप्तव्य है। आदर्श को प्राप्त करने की प्रवृत्ति अस्वाभाविक नहीं है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, रामचरित मानस आदि महान कृतियाँ आदर्श को स्थापित करने की प्रवृत्ति की चेष्टा में ही रची गयी हैं। आधुनिक युग में भी जयशंकर प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद आदि कवि-लेखक आदर्श को प्रश्रय देते रहे हैं। आदर्श जहाँ व्यक्ति को किसी ऊँचाई तक बढ़ने की प्रेरणा देता है। वहाँ उसमें एक भयंकर दोष भी है। आदर्श प्रायः व्यक्ति-मन को कल्पनाशील और अव्यावहारिक बना देता है। आदर्शवादी मन घटित होते तीव्र यथार्थ को या तो देखता ही नहीं, उसकी उपेक्षा कर देता है या देखने पर उसके सामने खड़ा नहीं रह पाता, टूट जाता है। आज की परिस्थिति इतनी जटिल हो गई है कि अधिकांश आदर्श यथार्थ के सामने टूटकर बिखर गये हैं। कोई भी सर्जक आँख पर पट्टी लगाकर अथवा प्रत्यक्ष संवेदनों की उपेक्षा कर यदि आदर्श की कल्पना में डूबा रहता है तो आज उसे सजग काव्य-चेता नहीं माना जा सकता। यथार्थबोध सर्जक को जीवन की वास्तविकताओं से जोड़ता है और सामाजिक कर्तव्यों के प्रति सजग करता है। यथार्थ उन्हें ऐसी दृष्टि देता है, जिसकी सहायता से वह जीर्ण आदर्शों को तोड़ फेंकता है और उसके स्थान पर बदली हुई परिस्थिति के अनुरूप कर्तव्यबोध की सृष्टि करता है। जीवन की तुच्छ-से-तुच्छ परिस्थिति उसके लिए महत्त्वपूर्ण होती है। वह किसी मानदण्ड के स्थान पर वर्तमान में जीने वाले व्यक्ति को अधिक महत्त्व देता है। वह उसके खंडित, विक्षुब्ध, कुरूप, संस्कारहीन, संघर्षरत जीवन को अपना विषय बनाता है और ऐसा करके परिस्थिति पर सोचने को मजबूर करता है। आज की परिस्थिति में सर्जक की ईमानदारी उससे इसी बात की माँग करती है कि वह अपने प्रति उत्तरदायी होने के साथ युग-यथार्थ के प्रति भी विशेष रूप से

उत्तरदायी होगा। वस्तुतः मुक्तिबोध इस उत्तरदायित्व को भली-भाँति समझकर ही काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए हैं।

मूर्तिमान यथार्थ को ही काव्य का विषय बनाने पर बल—यहाँ संक्षेप में यथार्थ के संबंध में मुक्तिबोध के विचारों को जान लेना भी उपयुक्त रहेगा। काव्य-संबंधी अपनी मान्यताओं को निरूपित करते हुए मुक्तिबोध ने स्पष्ट रूप से मूर्तिमान यथार्थ को ही काव्य-विषय बनाने की घोषणा की है। इस संदर्भ में वे इटैलियन कवि दोमेनिको के वक्तव्य से पूर्णतः सहमत हैं। दोमेनिको का कहना है—“हम व्यक्तिवाद के गहन दण्डकारण्य में से बाहर निकल पड़ें, जिन-जिन स्थानों पर मनुष्य अपनी अस्तित्व रक्षा में लीन हैं, वहाँ वहाँ हमारे हित लगे हुए हैं। हमारे काव्य का चरित नायक, आज स्वयं मूर्तिमान यथार्थ ही हो।” मुक्तिबोध की दृष्टि में आज ऐसे सर्जकों की आवश्यकता है, जो मानवीय वास्तविकता का बौद्धिक और हार्दिक आकलन कर सके, सामान्य जनों के गुणों और उनके संघर्षों से प्रेरणा प्रकाश ग्रहण करे तथा उनके संचित जीवन-विवेक को ग्रहण करता हुआ, उसे और अधिक निखार कर कलात्मक रूप में उन्हीं की चीज की उन्हें लौटा दे।

काव्य-यथार्थ के संबंध में विचार करते हुए मुक्तिबोध ने उन खतरों की ओर भी ध्यान दिलाया है, जो सतर्कता के जरा-सा हटने पर उत्पन्न हो सकते हैं। काव्य के क्षेत्र में यथार्थ चित्रण का आग्रह प्रगतिवादी काव्य-धारा के साथ ही शुरू हो गया था। जिस मार्क्सवादी दर्शन से प्रगतिवाद प्रभावित था, मुक्तिबोध की दृष्टि में वह एक ‘यथार्थ दर्शन’ है। इसके बावजूद प्रगतिवादी यथार्थ चिंतन सिद्धांतवादिता के व्यूह में फँस गया था। प्रगतिवादी रचना एक विशेष प्रकार के ढाँचे में आबद्ध हो चुकी थी। ऐसी रचना, जो एक लगभग निश्चित ढाँचे से भिन्न होती थी, प्रगतिवादी उसे गलत, असुंदर, प्रतिक्रियावादी आदि कह देते थे। इस प्रकार प्रगतिवादी समीक्षक मानव-यथार्थ से दूर होते जा रहे थे। मुक्तिबोध के अनुसार, “प्रगतिवादियों के व्यवहार द्वारा यह सूचित होता था कि वे मुक्ति-संघर्ष, राष्ट्र-प्रेम प्राकृतिक सौंदर्य, नारी-सौंदर्य, प्रगतिवादी यथार्थ, आलोचना-भावना, आशा, उत्साह तथा तत्समान अन्य भावों को प्रगतिशील समझते हैं, किंतु शेष सब भावनाएँ प्रतिक्रियावादी हैं।” मुक्तिबोध ने प्रगतिवादियों की इस स्थिति से यह निष्कर्ष निकाला कि यथार्थ के नाम पर चली हुई काव्य-धारा में यदि ‘जीवन तथ्यों की वास्तविकता’ अर्थात् मानव-यथार्थ को दृष्टि से ओझल करके, सिद्धांतों को जब लागू किया जाता है, तब भूल होना स्वाभाविक होता है। जब मानव-यथार्थ ही को ठीक ढंग से नहीं समझा जा रहा है तो उसके (कलाकार द्वारा किए गये) सामान्यीकरणों को, उन सामान्यीकरणों के चित्र रूपों को, उनके प्रतीकों को, उनके बिंबों को कैसे समझा जायेगा।

निष्कर्ष यह है कि यथार्थ को देखने और उसके सही उपयोग के लिए बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। तथ्याध्ययन के लिए उच्च स्तर की आत्म-निरपेक्षता, सतर्कता और जाग्रत दृष्टि की आवश्यकता होती है। अन्यथा सर्जक अपने पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर यथार्थ की गलत तस्वीर खड़ी करेगा। यथार्थ दृष्टि के लिए सारे पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर तथ्य के विभिन्न पक्षों को देखना होगा। ‘यथार्थ की गति को अनुकूल दिशा में मोड़ने के लिए यथार्थ के व्यक्त रूपों का-समग्र व्यक्त रूपों का, उनकी गति और स्थिति में, अध्ययन करना आवश्यक है। उनके बहिरन्तर संबंधों और परस्पर क्रिया-प्रतिक्रियाओं का आकलन आवश्यक है। यह मूल, प्रधान, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रथम कार्य है, क्योंकि इसी के आधार पर आगे के कार्य किये जा सकते हैं।”²

यथार्थ के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि क्या काव्य-यथार्थ वास्तविक जीवन-यथार्थ की अनुकृति है। क्या जीवन-यथार्थ को अपने काव्य में प्रतिबिम्बित कर देना ही काव्य-रचना करना है? मुक्तिबोध यथार्थ को जड़ रूप में नहीं देखते। वे साहित्य को समाज का प्रतिबिंब अथवा दर्पण मात्र नहीं समझते। सर्जक यदि यथार्थ का प्रतिबिंबन ही करे तो वह स्रष्टा कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। कला-यथार्थ जीवन से उत्पन्न होती है, साथ ही जीवन को प्रभावित भी करती है। इसलिए मुक्तिबोध कला के यथार्थ को सामाजिक परिवर्तन के लिए हथियार के रूप में प्रयोग में लाने की बात सोचते हैं। वे वर्तमान जीवन-यथार्थ को इतिहास के परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हुए 'कल होने वाली घटनाओं की कविता' सृजित करते हैं। उनकी फैंटेसी में कल के यथार्थ दिखलाई पड़ते हैं। उनके अनुसार भविष्य के यथार्थ को देख पाना भी यथार्थ-बोध के अंतर्गत ही आता है।

जीवन-यथार्थ बहुत विस्तृत एवं व्यापक होता है। उनमें विविधता एवं जटिलता होती है। "यथार्थ के तत्त्व परस्पर गुंफित होते हैं साथ ही पूरा यथार्थ गतिशील होता है। अभिव्यक्ति का विषय बनकर जो यथार्थ प्रस्तुत होता है वह भी ऐसा ही गतिशील है और उसके तत्त्व भी परस्पर गुंफित हैं।"³ मुक्तिबोध ने आगे स्पष्टीकरण दिया है कि यही कारण है कि वे छोटी कविताएँ नहीं लिख पाते, जो (कविताएँ) छोटी होती हैं वे वस्तुतः छोटी न होकर अधूरी होती है। चूँकि जीवन की वास्तविकता बहुत बड़ी है। और उसका समग्रता में अंकन संभव नहीं है, इसलिए आज के लेखकों के सामने विविध जीवन-यथार्थ में से उपयुक्त विषय एवं अनुभव के चुनाव की समस्या है। सिर्फ बहुत बड़ी थीम उठा लाने से काम नहीं चलता। यह जरूरी है कि सिर्फ उतना ही अंश उठाया जाये, जिसका मन पर अत्यधिक आघात हुआ हो।⁴ यद्यपि मुक्तिबोध सर्जक से यह अपेक्षा रखते हैं कि वह आत्मपक्ष और परिस्थिति पक्ष (जो कि वास्तविकता के ही दो अंग हैं) का समन्वित रूप कला में लाए, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि 'इन दोनों में ऐसे गहरे अन्त-संबंध हैं, जिनका सही-सही ब्योरा देना नामुमकिन है।'

मुक्तिबोध के अनुसार काव्य-यथार्थ जीवन यथार्थ से इतना भिन्न हो उठता है कि एक स्तर पर वे यहाँ तक मानने लगते हैं कि 'साहित्य पर आवश्यकता से अधिक भरोसा रखना मूर्खता है।' उनके अनुसार इसका कारण यह है कि 'साहित्य मनुष्य के आंशिक साक्षात्कारों के बिंबों की एक मालिका तैयार करता है। ध्यान रहे कि वह सिर्फ बिंब मालिका है और उसका सारा सत्यत्व और औचित्य मनुष्य के जीवन या अन्तर्जगत में स्थित है। इसलिए उनके औचित्य और सत्यत्व की अनुभूति सार्वजनीन होती है। लेकिन अनुभूति का होना सत्यत्व की कसौटी नहीं है। और हम साहित्य में रम भले हो जायें, उससे हमें सत्य नहीं सत्य का एक पर्सपैक्टिव, एक दिशा, एक दृश्य, एक डायमेंशन, एक आभास ही मिलेगा, एक रोशनी ही मिलेगी-सिर्फ एक रोशनी।....साहित्य में प्रकाश ही प्रकाश है।'

किंतु हमें प्रकाश में सत्यों को ढूँढ़ना है। 'हम केवल साहित्यिक दुनिया में नहीं वास्तविक जीवन में रहते हैं।'⁵ ऐसी स्थिति में सर्जक क्या करे, यह एक कठिन समस्या है। वह जीवन-यथार्थ से साहित्य के यथार्थ तक किस प्रकार पहुँचे, उसे इस पर गंभीरता से विचार करना चाहिए। एक अन्य स्थल पर मुक्तिबोध मानो इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं—“मानव यथार्थ का ताना-बाना बहुत गहरा और सूक्ष्म होता है। हमें उस यथार्थ का सिर्फ विश्लेषण करके छोड़ देना चाहिए। यदि विश्लेषण हमारे

अनुकूल न निकले तो दुःखी होने की जरूरत नहीं और सचमुच अनुकूल निकले तो बात ही क्या है।”

कविता में जीवन-यथार्थ किस रूप में प्रस्तुत होता है, मुक्तिबोध ने इस पर भी विचार किया है। उनकी दृष्टि में, “कविता कोई निबंध तो है नहीं कि जिससे लोगों को आज के हालात की जानकारी मिले; न वह कोई नाटक है, जिसमें पात्र प्रस्तुत होकर मूर्त रूप से जीवन-यथार्थ उपस्थित करते हैं। कविता एक संगीत को छोड़कर अन्य सभी कलाओं से अधिक अमूर्त है। वहाँ जीवन यथार्थ केवल भाव बनकर प्रस्तुत होता है, या बिंब बनकर या विचार बनकर। कविता के भीतर की सार नाटकीयता वस्तुतः भावों की गतिमयता है। उसी प्रकार कविता के भीतर का कथा तत्त्व भी भाव का इतिहास है।”⁶

मुक्तिबोध ने यथार्थबोध के विकास के लिए आत्मचेतस् एवं विश्वचेतस् होने की बात उठाई है। उनके अनुसार यह आवश्यक है कि आज का कवि आत्मचेतस् एवं विश्वचेतस् हो। आत्मचेतस् होने के लिए सर्जकों को अपनी चेतना का संस्कार एवं परिष्कार करना होगा, अपने अनुभूति क्षेत्र का विस्तार करना होगा। जब तक सर्जक विश्वचेतस् नहीं होगा, वह सही अर्थ में आत्मचेतस् भी नहीं हो सकता। विश्वचेतस् होने के लिए सर्जक क्या करे इसका उत्तर मुक्तिबोध ने इस प्रकार दिया है—“कवि हृदय आज के जगत के मूल द्वन्द्वों का अध्ययन करे अर्थात् अपनी संपूर्ण चेतना द्वारा आज की वास्तविकता की तह में घुसे और ऐसी विश्वदृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत की व्याख्या हो सके और अन्तर्जगत् के महत्त्वपूर्ण आंदोलनों का बोध हो। तभी उसका विषय संकलन संबंधी विवेक भी पुष्ट होगा। तभी हम आस-पास फैली हुई मानव वास्तविकता के मार्मिक पक्षों का उद्घाटन और चित्रण कर सकेंगे।”⁷ अभिप्राय यह है कि जब तक आज का सर्जक विश्वव्यापी यथार्थ का साक्षात्कार नहीं करता, उसका यथार्थ-बोध अविकसित माना जायेगा। इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—“आज के विकासमान कवि को तीन क्षेत्रों में एक साथ संघर्ष करना है—1. तत्त्व के लिए संघर्ष, 2. अभिव्यक्ति सक्षम बनने के लिए संघर्ष और 3. दृष्टि विकास के लिए संघर्ष।” इनमें से पहले संघर्ष का संबंध जीवन-यथार्थ से सीधे जुड़ा हुआ है। तत्त्व के लिए संघर्ष का अर्थ बतलाते हुए मुक्तिबोध लिखते हैं—“तत्त्व के लिए संघर्ष का अर्थ, अपने वास्तविक जीवनानुभव को संदर्भ सहित व्यक्त करने के लिए उचित विषय-संकलन के विवेक से संबंधित है। हमें अपने ही युग के ऐसे सारभूत बिंबों और मूल प्रवृत्तियों को उठाना और चित्रित करना होगा, जिससे कि हम अपना युग, वस्तुतः जी सकें और हम सच्चे अर्थों में समसामयिक हो पायें। विषय संकलन का विवेक हमारी अपनी मार्मिक ज्ञानदृष्टि से उत्पन्न होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारा ध्यान दृष्टि विकास की ओर जाये, और हम आज के तनाव भरे जगत की मूल गति और दिशा को समझ सकें।”⁸ इसके लिए विश्व-दृष्टि के विकास की आवश्यकता होगी। विश्व-दृष्टि के विकास के लिए मुक्तिबोध भविष्य-निर्माण के संघर्ष में आस्था रखने तथा निष्ठापूर्वक इसमें जुट जाने की सलाह देते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं में यथार्थ बोध

जीवन-यथार्थ संबंधी मुक्तिबोध के उपर्युक्त विचारों को देखने से ही स्पष्ट हो जाता है कि उनका यथार्थ-बोध कितना प्रखर रहा है। अपनी मान्यताओं पर चलते हुए वे निरंतर विश्वचेतस् होने की चेष्टा

करते रहे। उनकी आत्म-सजगता जीवन-यथार्थ का कोना-कोना झाँकने में तत्पर है और विश्वचेतस् होने के लिए अपने व्यक्तित्व को बदलने तक के लिए प्रस्तुत है। उनमें जीवन और जगत में व्याप्त सच को व्यक्तित्वान्तरित होकर नये सिरे से समझने की अदम्य आकांक्षा है—

कि मैं अपनी अधूरी दीर्घ कविता में/उमंग कर
जन्म लेना चाहता फिर से/कि व्यक्तित्वान्तरित होकर
नये सिरे से समझना और जीना/चाहता हूँ सच

मुक्तिबोध एक ऐसे आत्मचेतस् कवि हैं, जिन्हें कदम-कदम पर चौराहों के दर्शन होते हैं, जो एक साथ सौ राहों से गुजर जाना चाहते हैं। ये राहें विभिन्न वैचारिक परंपराओं को सूचित करती हैं। जब तक कवि विभिन्न वैचारिक-परंपराओं को आत्मसात नहीं कर लेता तब तक उसकी आत्म चेतना विकसित नहीं होगी। कवि को हर हृदय में आत्मा की तलाश है और पलभर के लिए वह सब में से गुजर जाना चाहता है तथा प्रत्येक उर में तिर आना चाहता है⁹, ताकि सबके भीतर की चेतना से अपनी चेतना को जोड़कर उसे विकसित कर सके। दुःख की कथाएँ, तरह-तरह की शिकायतें, अहंकार-विश्लेषण, चारित्रिक-आख्यान, जमाने के जानदार सूरे व आयतें कवि को सुनने को मिलती हैं। जहाँ भी जरा खड़े होकर वह कुछ बातें करता है, वहीं उसे एक नया उपन्यास मिल जाता है। यह कवि की आत्मसजगता का ही परिणाम है कि जिधर वह देखता है, उधर ही विषय नजर आते हैं और वह सर्जक की दृष्टि से एक नये यथार्थवादी निष्कर्ष तक पहुँचता है—

जीवन में आज के/लेखक की कठिनाई यह नहीं कि/कमी है विषयों की
वरन् यह कि आधिक्य उनका ही/उसको सताता है,
और, वह ठीक चुनाव कर नहीं पाता है।¹⁰

सर्जक की जिस कठिनाई का मुक्तिबोध ने उल्लेख किया है, उससे वे स्वयं भी अपने काव्य में जूझते प्रतीत होते हैं, किन्तु मुक्तिबोध ने जिन यथार्थ चित्रों, भावों एवं विचारों को अपने काव्य में स्थान दिया है वे उनके विवेक संगत चुनाव को प्रतिध्वनित करते हैं। उन्होंने विवेक की आँखों से देख-परख कर ऐसे ही यथार्थ बिंबों की योजना की है, जिनका उन्होंने अपने बाह्य अथवा आभ्यंतर (मानसिक) जीवन में साक्षात्कार कर लिया है। इसलिए मुक्तिबोध का यथार्थ-बोध सहानुभूति दाता का यथार्थ बोध नहीं बल्कि उस सहभोक्ता का है, जो स्वयं कटु यथार्थ के पर्वत के नीचे दब कर छटपटा रहा है अथवा यथार्थ के अथाह स्याम जल में डुबकी लगा रहा है। उनकी चेतना में आज का यथार्थ, भाव, विचार किसी-न-किसी कटु ऐन्द्रिय बिंब का रूप लेकर अवस्थित हो गया है। भूल का सिंहासनस्थ होना, ईमानदार का उपेक्षित रह जाना, चलचिलाते फासले, जिंदगी का कांटा हो जाना, शून्य के द्वारा काट खाया जाना, ढहती परंपरा में व्यक्ति का दब जाना, आचार्यों द्वारा सत्य के बहाने स्वयं को प्रस्थापित करना, बड़े-बड़े पोस्टरों के सामने आदमी का छोटा लगना, पुकार का लौट कर अपने पास आ जाना, भयानक चिंता के लंबे-लंबे काल खंड दिखना, आत्मा का कलुषित विरूपित हो जाना, जिन्दगी के घुटनों से बहती रक्त धारा का दिखलाई पड़ना, जिन्दगी के कमरों में अंधेरे का निरन्तर चक्कर लगाना, आदि कितने ही भाव-चित्र कवि के मानस-पटल पर आंकते हैं। ये सारे चित्र संश्लिष्ट हैं और इसलिए गोचर-बिंबों के साथ-साथ भावों एवं विचारों को उद्बुद्ध करने में समर्थ हैं।

जीवन यथार्थ से मुक्तिबोध की सिर्फ जाग्रत चेतना ही प्रभावित नहीं है, बल्कि वे अवचेतन के स्तर पर भी निरन्तर इस यथार्थ से ही जूझ रहे हैं। वस्तुतः बाहर का यथार्थ आभ्यन्तरीकृत होकर कवि के मन की भीतरी परतों में इस तरह अंकित हो गया है कि जागृति और स्वप्न दोनों ही स्थितियों में उसकी चेतना उसी के इर्द-गिर्द चक्कर काटती रहती है। कवि के सपनों में आलोड़न चलता रहता है। कई बार उन्हें यह भी पता नहीं चलता कि 'चल रहा स्वप्न या जाग्रति शुरू है।' स्पष्ट है कि कवि की चेतन-सत्ता तो यथार्थ के संवेदनों से आक्रांत है ही, उसकी अवचेतन सत्ता भी उससे बहुत गहरे तक प्रभावित हो चुकी है। जीवन-यथार्थ के संवेदनों ने उन्हें एक तरह से अभिभूत (आबसेस्ड) कर डाला है, किंतु इसके बावजूद वे प्रत्यक्ष संवेदनों को ज्ञानात्मक संवेदन बनाने में सक्षम रहे हैं। इस स्थिति का एक लाभ यह हुआ कि कवि मानसिक जगत के आभ्यन्तर-यथार्थ को देखने-परखने में समर्थ हो गया है। स्वप्न के भीतर स्वप्न को और विचारधारा के भीतर अन्य विचारधारा को देख पाने की दृष्टि का उन्होंने विकास कर लिया है—

स्वप्न के भीतर एक स्वप्न/विचारधारा के भीतर और/एक अन्य
सधन विचारधारा प्रच्छन्न!!/कथ्य के भीतर एक अनुरोधी
विरुद्ध विपरीत/नैपथ्य-संगीत!!/मस्तिष्क के भीतर एक मस्तिष्क
उसके भी अन्दर एक और कक्ष/कक्ष के भीतर/एक गुप्त प्रकोष्ठ और
कोठे के साँवले गुहान्धकार में/मजबूत संदूक/दृढ़ भारी भरकम
और उस संदूक के भीतर कोई बंद है/यक्ष/या कि ओरॉग उटाँग हाया!¹¹

व्यक्ति के अवचेतन में अवस्थित यह 'प्राकृत ओरॉग उटाँग' एक वास्तविकता है। यह ओरॉग उटाँग व्यक्ति के 'नग्न मन' का प्रतीक तथा विद्रूप असत्य शक्ति का प्रतिरूप है। ऐसे ही अनेक प्रतीक चित्रों में कवि ने मानव मन के भीतरी तहों के कटु-सत्यों को देख लिया है।

यथार्थ के दो रूप दिखलाई पड़ते हैं—एक ऊपरी या बाह्य तथा दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य यथार्थ गोचर जगत का, बाहरी घटनाओं का यथार्थ है, जबकि आभ्यन्तर-यथार्थ मानसिक जगत अथवा भाव-जगत का यथार्थ है।

जितना ही तीव्र है द्वन्द्व/क्रियाओं घटनाओं का/बाहरी दुनिया में
उतनी ही तेजी से भीतरी दुनिया में/चलता है द्वन्द्व

भाव-जगत के यथार्थ की अभिव्यक्ति कवि ने मानव-मात्र के जीवन में व्याप्त अनेक भाव-स्थितियों के चित्रण द्वारा की है। चिंता, विषादाकुलता, क्षुब्धता, त्रास, अहंग्रस्तता, ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, किंकर्तव्यविमूढ़ता द्वन्द्व, आत्महीनता, आत्मा की पशुता, भोगलिप्सा, अंध-स्वार्थपरता, अजनबीयत, अलगाव, पुंसत्वहीनता, विवेकहीनता आदि अनेकानेक भावों एवं भाव-स्थितियों का अंकन मुक्तिबोध की कविता में अनायास हो गया है।

आज के युग-जीवन में नाना प्रकार की चिन्ताएँ व्याप्त हैं। चिन्ता-रहित निश्चिन्त मन का दर्शन दुर्लभ है। इसलिए मुक्तिबोध की कविता में सूर्य 'चिंता की रुधिर सरिता' दीवारों पर प्रवाहित करता हुआ उगता है, 'भूख के घर व प्यास के आँगन' में 'चिंता की काली कुठरी' दृष्टिगत होती है। 'दिल में आँसू के फव्वारे', 'दिल के खून का टपकना', 'जिन्दगी के गर्म रास्तों पर' मन का सिकुड़ता जाना, विषादाकुल मन की सूचना देते हैं। हृदय स्तब्ध है और जो भी सामने दिखता है, वह क्षुब्ध है।¹² हर तरफ

भय और आतंक का वातावरण है तथा सभी त्रस्त हैं।¹³ ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, अहंकार आदि का तो कहना ही क्या है। वे खुलकर खेल रहे हैं।

‘अँधियारे मैदानों के इन सुनसानों में—
बिल्ली की, बाघों की आँखों सी चमक रहीं
ये राग-द्वेष, ईर्ष्या, भय, मत्सर की आँखें
ईर्ष्या रूपी औरत को पूँछ निकल आयी।।
इस द्वेष-पुरुष के दो हाथों के/चार और पंजे निकले।।
मत्सर को ठस्सेदार तेज दो बौद्धिक सींग निकल आये।

अब अहंकार उद्विग्न हुआ/मानव के सब कपड़े उतार/वह रीछ एकदम नग्न हुआ।’

प्रश्नों के सम्मुख किंकर्तव्यविमूढ़ता भी आज का एक ज्वलंत आभ्यन्तर यथार्थ है। चारों ओर प्रश्न हैं, समस्याएँ हैं, किन्तु उनके उत्तर या समाधान नहीं दिखाई पड़ते हैं। जब प्रश्नों के उत्तर नहीं मिलते हैं तो व्यक्ति को ऐसा लगता है, जैसे उसके सवाल उसके ही चेहरे पर चाँटे जड़ रहे हैं। सूझ-बूझ काम नहीं करती और व्यक्ति किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है। उत्तर गलत साबित होते हैं, ‘विवेक की शिरा-शिरा’ पीड़ित हो जाती है और जीवन भयानक हो उठता है।¹⁴ जहाँ किंकर्तव्यविमूढ़ता है, वहाँ द्वन्द्व का होना स्वाभाविक है। बाहर और भीतर तीव्र द्वन्द्व चलता ही रहता है।

बढ़ती हुई स्वार्थ-परता को देखकर कवि यह अनुभव करता है कि आत्मा नाम की चीज अब नहीं रह गई है। या तो व्यक्ति अपने को आत्मनिर्वासित महसूस करता है या आत्महीन, अथवा ऐसा लगता है कि आत्मा की मृत्यु हो गई है, आत्मा आज अपना अर्थ ही खो बैठी है। कवि के अनुसार ‘शोषण की अति मात्रा’ और ‘स्वार्थों की सुख-यात्रा’ जब-जब संपन्न होती है, आत्मा का अर्थ मर जाता है और सभ्यता मर जाती है। स्वार्थ आत्मा में पशुता को भरने में सफल हो जाता है। इस जघन्य स्थिति का अंकन कवि ने ‘लार टपकाती हुई आत्मा की कुतिया’ के रूप में किया है। आत्मा की यह कुतिया ‘स्वार्थ-सफलता की पहाड़ी ढाल पर’ हाँफती हुई चढ़ती है और ‘राह का हर कोई कुत्ता’ उसे छेड़ता है। आत्मनिर्वासन का यह हाल है कि ‘व्यक्तित्व अपना ही, अपने से खोया हुआ’ प्रतीत होता है। कभी व्यक्ति को ‘अपना चेहरा ही अजनबी दिखता’ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आत्मा ने अपनी पवित्रता खो दी है और वह ‘शक्तिहता’ हो गई है। आज आत्मा को हम खोते जा रहे हैं। कवि अपनी फैंटेसी में देखता है—

वह जो लेटी है शक्तिहता/विगता स्वर्णाभा विद्युत की/वह कौन?
हमारी आत्मा ही तो नहीं कहीं/जीवन की दीर्घ यात्रा में
हमने असावधानी से जिसको कहीं खो दिया है—
उसकी मुख महिमा/अब तक कैसी तप्तारुण/पीत कपोल पर श्यामल पीड़ाएँ दारुण,
उसने भयंकर वंचना-व्यथाएँ बहुत सही/मर गई हाय, वह द्युति रेखा।

‘स्वार्थों की सुख-यात्रा’ करने वाले लोग भोग-लिप्सा से भी ग्रस्त हैं। इनमें साहित्यिक, चिंतक, शिल्पकार आदि भी शामिल हैं। कवि के अनुसार ये सभी ‘रक्तपायी वर्ग से नाभिनाल-बद्ध होकर’ नपुंसक ‘भोग-शिराजालों में’ उलझे हुए हैं। बौद्धिक वर्ग पुंसत्वहीन हो गया है। वह जन-समस्याओं से अपने को काटकर स्वार्थ की सिद्धि में लगा रहता है। विद्रोह करने की उसमें हिम्मत नहीं है। क्योंकि कवि की दृष्टि

में बौद्धिक वर्ग 'क्रीतदास' हो गया है।¹⁵ दास अपने स्वामी के विरुद्ध बोलने की हिम्मत नहीं कर सकता इसलिए—

सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक्

चिंतक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं। उनके ख्याल से यह सब गप है।

सारे श्रेष्ठ मानवीय भाव दुर्गति को प्राप्त हो रहे हैं। कवि पाता है कि 'नपुंसक श्रद्धा सड़क के नीचे गटर में छिप गयी' है। करुणा के दृश्यों से आज का व्यक्ति मुख मोड़ लेता है। वह बदले 'स्वार्थों का टेरियार कुत्ता' पाल लेता है। 'भावना के कर्तव्य' त्याग देता है और 'हृदय के मन्तव्य' मार डालता है। बुद्धि का भाल फोड़ दिया जाता है; तर्कों के हाथ उखाड़ दिए जाते हैं; 'स्वार्थों के तल में' विवेक को बाधा डाला जाता है तथा व्यक्ति स्वयं अपने आदर्शों को खा जाता है।¹⁶

आज का व्यक्ति आत्मनिंदा, व्यक्तित्व-खंडन, हीनता-ग्रंथि, स्त्रीनिबोध, अपराध-भावना आदि से भी युक्त हो रहा है। सामाजिक जीवन में असफल होने के कारण वह दिवा-स्वप्नों में खो जाने को मजबूर हो रहा है। यथार्थ की चोट खाकर उसकी दृष्टि विरूपित हो जाती है। वह स्वयं को विरूपित करके देखने के साथ-साथ बाहर सब कुछ को भी विरूपित करके देखता है। चाँद के मुँह का टेढ़ा लगना इसी विरूपण का परिणाम है।

कवि ने भाव-जगत के यथार्थ का चित्रण 'शून्य' एवं 'अंधेरे' के चित्रण के माध्यम से भी किया है। समाधान के अभाव में आज व्यक्ति के भीतर शून्य घर कर गया है। यह शून्य असफलताओं, अभाव से घिरी हुई परिस्थितियों, शुभ परिणाम रहित प्रयत्नों, जीवन की व्यर्थता एवं अनगिन दुःखों, चोटों आदि से निर्मित है। यह व्यक्ति के भीतर घुसकर उसे खाता जा रहा है। शून्य की इस प्राणहर स्थिति से कवि भली-भाँति परिचित है—

1. भीतर जो शून्य है/उसका एक जबड़ा है,
जबड़े में माँस काट खाने के दाँत हैं/उनको खा जायेंगे/तुमको खा जायेंगे।
2. शून्यों से घिरी हुई पीड़ा ही सत्य है/शेष सब अवास्तव अयथार्थ मिथ्या है भ्रम है
सत्य केवल एक है जो कि/दुःखों का क्रम है।

यह शून्य उपजाऊ भी है। शून्य 'जगह-जगह करवट, कटार और दर्रात' उगाता बढ़ता है। इसके सहयोग से 'मौत अब नये-नये बच्चे जन रही है', जगह-जगह 'दाँतदार भूल' और 'हथियार बंद गलती' उत्पन्न कर रही है। शून्य की तरह 'अंधेरे' का साम्राज्य भी आज चारों ओर फैला हुआ है। जिन्दगी के कमरों में आज अंधेरा है। कवि अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए संघर्ष कर रहा है, किंतु वह सफल नहीं हो पाता, उसे लगता है किसी ने उसे 'अंधेरे' में पकड़कर मौत की सजा दे दी है।

मुक्तिबोध की कविता में 'अंधेरा' तथा अंधकारवाची शब्द कभी संज्ञा रूप में और कभी विशेषण रूप में बार-बार आते हैं। गहन रहस्यमय अंधकर, अंधकार-स्तूप, तल-खोड़-अंधेरा, अंधेरा जीना, अंधेरी गलियाँ, अंधियारें मैदान, अंधियारा कुआ, अंधेरी दूरियाँ, तिमिर गहवर, तम विवर, अंधरी निम्न कक्षा, अंधेरे शून्य टावर, कोठे का साँवला गुहान्धकार आदि शब्द मात्र परिवेश-चित्रण के लिए नहीं आये हैं। इनका प्रतीकार्थ व्यक्ति के आभ्यन्तर यथार्थ से जुड़ा हुआ है। वस्तुतः व्यक्ति के मानस-जगत का अंधकार ही परिवेश पर प्रक्षेपित हो गया है।

आभ्यन्तर-यथार्थ का शुभ-पक्ष भी संभव है। मुक्तिबोध ने अपने स्वप्न-चित्रों में भाव-जगत के शुभ पक्षों को उद्भासित होते हुए देखा है। मुक्तिबोध की कविता में अनेकानेक स्थलों पर फैंटेसी परिचालित हो जाती है और कवि उसमें जहाँ एक ओर युग-यथार्थ के कटु संवेदनों से साक्षात् होता है, वहाँ कभी-कभी उसे शुभ-कल्पना साकार होती हुई भी दिखलाई पड़ती है। ऐसे अवसरों पर वह कभी 'संकल्पों के ज्वलंत सरसिज', कभी 'ज्वालामुखियों के अतलों में विविध सूर्य झीलें' तथा झीलों में खिली हुई 'जन अनुभव की कमल श्रेणियाँ' देख लेता है, किन्तु ऐसे चित्रों की संख्या बहुत कम है।

मुक्तिबोध की कविता में बाह्य यथार्थ का भी भरपूर चित्रण हुआ है। बाह्य यथार्थ आभ्यन्तर-यथार्थ का ही प्रकट एवं गोचर रूप है। वस्तुतः आभ्यन्तर-यथार्थ के रूप में जिन भाव-स्थितियों का हम सामना कर रहे हैं। वे बाह्य यथार्थ की ही मानसिक परिणतियाँ हैं। मुक्तिबोध द्वारा चित्रित बाह्य यथार्थ का संबंध मुख्यतः सामाजिक अथवा भारतीय जन-जीवन के यथार्थ से जुड़ता है। समाज में स्पष्टतः दो वर्ग हैं, शोषित एवं शोषक वर्ग। कवि ने शोषित वर्ग की भीषण स्थिति का चित्रण संवेदना के गहरे स्तर पर उससे जुड़कर किया है। वे यह मानते थे कि आज की कविता में 'जब तक उत्पीड़ित और शोषित मुखों के बिंब नहीं दिखाई देते...तब तक हमारा कार्य अधूरा रहेगा।'

शोषित वर्ग के लोगों में विशेष रूप से निम्न एवं निम्नमध्य वर्ग के लोग आते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार मुक्तिबोध का जीवन निम्न वर्ग के अति साधारण लोगों के जीवन के समान था। आर्थिक दृष्टि से बहुत से मजदूर उनसे अच्छी हालत में थे। यही कारण है कि उनके द्वारा शोषित समाज के चित्रण में हमें बौद्धिक सहानुभूति मात्र नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि एक भुक्तभोगी द्वारा करुण यथार्थ-चित्रण मिलता है। शोषक वर्ग के प्रति उनकी घृणा भी उनकी जीवन-परिस्थितियों की देन है।

कवि के अनुसार आधुनिक भारतीय जन-जीवन 'शोषण की सभ्यता के नियमों के अनुसार बनी हुई संस्कृति के तिलिस्मी चक्रव्यूहों में फँसा हुआ है। निम्न मध्य वर्ग भौतिक सुविधाओं के लिए निरंतर संघर्ष करता हुआ कंकालप्राय शेष रह गया है। टेढ़े मुँह वाले ब्रह्म देव पर व्यंग्य करता हुआ कवि कहता है—

उस ब्रह्म देव का टेढ़ा मुँह—जिसकी छत्रच्छाया में रह
अधिकाधिक दीप्तिमान होते/धन के श्री मुख
पर निर्धन एक-एक सीढ़ी नीचे गिरते जाते।

नीचे गिरते जाने की निरन्तरता इस स्थिति को भयावह बना देती है। भविष्य की कोई आशा उसके पास शेष नहीं है। 'मेरे लोग' कविता में गंदी बस्तियों में रहने वाले निम्न वर्ग के लोगों की जिन्दगी का एक चित्र आया है—

गन्दी बस्तियों के पास नाले पार/बरगद है/उसी के श्याम तल में वे
रंभाती कई गायें/कि पत्थर ईंट के चूल्हे सुलगते हैं।
फुदकते हैं वहीं दो-चार/बिखरे बाल वाले बालकों के श्याम गन्दे तन
व लोहे की बनी स्त्री-पुरुष आकृतियाँ दलिदर के भयानक देवता के भव्य चेहरे वे
एक अन्य चित्र ('मुझे याद आते हैं' कविता में) द्रष्टव्य है—
दूर-दूर मुफलिसी के टूटे-फूटे घरों में/सुनहले चिराग बल उठते हैं;
आधी-अंधेरी शाम/ललाई में निलाई से नहा कर
पूरी झुक जाती है/थूहर के झुरमुटों से लसी हुई मेरी इस राह पर।

धुँधलके में खोये इस/रास्ते पर आते-जाते दिखते हैं।
लठ-धारी बूढ़े से पटेल बाबा/ऊँचे से किसान दादा
बोझा उठाये हुए/माएँ, बहनें, बेटियाँ.....

यह निम्न वर्ग समाज का वह अंग है, जहाँ भौतिक अभाव के कारण उपवास, मृत्यु, दैन्य, महा अपमान, चिंता, क्षोभ आदि का पागल यथार्थ हमेशा दिखता है। इस वर्ग की स्त्रियों को माएँ, बहनें, बेटियाँ कहने से साफ जाहिर है कि कवि ने इस वर्ग के साथ अपना रागात्मक संबंध स्थापित कर लिया है। यह कवि की जिन्दगी का अपना यथार्थ है।

इस वर्ग की स्त्रियों का कवि ने कई स्थलों पर मार्मिक चित्रण किया है। भयंकर गरीबी के कारण इन स्त्रियों को हर हालत में मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है। यहाँ तक कि जब मजदूर स्त्री गर्भवती होती है, तब भी उसे काम करना पड़ता है—

आँखों में तैरता है चित्र एक/उर में संभाले दर्द
गर्भवती नारी का/कि जो पानी भरती है वजनदार घड़ों से
कपड़ों को धोती है भाड़-भाड़/घर के काम बाहर के काम सब करती है,
ना अपनी सारी थकान के बावजूद/मजदूरी करती है। घर की गिरस्ती के लिए।

कवि को आश्चर्य तब होता है, जब वह पाता है कि इस भयंकर यथार्थ का सामना करते हुए भी उस स्त्री के 'पीले अवसाद भरे कृश मुख पर जाने किस (धोखे भरी) आशा की दृढ़ता है।' यह ऐसे वर्ग की स्त्री है, जिसके लिए भविष्य में कुछ भी नहीं है। सारा भविष्य ऐसी ही मजबूरियों से घिरा हुआ है। कभी इस वर्ग की स्त्री सामाजिक व्यवस्था के चक्रव्यूह में फँस कर और निरन्तर अभाव के बोझ के नीचे दबे रहने के कारण अपना संतुलन खो बैठती है। जब कटु यथार्थ का बोझ सहा नहीं जाता तो पागल हो उठना स्वाभाविक है। कवि ने ऐसी ही एक स्त्री की करुण तसवीर आँकी है—

वह पागल युवती सोयी है/मैली दरिद्र स्त्री अस्त-व्यस्त
जिसके बिखरे हैं बाल व स्तन है लटका सा—
उनमें जो उच्छृंखल था, विशृंखल भी था
उसने काले पल में स्त्री को गर्भ दिया
शोषिता व व्यभिचारिता आत्मा के पुत्र हुआ
स्तन मुँह में डाल मरा बालक/उसकी झाई
अब तब लेटी है पास उसकी परछाई।

सामाजिक व्यवस्था की इस परिणति को देखकर 'हॉरर' का भाव मन में उठता है। पूँजीवादी सभ्यता में निर्धन व्यक्तियों के सिर्फ शरीर-श्रम ही नहीं बिकते उनके सारे अधिकार बिक जाते हैं। वह विवश और चुप रहने को मजबूर होता है। इस वर्ग के पुरुषों का जितना शोषण होता है, स्त्रियों का कभी-कभी उससे भी ज्यादा होता है। स्त्रियाँ शोषक-वर्ग की वासना का शिकार बनने को मजबूर होती हैं। कभी अभाव-ग्रस्तता के कारण उसे स्वयं शरीर बेचने को मजबूर होना पड़ता है, कभी उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे बलात्कार का शिकार होना पड़ता है।

खूबसूरत कमरों में कई बार/हमारी आँखों के सामने/हमारे विद्रोह के बावजूद
बलात्कार किये गये/नक्षीदार कमरों में

भोले निर्व्याज नयन हिरणी से/मासूम चेहरे/निर्दोष तन बदन
दैत्यों की बाँहों के शिकंजों में/इतने अधिक जकड़े गये

स्पष्टतः खूबसूरत और 'नक्षीदार' कमरे अमीरों के हैं और भोला मासूम चेहरा किसी अभाव ग्रस्त असहाय स्त्री का।

शोषित वर्ग के स्त्री-पुरुष तो शोषित होते ही हैं, इस वर्ग के बच्चे भी शोषण के शिकार हो जाते हैं। उनका संघर्ष तो जन्म लेने से पूर्व ही शुरू हो जाता है। गर्भवती स्त्रियों को भी कठिन परिश्रम करना पड़ता है, निरन्तर अभाव में घुटना पड़ता है। इसलिए बहुत बार ये बच्चे गर्भ में ही मर जाने को अभिशप्त हो जाते हैं। 'कराहते गर्भों से कितने ही मृत बालक बीमार समाज के घरों में' जन्म लेते हैं। जो जीवित पैदा होते हैं, वे बाद में भूख और अभाव में जीते हैं। शरीर ढकने के लिए वस्त्र के नाम पर उनके पास चिथड़ा होता है। उचित देख-रेख के अभाव में वे 'बिखरे बाल' और 'याम गंदे तन' वाले बन उठते हैं। बचपन से ही उन्हें भी मेहनत-मजदूरी करनी पड़ती है। इस प्रकार निम्न एवं निम्न मध्य वर्ग के स्त्री-पुरुष, बड़े-बूढ़े, बच्चे सभी को कराहती हुई जिन्दगी जीनी पड़ती है। सामाजिक यथार्थ का यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू है शोषक वर्ग के लोग, उनकी प्रवृत्तियाँ एवं उनका विलासिता में डूबा समाज।

पूँजीवादी सभ्यता के शोषक वर्ग ने नगरों को जन्म दिया है। वहाँ का यथार्थ बिलकुल भिन्न प्रकार का दिखता है। वहाँ 'मुस्कराते विज्ञापन' हैं, 'दमकती रौनक का उल्लास' है, 'चहचहाती सड़कों की साड़ियाँ हैं। स्वर्गीय आभा से नगर का जादुई व्यक्तित्व चमकता रहता है। शहर में भी दोनों वर्गों के लोग रहते हैं। यहाँ के अमीर वर्ग सुविधाओं से भरी हुई, 'मौज-मजे' की जिंदगी जीते हैं। गरीब लोगों का यहाँ भी अलग मोहल्ला होता है। 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' नामक कविता में कवि ने सुविधा सम्पन्न मोहल्ले एवं हरिजन बस्ती का एक साथ ही चित्रण किया है। इस कविता में शहरी सुखी लोगों के मोहल्ले का प्रतीक है—'किंग्सवे की मशहूर जिन्दगी'। वहाँ 'चाँदनी खूबसूरत मैगजीन पृष्ठों सी' तथा 'नारियों के उधरे हुए अंगों सी' लगती है। वहाँ प्रकाश सुगंधित है, चीजें रंगीन हैं। वह भव्य मकानों, रेफ्रिजरेटोरों, विटामिनों, रेडियोग्रामों की दुनिया है। वहाँ 'पावडर पुते' लोग रहते हैं। किंतु यही चाँदनी हरिजन मुहल्ले में कुहासे के भूतों की 'साँवली चुनरी' जैसी लगती है तथा चाँद कंजी आँख, गंजे सिर और टेढ़े मुँह वाला प्रतीत होता है। भूखे और प्रताड़ितों के लिए चाँद का मुँह सीधा हो भी कैसे सकता है। शहर की ऊपरी चमक-दमक भले ही जादू भरी लगती हो, किंतु कवि को वह यथार्थ नहीं प्रतीत होता। कवि यह स्पष्ट देख लेता है कि—

रंगीन मायाओं का प्रदीप्त पुंज यह/नगर है अयथार्थ

मानवी आशा औ/निराशा के परे की चीज/रूप में अरूप।

फिर यथार्थ क्या है? कवि को लगता है, शहर का यथार्थ यह ऊपरी चमक-दमक नहीं, बल्कि यथार्थ तो अंदर का वासी कंकाल मात्र शेष प्राणी है। उसका रोग जीर्ण शरीर 'एक्सरे की तस्वीर' के समान दिखता है। यह जानकर कवि को अपने वस्त्रों पर ग्लानि होती है और नगरों के सौम्य सुसंस्कृत चेहरे से मन उचट जाता है। यह सुसंस्कृत चेहरा शोषकों का है। शहर की भव्यता के निर्माता मजदूर वर्ग कंकालमात्र होकर जी रहे हैं। इसलिए कवि को शहर का 'अमूर्त-सा-तिलस्मी आभालोक शोषण की सभ्यता का राक्षसी दुर्ग-रूप' प्रतीत होता है। नगरीकरण की प्रवृत्ति से अमीरों को ही लाभ हो रहा है; गरीबी वहाँ और भी उपेक्षित होकर गन्दी बस्तियों में कीड़े-मकौड़ों की तरह जीने को मजबूर हो रहे हैं। औद्योगीकरण एवं यात्रिकता से लाभ सिर्फ पूँजीपतियों को हुआ है, गरीब जनता इनसे और भी शोषित हुई है।

मुक्तिबोध का यथार्थ चित्रण सामान्य स्तर का नहीं है। वह 'हॉरर' या त्रास उत्पन्न करता है। निम्न एवं निम्न मध्य वर्ग का जीवन भौतिक-सुविधाओं के अभाव में त्रासद हो गया है। उसके त्रास को बढ़ाने के अन्य कारण भी हैं। सबसे बड़ा कारण तो यही है कि इस त्रासद स्थिति से निकलने का उनके पास कोई मार्ग नहीं है। इस स्थिति से बचने के लिए वह कहीं न्याय माँगने भी नहीं जा सकता। राजनीतिज्ञों से भी वह वर्ग निराश है, क्योंकि उनकी राजनीति मुख्यतः सत्ता की राजनीति है। बुद्धिजीवी एवं बाकी अधिकारी स्वार्थ से चिपके होने के कारण सत्ता से डरते हैं और उनके खिलाफ आवाज नहीं उठा सकते। समाज के वे लोग जो इस स्थिति के विरुद्ध कदम उठा सकते थे वे सब चुप हैं—

सब खामोश/मनसबदार/शाइर औ, सूफी,

अल गजाली इब्ने सिना, अलबरूनी

आलिमों, फाजिल सिपहसालार, सब सरदार हैं खामोश।

यह स्थिति त्रास को ही जन्म देती है। सत्ताधारी की राक्षसी स्थिति को मुक्तिबोध ने 'त्रास' के आलंबन के रूप में प्रस्तुत किया है। शोषण के वीर्य-बीज से दो सिर के चार पैर वाले राक्षस बालक की उत्पत्ति हुई है। वही बालक विद्रूप सभ्यताओं का लोभी संचालक बन गया है। इसको देखकर मानव मस्तिष्क से कुछ और दानव निकल आये हैं। मुक्तिबोध की दृष्टि में राजनीतिक वर्ग के लोग 'मानव मस्तक से निकले ब्रह्म राक्षस' हैं। उनमें से कइयों ने गाँधी जी की टूटी चप्पल पहन ली है।¹⁷

इस त्रास को बढ़ाने में 'भूल गलती' का भी हाथ है। कवि को लगता है कि ईमान स्वयं आज 'भूल गलती' के द्वारा कैद कर लिया गया है। सभी के दिल पर आज 'भूल गलती' जिरह बख्तर पहनकर बैठी हुई है। वर्तमान युग की परिस्थितियों ने कुछ और नये कारण जोड़ दिए हैं, जो त्रास उत्पन्न करने वाले हैं जैसे, बौद्धिक विकास के साथ वैचारिक एवं चारित्रिक पतन, यंत्र-सत्ता के सामने व्यक्ति की निरीहता, आदर्श विखंडन आदि। आज हम जिस समाज में रह रहे हैं वहाँ वस्तुतः कोई धर्म, कोई आदर्श, कोई दर्शन नहीं है। इस मूल्यहीनता ने बर्बर भोगवाद को जन्म दिया है। भोग से रोग का भय जुड़ा हुआ है और इस तरह आज पूरी सभ्यता रुग्ण होकर मृत्यु के किनारे खड़ी है।

आभ्यन्तर-यथार्थ सभी त्रासद परिणतियों को जन्म दे रहा है। अपने अनुभव-सत्यों को प्रस्थापित नहीं कर पाना, आत्मज सत्य का परित्याग करना, हीनता ग्रंथि से युक्त होकर दिवा-स्वप्नों में खोने को विवश होना, असफल अहं का ग्लानि बोध में परिणत हो जाना, अपराध भावना से ग्रसित होना, आत्मनिंदा करना, व्यक्तित्व का विखंडित हो जाना, स्वयं को विरूपित पाना और सबको विरूपित करके देखना, दुःखद भावों से घिरे रहना आदि ऐसी ही परिणतियाँ, जो त्रासद यथार्थ को सूचित करती हैं।

मुक्तिबोध के यथार्थ-बोध की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे आज के **युग-यथार्थ को गतिशील काल के परिप्रेक्ष्य में देखने में समर्थ हैं**। आज का यथार्थ सिर्फ आज का ही यथार्थ नहीं है, उसके पीछे भूतकाल की एक व्यापक पृष्ठभूमि है। आज का कटु यथार्थ बीते हुए काल के यथार्थ का ही विकसित, विकराल रूप है। इसी से इस निष्कर्ष पर भी आसानी से पहुँचा जा सकता है कि यदि स्थिति में परिवर्तन नहीं हुआ और सुधार के प्रयत्न नहीं हुए तो भविष्य का यथार्थ क्या होगा। भविष्य अचानक आकर खड़ा नहीं होता, वह तो वर्तमान के साथ ही निरंतर निर्मित हो रहा होता है। इसलिए मुक्तिबोध का यथार्थ-चित्रण किसी काल विशेष का यथार्थ बोध नहीं है, बल्कि उसमें सदियों और युगों की पीड़ा और वेदना अपने ज्वलन्त बिंब फेंकती है—

वेदना नदियाँ/जिनमें कि डूबे हैं युगानुयुग से/मानों कि आँसू
पिताओं की चिन्ता का उद्भिन्न रंग भी/विवेक पीड़ा की गहराई बेचैन,
डूबा है जिनमें श्रमिक का संताप।

यदि भारतीय जन-जीवन का इतिहास देखें तो हम पाते हैं कि वह सिर्फ आज ही प्रताड़ित नहीं है बल्कि युगों-युगों से वह प्रताड़ना का शिकार बनता रहा है। जब राजतंत्र था तब भी और अब जब प्रजातंत्र है तब भी। जन-शोषण की एक जघन्य-प्रक्रिया सदा से विद्यमान रही है। इस तथ्य का दर्शन ही कवि को दर्द और व्यथा से भर देता है। यथार्थ उसके सामने क्रमशः पूँजीभूत स्याह पहाड़ के समान दिखलाई पड़ता है। कवि गतिशील काल के यथार्थ को आजकल और परसों के यथार्थ के ढेर के रूप में देख लेता है—

आज के अभाव के, व कल के उपवास के/व परसों की मृत्यु के...
दैन्य के, महाअपमान के, व क्षोभ के/भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का
दिखता पहाड़ स्याह।

यथार्थ के स्याह पहाड़ का दिखलाई पड़ना, जहाँ एक ओर बीते हुए काल के अभावों, उपवासों और मृत्यु को सूचित करता है, वहाँ इससे आने वाले कल के यथार्थ की भी झाँकी मिल जाती है; आज का अभाव आने वाले कल का उपवास बनेगा और वही उपवास परसों मृत्यु में बदल जाएगा। इसी प्रकार दैन्य, अपमान, चिन्ता सिर्फ कल की ही समस्या नहीं थी और न सिर्फ आज की समस्या है, बल्कि यह गतिशील काल में राशिकृत होकर 'स्याह पहाड़' के रूप में परिवर्तित हुआ है। यदि स्थिति नहीं बदली तो यथार्थ का यह पहाड़ भविष्य में कुछ और स्याह, कुछ और ऊँचा होगा, इसमें संदेह नहीं। कवि पाता है कि इतिहास द्वारा निर्मित मानवीय समस्याओं का यह पहाड़ अपरिहार्य और दुर्विनीत है। चाहे विद्रोह करने वालों के घुटनों से रक्त स्रवित होने लगे, यह अडिग खड़ा रहता है। इसी से इस यथार्थ की भयंकरता का अनुमान लगाया जा सकता है।

मुक्तिबोध के यथार्थ-बोध की एक अन्य विशेषता यह है कि वह किसी सीमित क्षेत्र का यथार्थ बोध नहीं है। वे हमेशा एक व्यापक 'कैनवस' लेते हैं। मुक्तिबोध की कविता में शोषित वर्ग की पीड़ा का अंकन है, किन्तु इतना ही उनके काव्य का यथार्थ नहीं; उसमें शोषकों के घिनौने शोषण का इतिहास चित्रित है, किन्तु यह भी इति नहीं है; उसमें आभ्यंतर एवं बाह्य अनेक त्रासद स्थितियों का अंकन है। वस्तुतः उनका यथार्थ-बोध बहुआयामिक है। उसमें परिवेश, समाज, अस्तित्व, विज्ञान, इतिहास आदि का बोध भी सम्मिलित है। उनकी कविता में परिवेश की विसंगतियों, समाज की विडंबनाओं, अस्तित्व के संकटों आदि का चित्रण तो है ही; व्यक्ति के आत्म-संघर्ष, मुक्ति की आकांक्षा आदि का भी यथार्थ चित्रण है। उनकी कविताओं में विश्व या ब्रह्मांड के स्वरूप एवं उसकी रचना से संबंधित अनेक तथ्य भी चित्रित हुए हैं। अणु-संरचना, नक्षत्र-विज्ञान, गुरुत्वाकर्षण, विराट् दिक् और काल के 'थियोरम', रसायन, भूगर्भ, समुद्र-तल आदि के अनेक संदर्भ उनके काव्य में आए हैं। ये सभी वैचारिक जगत के यथार्थ को सूचित करते हैं। नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के द्वारा कवि अपने यथार्थ-बोध को विस्तृत करना चाहता है तथा सत्य के गत्यात्मक रूप को पकड़ना चाहता है। सच्चे अर्थों में विश्व-चेतस् होने के लिए यह आवश्यक है। इतिहास बोध के माध्यम से कवि ने जहाँ एक ओर गतिशील काल के परिप्रेक्ष्य में यथार्थ को देखा है, वहाँ वे इसके माध्यम से 'जीवित अतीत' की पहचान कर पाने में सफल हुए हैं। कुल मिलाकर उनका यथार्थ-बोध एक व्यापक भाव-बोध का रूप धारण कर लेता है।

फैंटेसी

उपर्युक्त विवेचन से मुक्तिबोध के संबंध में यह बात निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है कि वे यथार्थ बोध के कवि हैं। जीवन की वास्तविकताओं से वे प्राणपण से जूझ रहे हैं और काव्य में उन्हीं की अभिव्यक्ति भी कर रहे हैं। किन्तु इस संबंध में एक प्रश्न यह उठता है कि काव्य-वस्तु के स्तर पर जीवन-यथार्थ को इतना महत्त्व देते हुए भी मुक्तिबोध ने अभिव्यक्ति के स्तर पर फैंटेसी शिल्प को अपना माध्यम क्यों चुना? क्या फैंटेसी का माध्यम एक अयथार्थ माध्यम नहीं है? इस संबंध में स्वयं मुक्तिबोध ने विचार किया है अतः पहले हमें उनके विचारों को ही देखना चाहिए। मुक्तिबोध ने फैंटेसी शिल्प को भाववादी शिल्प माना है, जिसे रोमांटिक शिल्प भी कहा जा सकता है। यह यथार्थवादी शिल्प से भिन्न होता है। यथार्थवादी शिल्प में जीवन-यथार्थ के बिंब जीवन से सीधे लिए गए होते हैं। इस शिल्प में वस्तु-पक्ष के चित्रण द्वारा भावपक्ष का उद्घाटन करना सर्जक का लक्ष्य होता है, जबकि भाववादी शिल्प में 'कल्पना अधिक स्वतंत्र होकर जीवन की स्वानुभूत विशेषाओं को समष्टि चित्रों द्वारा, प्रतीक चित्रों द्वारा प्रस्तुत करती है।' इस शिल्प में वस्तु-पक्ष अत्यधिक गौण एवं अप्रत्यक्ष हो उठता है। मुक्तिबोध फैंटेसी-शिल्प के अस्पष्टता आदि दोष से भी परिचित थे। 'कामयानी : एक पुनर्विचार' में एक स्थल पर वे फैंटेसी के संबंध में लिखते हैं—“यथार्थ के प्रति न केवल अयथार्थ दृष्टिकोण दिखाई देता है, वरन् यथार्थ को उपस्थित करने का तरीका काल्पनिक तथा फैंटेसी प्रधान भी हो सकता है। इसका फल यह होता है कि यथार्थ अपनी विकृतावस्था में उपस्थित होता है—इतना कि बहुत बार उसे पहचानना भी मुश्किल हो जाता है। उस पर वृथा दार्शनिकता, अति मनोवैज्ञानिकता, अस्पष्ट प्रतीक विधान तथा अर्थहीन भावुकता के आवरण पर आवरण चढ़ाए जाते हैं।” अभिप्राय यह है कि यदि सर्जक 'फैंटेसी-शिल्प का सही प्रयोग न कर सके तो इससे रचना अपने लक्ष्य तक पहुँचने में असफल रहेगी। यदि हम फैंटेसी के सिर्फ इसी पक्ष को देखें तो इसे यथार्थ-चित्रण का सही माध्यम नहीं कहा जा सकता है। किन्तु उपर्युक्त तथ्य फैंटेसी-शिल्प के सिर्फ एक पक्ष को व्यक्त करता है। जो कमियाँ एवं खतरे इसमें दिखलाई पड़ते हैं उनसे बचा भी जा सकता है।

मुक्तिबोध ने फैंटेसी-शिल्प को सोच-समझकर चुना है। फैंटेसी का माध्यम उनके यथार्थ बोध को धूमिल नहीं करता बल्कि उसे और गहराता है। उनकी फैंटेसी यथार्थ से संबद्ध है। इसके साथ ही उन्हें यह विश्वास भी है कि फैंटेसी कभी न कभी वास्तव होगी—

मैं अपनों से घिर उठता हूँ/मैं विचरण करता सा हूँ एक फैंटेसी में

यह निश्चित है फैंटेसी कल वास्तव होगी।

यह आवश्यक नहीं कि यथार्थवादी शिल्प के द्वारा यथार्थवादी दृष्टिकोण को ही अभिव्यक्ति मिले। उनके अनुसार, “यथार्थवादी शिल्प और यथार्थवादी दृष्टिकोण में अंतर है। यह बहुत ही संभव है कि यथार्थवादी शिल्प के विपरीत जो भाववादी शिल्प है—उस शिल्प के अंतर्गत, जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी रही हो।” उनके साथ ऐसा ही हुआ है। उन्होंने भाववादी शिल्प को अपनाया अवश्य है, किन्तु उनकी दृष्टि यथार्थवादी है।

इस शिल्प को अपनाने के कारण उनकी कविताओं में वस्तु-पक्ष, विभाव-पक्ष अथवा जीवन-यथार्थ के बिंब प्रत्यक्ष रूप में न आकर भाव रूप में, प्रतीक रूप में आये हैं। यथार्थ के जिन बिंबों की ऊपर चर्चा हुई है, वे जीवन के प्रत्यक्ष यथार्थ को ध्वनित तो करते हैं, किन्तु वे सीधे जीवन और जगत से नहीं लाए गये हैं। जीवन और जगत का यथार्थ पहले कवि की चेतना में आभ्यंतरीकृत हुआ है फिर भावरूप बनकर, फैंटेसी-शिल्प का सहारा लेकर, बिम्बावलियों के रूप में कविता में उतर आया है। यथार्थ के आभ्यंतरीकृत होने एवं भावरूप बनने की प्रक्रिया में ही यथार्थ-जगत के बिंब प्रतीक का रूप धारण कर लेते हैं। बहुत बार इस प्रक्रिया में जीवन-यथार्थ के बिंब विकृत हो उठते हैं। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं के संदर्भ में इस तथ्य को स्वीकारा है—

इसलिए मेरी ये कविताएँ/भयानक हिडिंबा हैं

वास्तव की विस्फारित प्रतिमाएँ/विकृताकृति बिंबा हैं।

प्रश्न है कि वास्तव की सही तस्वीर न उतारकर कवि ने उसकी 'विस्फारित प्रतिमा' क्यों उतारी है। इसका उत्तर यह है कि वे ऐसा करके यथार्थ की भयावहता को चित्रित करना चाहते हैं, ताकि इससे उनके पाठक परिचित हों सिर्फ परिचित ही न हों, उसके लिए सोचें, कुछ करने पर मजबूर हों। मुक्तिबोध फैंटेसी को सोद्देश्य मानते हैं। फैंटेसी में वस्तुतः एक भावनात्मक उद्देश्य समाया रहता है। वास्तव की विस्फारित प्रतिमा का अंकन संवेदनात्मक उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायक हो सकता है, इसलिए कवि ने ऐसा किया है।

फैंटेसी-शिल्प को अपनाने के कई लाभ भी हैं। मुक्तिबोध के अनुसार इससे 'लेखक वास्तविकता' के प्रदीर्घ चित्रण से बच जाता है। असाधारण मनःस्थिति के चित्रण में यह विधा विशेष रूप से उपयोगी है। फैंटेसी में कल्पना का सहयोग होता है, इसलिए आवश्यकतानुसार देश और काल का अतिक्रमण संभव है। यह एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा प्रदीर्घ-चित्रण के बिना भी बहुरूप एवं गतिशील यथार्थ की उद्देश्य परक झाँकी मिल सकती है। इससे प्रतीकात्मक बिंबों की बहुलता बढ़ जाती है; ऐसे बिंबों के द्वारा बहुत कम में ही बहुत ज्यादा कहना संभव हो पाता है। फैंटेसी, अयथार्थ में छल्लाँग नहीं है बल्कि यह 'अनुभव की कन्या' है। जीवन-यथार्थ के अनुभवों से उद्भूत होने पर भी उसका स्वतंत्र व्यक्तित्व है। "फैंटेसी जो शुरू में एक आभास रूप होती है वह तुरन्त ही अनेक चित्रों की सुसंगत पात बनने लगती है। एक-एक मर्म के आस-पास ये चित्र संगठित होकर प्रवाहमान होते हैं।" मुक्तिबोध ने फैंटेसी को इन्हीं विशेषताओं से युक्त करके देखा है और इसका उपयोग इसी रूप में किया है।

फैंटेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों, अनुभूत जीवन-समस्याओं, 'इच्छित विश्वासों' तथा इच्छित जीवन स्थितियों का प्रक्षेप होता है। कभी-कभी यह प्रक्षेप इतने मिले-जुले रूप में होता है कि प्रक्षिप्त सामग्री को अलग-अलग पहचानना दूभर हो जाता है। उसमें जीवन-यथार्थ भी उद्भासित होकर आ जाते हैं। कभी-कभी फैंटेसी में जीवन की वास्तविकता कथा रूप में भी प्रस्तुत होने लगती है। फैंटेसी में आई हुई कथा, उसके पात्र एवं कार्य व्यापार जीवन यथार्थ के प्रतीक रूप बन जाते हैं। इस प्रकार फैंटेसी जीवनानुभवों से जुड़ी रहती है, उससे विच्छिन्न नहीं होती। यदि जीवन से हारा हुआ व्यक्ति कल्पना की दुनिया में खो जाने के लिए फैंटेसी का सहारा लेता है तो वह वास्तविक जीवन से कट भी सकता है, किन्तु मुक्तिबोध अपनी फैंटेसी में भावनात्मक उद्देश्य को नहीं भूलते। इसलिए उनकी फैंटेसी वास्तविक जीवन से कटने के कारण नहीं बल्कि उससे घनतर रूप से जुड़े होने एवं जीवन-यथार्थ के तीव्र आघात

सहने के कारण उत्पन्न होती है। फैंटेसी वर्षों से बुर्जुआ वर्ग का शिल्प रहा है। चूँकि मुक्तिबोध इसके प्रयोग में अत्यन्त सावधान हैं, इसलिए इस शिल्प को चुनने के बावजूद वे यथार्थ-दृष्टिकोण से संपृक्त रह सके। उनकी कविताओं में फैंटेसी के परदे में जीवन-तथ्य झाँक-झाँक उठते हैं। परिणामतः फैंटेसी उनकी सीमा नहीं शक्ति बन गई है।

यदि इस शिल्प के ग्रहण करने का कोई अपरिहार्य दोष शेष रह जाता है तो वह यही है कि इस शिल्प में 'आम जनता का साहित्य' नहीं लिखा जा सकता। मुक्तिबोध की कविताएँ आम जनता को संबोधित करके लिखी भी नहीं गई हैं। उन्होंने यथार्थ के विस्फारित बिंबों का प्रेषण मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों तक करना चाहा है। वस्तुतः उनकी दृष्टि में यही एक वर्ग है, जो कटु यथार्थ की भयावहता से लड़ सकता है।

मुक्तिबोध के यथार्थ-चित्रण के संबंध में एक प्रश्न यह भी विचारणीय है कि क्या उनका यह चित्रण किसी स्पष्ट लक्ष्य की तरफ उन्मुख है या नहीं। मुक्तिबोध के काव्य-संबंधी विचारों को देखने से पता चलता है कि रचना की सोद्देश्यता उन्हें मान्य है। फैंटेसी के संबंध में विचार करते समय उन्होंने स्पष्ट रूप में 'संवेदनात्मक उद्देश्य' की बात कही है। कला सृजन को वे स्वतंत्र एवं निरपेक्ष कर्म नहीं मानते। उनके अनुसार, 'स्वतंत्रता समाज सापेक्ष और समाज-स्थिति सापेक्ष हैं।' समाज सापेक्षता कला की सोद्देश्यता का ही संकेत देती है। साहित्य-सृजन उद्देश्यपूर्ण होना चाहिए। इसका संकेत 'नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र' में उन्होंने कई स्थलों पर दिया है—

1. जिन्दगी जीने और ले चलने का उत्साह और दीप्ति हमें काव्य से मिलने चाहिए—कविता यदि जीवन-वाहन का लालटेन हो सके, इसका हमें प्रयत्न करना चाहिए।
2. साहित्य का उद्देश्य सांस्कृतिक परिष्कार है, मानसिक परिष्कार है।
3. साहित्य का यह कार्य है कि वह जनता के बुद्धि तथा हृदय की भूख-प्यास का चित्रण करे और उसे मुक्ति-पथ पर अग्रसर करे।

समाहार

मुक्तिबोध का यथार्थ चित्रण भी सोद्देश्य है। फैंटेसी के माध्यम से जीवन-यथार्थ का चित्रण कई संवेदनात्मक उद्देश्यों से जुड़ जाता है। शोषित-उत्पीड़ित व्यक्तियों से एकात्म होने की भावना भरना, उसकी मुक्ति के लिए उपाय सोचना एवं दूसरों को सोचने पर मजबूर करना, प्रत्येक प्रकार के शोषण की निन्दा करके शोषण की प्रक्रिया को समाप्त करने की प्रवृत्ति को उभारना, अन्याय के विरुद्ध भर्त्सना, आक्रोश, विद्रोह तथा क्रांति की भावना को जन्म देना, सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को सही भूमिका का संकेत देना, आत्म-चेतस् एवं विश्व-चेतस् होने की सलाह देना आदि ऐसे ही संवेदनात्मक या भावनात्मक उद्देश्य हैं। वे ऐसे साहित्य की रचना को उचित मानते थे, जो 'शोषण और सत्ता के घमण्ड को चूर करने वाले स्वातंत्र्य और मुक्ति के गीतों वाला साहित्य' हो। राजनीति की तरह साहित्य से भी वे सामाजिक सुधार के कार्यक्रम की अपेक्षा रखते थे। साहित्य रचना से उन्हें बहुत अधिक आशाएँ थीं। एक स्थल पर वे लिखते हैं—“कला को अपने औजार उठा लेने चाहिए। शायद बारूद भी जरूरी है, जिससे कि चट्टानें तोड़ी जा सकें और युग के स्पंदनशील सप्राण भाव-निर्झरों को मुक्त किया जा

सके, जो चट्टानों के नीचे दबे हुए हैं।” निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि उनका यथार्थ-बोध किसी आत्मग्रस्त व्यक्ति का दुःख या ‘नाइट मेयर’ नहीं है, वह उद्देश्य की ओर सक्रिय है। उनकी कविताओं में चित्रित यथार्थ पाठकों में मात्र आतंक या ‘हॉर’ नहीं उत्पन्न करता, बल्कि उसे अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति की खोज की ओर उन्मुख करता हुआ ‘जुझारू’ होने की प्रेरणा देता है।

आलोचकों ने मुक्तिबोध को यथार्थवादी कवि के अतिरिक्त, अतियथार्थवादी, अस्तित्ववादी, रहस्यवादी आदि भी कहा है। फैंटेसी शिल्प के कारण डॉ. जगदीश गुप्त उन्हें अतियथार्थवादी सिद्ध करते हैं। मुक्तिबोध पर किसी सीमा तक अतियथार्थवाद का प्रभाव माना जा सकता है, किन्तु वे अतियथार्थवादी हैं यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता। मुक्तिबोध की फैंटेसी का रचना-विधान अतियथार्थवादियों के स्वतः चालित लेखन से भिन्न है। स्वतः चालित लेखन में संशोधन-परिशोधन के सचेत अनुशासन का अभाव होता है, जबकि मुक्तिबोध अपनी किसी बात को अंतिम सत्य नहीं मानते थे। वे अपनी कविता में संशोधन-परिशोधन करते थे। मुक्तिबोध की फैंटेसी ‘अनुभव की कन्या है’, न कि अवचेतन प्रलाप। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार मुक्तिबोध की रचनाओं में ‘अस्तित्ववाद की छाया’ और ‘रहस्यवाद का आलोक’ है, किन्तु ‘छाया’ और ‘आलोक’ देखकर उन्हें अस्तित्ववादी एवं रहस्यवादी नहीं माना जा सकता। वस्तुतः मुक्तिबोध यथार्थ-बोध के कवि हैं। मुक्तिबोध की चेतना जिस किसी भी दिशा में संचरण करती है उसकी दृष्टि यथार्थ परक ही रहती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ—

1. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध—(द्वितीय संस्करण) पृ. 20
2. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध—(द्वितीय संस्करण) पृ. 130
3. एक साहित्यिक की डायरी—(द्वितीय संस्करण) पृ. 31
4. एक साहित्यिक की डायरी—(द्वितीय संस्करण) पृ. 49
5. वही, पृ. 70
6. वही, पृ. 42
7. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. 20
8. नयी कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध, पृ. 21
9. ‘पल-भर मैं सब में से गुजरना चाहता हूँ/प्रत्येक उर में से तिर आना चाहता हूँ।
चाँद का मुँह टेढ़ा है—(चतुर्थ संस्करण) पृ. 63
10. चाँद का मुँह टेढ़ा है—(चतुर्थ संस्करण) पृ. 65
11. चाँद का मुँह टेढ़ा है—(चतुर्थ संस्करण), पृ. 14
12. आँखें देखती रहतीं/हृदय यह स्तब्ध है/कौन है जो सामने है, क्षुब्ध है।।
13. जमाना खराब है/हवा बदमस्त है/बात साफ-साफ है। सब यहाँ त्रस्त हैं।
14. सवालात, सवालात, सवालात/अपने ही गोरे-गोरे चेहरे को खूब मार बैठते हैं। अपने ही काले-काले हाथ/सूझ-बूझ/जूझ-जूझ पड़ती/जहरीली गैस उगलती है गलती/भयानक हुई जाती/जिन्दगी की सड़कों।
15. बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास/किराये के विचारों का उद्भास।

16. देखिये, चाँद का मुँह टेढ़ा है (चतुर्थ / संस्करण) प. 242-243 : यद्यपि उपर्युक्त बातें काव्य-नायक ने अपने आदर्शवादी-सिद्धांतवादी मन को संबोधित करते हुए कहीं हैं, किन्तु यह स्थिति सिर्फ उस पर ही नहीं लागू होती बल्कि आज समाज के भी आदर्शवादी-सिद्धांतवादियों का यही हाल है।
17. शोषण के वीर्य-बीज से अब जनमे दुर्दम/दो सिर के चार पैर वाले राक्षस बालक/मानव मस्तिष्क में से निकल/ कुछ ब्रह्म राक्षसों ने पहनी/गाँधी जी की टूटी चप्पल चाँद का मुँह टेढ़ा है-पृ. 42

(ख) 'अंधेरे में' : विश्लेषण एवं मूल संवेदना

'अंधेरे में' कविता की मूल संवेदना, मूल भववस्तु अथवा कथ्य क्या है, इसका निर्धारण करने के लिए इस जटिल, लंबी कविता का विश्लेषण आवश्यक है। विभिन्न आलोचकों ने इस कविता का अपने-अपने ढंग से विश्लेषण किया है। बिंबों एवं प्रतीकों के अर्थग्रहण की भिन्नता के कारण कविता का मूल कथ्य बदल जाता है। कविता की जटिलता भी इसमें सहायक हुई है।

अर्थ-ग्रहण की दृष्टि से अभी तक इस कविता का निर्णयात्मक एवं निश्चयात्मक रूप से विश्लेषण संभव नहीं हुआ है। विभिन्न आलोचकों द्वारा अर्थ-विश्लेषण की आद्यन्त एकरूपता के उपलब्ध न होने से ही संवेदना के स्तर पर भिन्नता दृष्टिगोचर होने लगती है। यह तथ्य ही इस कविता की जटिलता का प्रमाण है, साथ ही इसकी संभावनाओं का भी। मुक्तिबोध की लंबी कविताएँ सुबोध नहीं हैं। पाठकों के सामने इन कविताओं को समझने की समस्या उठ खड़ी होती है। शमशेर बहादुर सिंह लिखते हैं—“मुक्तिबोध के साथ मेरी समस्या होती है अक्वल तो पढ़ने की, रचना की दीर्घकाय विराटता हताश करती है। दूसरी समस्या होती है समझने की।” किन्तु समझने की समस्या बनी नहीं रहती। उनके ही अनुसार, “अर्थ और भाव व्यंजनाएँ हृदयंगम कर लेने के बाद, कविता हृदय पर, चेतना पर हावी हो जाती है। आप मुक्तिबोध के चित्रों के पैटर्न समझ लेने के बाद उन्हें उम्र भर नहीं भूल सकते।” अर्थात् पाठक यदि मुक्तिबोध की लंबी कविताओं के चित्रों के पैटर्न समझ लें तो कविता सुबोध हो उठती है, किन्तु रामविलास शर्मा के मत में ऐसा मानना 'मुक्तिबोध की सुबोधता के बारे में जरूरत से ज्यादा आशावादी' हो उठना होगा। वस्तुतः मुक्तिबोध की लंबी कविताएँ सर्वसाधारण पाठकों के लिए सुबोध नहीं हैं। किन्तु ये कविताएँ इतनी जटिल या दुर्बोध भी नहीं हैं कि साहित्य के विशिष्ट एवं अन्वेषी पाठक इन कविताओं का संतोषप्रद अर्थ-विश्लेषण न कर सकें।

'अंधेरे में' मुक्तिबोध की सबसे लंबी कविता है। इसे 'आधुनिक युग की कविताओं में सर्वोपरि', 'स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का दहकता इस्पाती दस्तावेज' (शमशेर बहादुर सिंह), 'गोएर्निका इन वर्स' (प्रभाकर माचवे) 'नयी कविता की चरम उपलब्धि' (नामवर सिंह) आदि कहा गया है। यह लंबी कविता आठ खण्डों में विभक्त है। ऊपरी तौर से देखने पर प्रत्येक खण्ड दूसरे से भिन्न लग सकता है। किन्तु कथ्य की दृष्टि से पूरी कविता आद्यन्त एक सूत्र में बंधी है। कवि का संवेदनात्मक उद्देश्य ही प्रत्येक खण्ड को एक सूत्र में निबद्ध कर देता है। कविता का शिल्प नाट्यात्मक है। जिस प्रकार फैंटेसी पर आघृत ध्वनि-रूपकों एवं रंगमंचीय नाटकों में पात्रों एवं क्रिया-व्यापारों के नियोजन में रचयिता अपनी कल्पना शक्ति का इच्छानुसार उपयोग करता है, उसी प्रकार इस कविता में भी फैंटेसी की सहायता से अनेक पात्रों एवं कार्य व्यापारों का नियोजन कवि ने किया है। इसके प्रत्येक खण्ड में कार्य-व्यापारों के दृश्य पर दृश्य उद्घाटित होते चलते हैं और पूरी कविता अन्त में अपने उद्देश्य तक पहुँचने का प्रयास करती है।

इस नाट्यात्मक कविता का आरंभ तिलस्मी खोह के दृश्य से होता है—एक ऐसे तिलस्मी खोह के दृश्य से जिसमें घना अंधकार है, जिसमें कोई कैद है। कविता का आरंभ बिंदु यही है। पूरी कविता में यही कोशिश दिखलाई पड़ती है कि किस प्रकार इस गिरफ्तार व्यक्ति को पहचान लिया जाय, ढूँढ़ा जाय अथवा उसको कैद से मुक्त कर लिया जाय। तिलस्मी खोह में गिरफ्तार व्यक्ति कौन है, इसे कौन ढूँढ़ना चाहता है, दोनों में क्या संबंध है, इस कविता को समझने की दृष्टि से ये आदि प्रश्न हैं। यदि हम कविता के पहले खण्ड के परिवेश एवं क्रिया-व्यापार को देखें तो इन प्रश्नों पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

कविता के आरंभ में परिवेश एवं कार्य व्यापारों का चित्रण लगभग साथ-साथ हुआ है। कमरों में अंधकार है। आगे की पंक्तियों से पता चलता है कि 'कोई एक' व्यक्ति तिलस्मी खोह में गिरफ्तार है। यह गिरफ्तार व्यक्ति ही अंधेरे कमरों में लगातार चक्कर लगाता रहता है, यद्यपि इस व्यक्ति की पदचाप बार-बार सुनाई देती है, किन्तु व्यक्ति दिखलाई नहीं पड़ता। जिस व्यक्ति को पदचाप सुनाई देती है उसकी ओर से प्रश्न उठता है कि यह व्यक्ति कौन है, जो सुनाई तो देता है किन्तु दिखाई नहीं देता। इस प्रश्न के साथ ही फैंटेसी शिल्प के परिणामस्वरूप एक ऐसे भव्य व्यक्ति की आकृति दीवार पर प्रकट होती है, जो नुकीली नाक, भव्य ललाट और दृढ़ हनु वाला व्यक्ति है। इस आकृति के प्रकट होते ही यह प्रश्न भी उठता है कि क्या यह मनु है। इस प्रकार तिलस्मी खोह में गिरफ्तार व्यक्ति कौन है, का एक उत्तर यह मिला कि वह संभवतः मनु है।

कविता में आगे बढ़ने पर संभावित मनु अपनी पहचान बताता है। खोह का शिला द्वार खुलता है और उसमें लाल-लाल मशाल घुसती है। मशाल की रोशनी में जब खोह का अंधकार दूर होता है तो वहाँ जो व्यक्ति दिखलाई देता है, वह रहस्यमय 'रक्तालोक स्नात पुरुष है।' इस तरह मनु की संभावित आकृति 'रक्तालोक स्नात पुरुष' में बदल जाती है। कविता का वाचक अथवा कवि इस व्यक्ति के प्रति स्नेह एवं संदेह दोनों व्यक्त करता हुआ, इसकी पहचान को और भी स्पष्ट करता हुआ कविता के पहले खण्ड के अन्त में बताता है कि वह व्यक्ति (अर्थात् वह संभावित मनु या 'रक्तालोक स्नात पुरुष') उसकी अब तक न पाई गई अभिव्यक्ति है। वह उसकी संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं आदि की पूर्ण अवस्था का सूचक है। वह उसके हृदय में रिस रहे ज्ञान तथा आत्मा की प्रतिमा है। 'अंधेरे में' कविता का नायक इसी व्यक्ति को पूरी कविता में खोज रहा है। चूँकि यह व्यक्ति उसकी अब तक न पाई गई अभिव्यक्ति का सूचक है, इसलिए अभिव्यक्ति की खोज ही उसका लक्ष्य प्रतीत होता है।

कविता के पहले खण्ड में यह स्पष्ट हो जाता है कि खोजने वाला व्यक्ति कविता का वाचक, नायक या स्वयं कवि है तथा जिसकी खोज हो रही है वह मनु अथवा रक्तालोक स्नात पुरुष अथवा कवि की ही न पायी गयी अभिव्यक्ति है। यदि यह प्रश्न करें कि कविता का नायक उसे क्यों ढूँढ़ना चाहता है तो उसका एक उत्तर यहाँ स्पष्ट है कि वह व्यक्ति उसकी आत्मा की प्रतिमा है, अब तक न पायी गई अभिव्यक्ति है, उसकी संभावनाओं की पूर्ण प्रतिमा है इसलिए उसका शोध कर लेना आवश्यक है।

इस कविता में खोज करने वाला पक्ष 'मैं' के रूप में तथा शोधनीय पक्ष 'वह' तथा वह की ही विभिन्न छायाकृतियों के रूप में प्रस्तुत हुआ है। 'मैं' और 'वह' को और भी स्पष्ट कर लेना जरूरी है। नामवर सिंह के अनुसार 'वह', 'मैं' का ही प्रतिरूप है। दोनों के विभाजन का आधार आत्मनिर्वासन (सेल्फ एलिप्सेशन) है। 'अंधेरे में', का काव्य-नायक (अर्थात् 'मैं') एक आत्मनिर्वासित व्यक्ति है,

जिसके आत्मनिर्वासन का प्रतीक है उसका गुहावास। दोस्तोयेवस्की के अण्डर ग्राउन्ड मैन के समान ही यह व्यक्ति भी बाह्य परिस्थितियों से भय खाकर एक तिलस्मी खोह में निवास करता है। उपर्युक्त प्रतीकार्थ का अनुसरण करने से पूरी कविता में 'मैं' के द्वारा अपने ही व्यक्तित्व के निर्वासित पक्ष (वह) को अभिव्यक्त करने की चेष्टा दिखलाई पड़ती है। अतएव नामवर सिंह ने इस चेष्टा को 'अस्मिता की खोज' नाम दिया है। उनके अनुसार यही इस कविता का मूल कथ्य है। इस प्रकार 'मैं' अथवा वाचक अपने से बाहर के किसी मनु अथवा 'रक्तलोक स्नात् पुरुष' की खोज नहीं कर रहा बल्कि अपने ही व्यक्तित्व के निर्वासित या अनभिव्यक्त पक्ष को ढूँढ़ रहा है।

'मैं' और 'वह' की व्याख्या और भी कई प्रकार से हुई है। 'मैं' काव्य व्यक्तित्व का चेतन स्तर है, 'वह' दबा हुआ, अवचेतन में धकेल दिया गया हुआ स्तर है। 'मैं' मध्यवर्गीय संस्कारों से विवश है, सुविधाजीवी है, समझौता करने को उत्सुक रहता है। कमजोरियों से उसको लगाव है। 'वह' अवचेतन का आदर्श व्यक्तित्व है। वह जब-तब 'मैं' की सुविधा का बिना ख्याल किए प्रकट होता रहता है, उसके सुविधावादी मन को धिक्कारता है, बिजली के झटके देता है, कभी बहुत बड़ी मुश्किल में डाल देता है, कभी प्रतीकों के माध्यम से सामाजिक क्रांति और संघर्ष की प्रेरणा देता है। 'मैं' कभी तो 'वह' से कतराता है, उससे दूर भागता है, कभी उसके प्रति स्नेह जताता है, कभी उससे लड़ता है, कभी बहस करता है। दोनों का संबंध सर्वत्र एक जैसा नहीं, द्वन्द्वात्मक है, किन्तु अन्त में 'मैं', 'वह' से पूर्ण सामंजस्य स्थापित कर लेना चाहता है। उसे अच्छी तरह पहचान कर ढूँढ़ लेना चाहता है। उसकी खोज को ही अपना चरम लक्ष्य बना लेना चाहता है, अथवा 'वह' में परिणत हो जाना चाहता है।

'मैं' को मध्यवर्गीय व्यक्ति और 'वह' को सर्वहारा का प्रतीक भी माना गया है। ऐसा मानने का एक आधार मनु संबंधी विवरण है। गुहा में जिस मनु को कविता का वाचक देखता है वह भव्याकृति वाला है, किन्तु कल्पना के नवंबर 1964 अंक में यह कविता जिस रूप में छपी थी, उसमें मनु के संबंध में कुछ और विवरण मिलते हैं। वहाँ मनु की और पहचान बताई गई है—“किन्तु वह फटे वस्त्र क्यों पहने है/ उसका स्वर्ण-मुख मैला क्यों है/वक्ष पर इतना बड़ा घाव कैसे हो गया/उसने कारावास दुःख झेला क्यों/ उसकी इतनी भयानक स्थिति है क्यों/रोटी उसे पहुँचाता है कौन/कौन पानी देता है” इत्यादि। मनु के संबंध में यह विवरण उसे स्पष्ट रूप से कामायनी के भव्य मनु से अलग कर देता है और उसे साधारण जन का प्रतिनिधि बना देता है।

पहले खण्ड में 'मैं' या वाचक का 'वह' से (मनु अथवा रक्तलोक स्नात् पुरुष) से परिचय होता है। परिचय संबंध में विकसित हो अथवा 'मैं' उसके संबंध में कोई कर्तव्य निश्चित करे, इससे पूर्व ही मशाल बुझ जाती है और 'मैं' को लगता है कि उसे अंधेरे में पकड़कर मौत की सजा दी गई है। यह ध्यान देने की बात है कि पहले खण्ड में 'मैं', 'वह' को जानने के लिए सिर्फ प्रश्न करता है, स्वयं कोई प्रयत्न नहीं करता। 'वह' स्वयं पहचान बताता है। दूसरे खण्ड के आरंभ में भी 'वह' रहस्यमय व्यक्ति ही सक्रिय है। वह नये सिरे वाचक के अन्तर्मन का द्वार/खटखटाता है। वह 'आधी रात अंधेरे में' मिलने आया है। यह वही व्यक्ति है, जो पहले खण्ड में तिलस्मी खोह में मिला था। वाचक का कहना है कि यह व्यक्ति अवसर-अनवसर विभिन्न प्रतीकों में प्रकट होता रहता है तथा उसकी सुविधा का बिना ख्याल किये उसे बिजली के झटके (प्रेरणा) देता रहता है। उसे देखकर वाचक को उस पर प्यार उमड़ता है। वाचक उसे बाहों में कस लेना चाहता है। (अपने व्यक्तित्व की पूर्णता को पा लेना चाहता है।) किन्तु ऐसा कर

पाने में वाचक अपने को पूर्णतः समर्थ नहीं पाता, क्योंकि वह क्षत-विक्षत है, शक्तिहीन है, कमजोरियों से ही उसका लगाव है इसीलिए वह अपने उस प्रिय को, मनु या रक्तालोक-स्नात-पुरुष को टाल देता है। (परम अभिव्यक्ति की बात फिलहाल टाल देना चाहता है) वह वाचक को तुंग शिखर पर बिठाकर रस्सी के पुल पर चढ़कर पर्वतसंधि के गह्वर पार करने को कहता है (अभिव्यक्ति के लिए खतरा उठाने का संकेत देता है) किन्तु वाचक को ऊँचाइयों से डर लग रहा है इसलिए वह साँकल बजने देता है।

वाचक की मनः स्थिति बदलती है। उसे लगता है कि वह यों ही पड़ा नहीं रह सकता, उस व्यक्ति को टाल नहीं सकता, इसलिए साँकल को खोलने के निमित्त अंधेरे में टटोल-टटोल कर, तथ्य को सूंघता हुआ-सा आगे बढ़ता है। जंग खायी सिटकनी⁴ हिलाकर दरवाजा खोलता है, बाहर झाँकता है। दरवाजा खुलने पर यह आवश्यक था कि साँकल खटखटाने वाला व्यक्ति, उसकी परम अभिव्यक्ति या मनु उसे दिखे, किंतु बाहर कोई दिखलाई नहीं पड़ता। बाहर सूनी राह दिखती है, सर्द अंधेरा दिखता है, कोई व्यक्ति नहीं दिखलाई पड़ता। वह व्यक्ति अचानक कहाँ गायब हो गया इसके संबंध में **अंधियारे में एक पक्षी** चीखकर बता जाता है कि वह व्यक्ति अब नहीं आयेगा। वह गाँवों में, शहरों में निकल गया है। वह पक्षी स्पष्ट रूप से वाचक को आदेश देता है कि वह उसे खोजे क्योंकि वह उसकी परम अभिव्यक्ति है। इस प्रकार दूसरे खंड के अन्त में यह कविता रात के पक्षी के माध्यम से परम अभिव्यक्ति की खोज के संकल्प तक पहुँच जाती है।

तीसरे खण्ड में वाचक कुछ क्षणों के लिए फैंटेसी के जगत से उतर कर यथार्थ जगत में आ जाता है। स्वप्न टूटने के उपरांत वह अपने आपको सिविल लाइन्स के एक कमरे में पाता है। रात के लगभग दो बज रहे हैं। कमरे में दिये का पीतालोक फैला हुआ है। उसे आस-पास की दुनिया का एहसास होता है। आस-पास की **जग आकृतियाँ उसे जड़ चित्राकृतियों सी निर्जीव लगती हैं** (शायद इसीलिए कि वे वाचक के परम अभिव्यक्ति के संकल्प को पूरा करने के अभियान में सहायक नहीं होंगे) वाचक को स्वयं अपना चेहरा मार खाया हुआ, पिटे हुए बालक-सा, अथवा भूत-प्रेत जैसा लगता है (क्योंकि जिस अभिव्यक्ति की ओर उसे बढ़ना चाहिए वह बढ़ नहीं पाता, अपने को असमर्थ पाता है)। रात में दूर जंगल में सियारों का हो-हो सुनाई देता है। इसके साथ ही पास आती हुई रेलगाड़ी के पहियों की आवाज सुनाई पड़ती है। वाचक के मन में रेल दुर्घटना⁵ की आशंका उभरती है।

अगले दृश्य में वह पुनः फैंटेसी के लोक में प्रविष्ट होता है। उसे सितारों के बीच 'घूमते व रुकते' तथा 'पृथ्वी को देखते' हुए **ताल्स्ताय** अथवा **ताल्स्तायुनमा** एक व्यक्ति दिखलाई पड़ता है। ताल्स्तायुनमा आकृति के बाद एक **प्रोसेशन** का विस्तृत दृश्य उभरता है। यह प्रोसेशन, **'साँवला जुलूस'** या **'मृत-दल की शोभा यात्रा'** विचित्र है। उसमें चमकदार बैंड दल है। बैंड दल के लोगों के चेहरे वाचक को देखे हुए चेहरों जैसे लगते हैं। उनमें कई प्रतिष्ठित पत्रकार हैं; सैनिक, कर्नल, ब्रिगेडियर, जनरल, मार्शल, सेनापति, सेनाध्यक्ष हैं; प्रकांड आलोचक, विचारक, कविगण, मंत्री, उद्योगपति, विद्वान यहाँ तक कि शहर के कुख्यात डोमा जी उस्ताद भी शामिल हैं। **प्रोसेशन** में ये सभी राक्षसी स्वार्थ में लिप्त होने के कारण भूत-पिशाचकाय लग रहे हैं। वाचक ने इस प्रोसेशन को देखा और उनके बुरे इरादों को भाँप लिया। **प्रोसेशन** में हिस्सा लेने वाले व्यक्तियों ने जब वाचक के सामने अपने राक्षसी स्वार्थ को प्रकट होते देखा तो सड़क पर एक शोर उठ खड़ा हुआ। सबने कहा कि इस व्यक्ति को (वाचक को) गोली मार देना चाहिये, क्योंकि इसने हमारे स्वार्थों के बारे में सब कुछ जान लिया है। वाचक भाग खड़ा होता है और पसीने से

सराबोर हो उठता है। इस दुःस्वप्न के बाद वाचक फिर जागरण में उतर आता है। जागते ही फिर प्रोसेशन में हिस्सा लेने वाले चेहरे याद आने लगते हैं। वाचक यह निष्कर्ष निकालता है कि यह जुलूस हर रात निकलता है। दिन में ये लोग विभिन्न कार्यालयों में बैठते हैं, किन्तु जब अंधेरा होता है तो ये जुलूस में शामिल हो जाते हैं। वाचक को यह भी लगता है कि उन्हें नंगा देख लेने की सजा उसे अवश्य मिलेगी। तीसरा खंड यहीं समाप्त होता है।

कविता को समझने की दृष्टि से यहाँ कई प्रश्न उठ खड़े होते हैं। पहला प्रश्न तो यही उठता है कि परम अभिव्यक्ति को तलाशने का संकल्प करने के उपरांत वाचक ताल्स्ताय एवं साँवला जुलूस या मृत-दल की शोभा यात्रा क्यों देखता है, क्या उसके संकल्प से इनका कोई संबंध है? दूसरा प्रश्न यह है कि जिस परम अभिव्यक्ति की बात वाचक करता है क्या वह व्यक्तिगत परम अभिव्यक्ति है या इसके अतिरिक्त कुछ और? यदि तलाश व्यक्तिगत परम अभिव्यक्ति की है तो फिर साँवले जुलूस को देखने और उसमें फँसने या उसके द्वारा मार दिये जाने की स्थिति में पहुँचने की जरूरत क्या है? यहाँ इस बात पर भी विचार करना चाहिये कि मृत-दल की शोभा यात्रा वस्तुतः क्या है, किस ओर इंगित करती है?

सबसे पहले परम अभिव्यक्ति की बात को ही लिया जाय। कविता के आरंभिक दोनों खण्डों से यह स्पष्ट हुआ कि वाचक को इसकी तलाश है। वाचक के द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण से यह भी जाहिर होता है कि परम अभिव्यक्ति के नाम पर वह अपनी संभावनाओं की पूर्ण अवस्था, आत्मा की प्रतिमा आदि पाना चाहता है। नामवर सिंह के विश्लेषण के अनुसार अनभिव्यक्त पक्ष, वाचक के अपने ही व्यक्तित्व का निर्वासित पक्ष है। अर्थात् व्यक्ति जो होना चाहता है, वह हो नहीं पाता, जो उसे होना चाहिए उसे वह उपलब्ध नहीं कर पाता। ऊपर से भले ही यह किसी को व्यक्तिगत अभिव्यक्ति का प्रश्न लगे, पर ऐसा नहीं है। व्यक्ति समाज से जुड़ा है। अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति वह समाज में ही रह कर करता है इसीलिए प्रश्न जिस सीमा तक व्यक्तिगत है, उसी सीमा तक सामाजिक भी है। वाचक ने सामाजिक संदर्भ में ही पूर्णतम अभिव्यक्ति का संकल्प लिया है। किसी भी संकल्प को पूरा करने के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है परिवेश एवं परिस्थिति की जाँच पड़ताल करनी पड़ती है। तीसरा खण्ड पहले के दो खण्डों से इसी अर्थ में जुड़ा हुआ है। दूसरे खंड का संकल्प तीसरे खंड में माध्यम की तलाश में है और परिस्थितियों की जाँच-पड़ताल शुरू करता है।

ताल्स्ताय या ताल्स्तायुनमा व्यक्ति की आकृति संभवतः इसीलिए उभरती है कि वाचक इस तथ्य की जाँच करे कि क्या ताल्स्ताय का आदर्श उसके संकल्प को पूरा करने का माध्यम हो सकता है। ताल्स्ताय के आदर्श से वाचक संतुष्ट नहीं प्रतीत होता इसलिए उसे 'दबी हाय-हाय नुमा/शायद ताल्स्तायुनमा' कहता है। प्रोसेशन सामाजिक परिवेश को चित्रित करता है। आशय यह है कि यदि कोई मध्यवर्गीय व्यक्ति सामाजिक संदर्भ में अपनी पूर्णतम अभिव्यक्ति की बात सोचता है तो उसकी पहली मुठभेड़ इस प्रोसेशन, साँवले जुलूस या मृत दल की शोभा यात्रा से होगी। प्रोसेशन के लोग समाम के प्रतिष्ठित लोग हैं। वे समाज को चलाने वाले हैं। सत्ता, शासनतंत्र सब उनके हाथ में है। उनके पास सेना की शक्ति है, सामाचार-पत्र हैं, प्रतिष्ठित विचारक कवि आदि भी उनके ही साथ हैं। ऐसी स्थिति में अकेला एक व्यक्ति उन लोगों से अलग रास्ते पर चलकर अपनी अभिव्यक्ति कैसे कर सकता है? सामाजिक व्यवस्था एक ऐसे मृतदल की भाँति है, जिसमें अन्याय, भ्रष्टाचार, राक्षसी स्वार्थ आदि के खिलाफ खड़े होने की शक्ति किसी में नहीं है। मानो सबकी चेतना मर चुकी हो। अधिकतर लोग पिटुओं

के इस समुदाय में शामिल हो जाते हैं। किंतु वाचक उनसे पृथक् है, इसलिए उनके द्वारा देख लिए जाने पर संदिग्ध अथवा मार दिये जाने लायक हो उठता है। वाचक की जिजीविषा, सुविधावादिता उसे भागने पर मजबूर करती है। इस प्रकार तीसरा खण्ड वाचक के संवेदनात्मक उद्देश्य की दृष्टि से पिछले खण्डों से जुड़ा हुआ ही है।

चौथे खण्ड में वाचक अपनी स्थिति एवं परिवेश का पुनर्मूल्यांकन करता है अथवा स्वार्थलिप्त समाज के विरुद्ध खड़े होने के संभावित परिणाम के दृश्य देखता है। तीसरे खण्ड के अन्त में स्वप्न-भंग के बाद की स्थिति से जुड़कर चौथा खण्ड शुरू होता है। अभी रात शेष है। चार का गजर अभी-अभी खड़का है। वाचक अपने कमरे में लेटा है। छत के काले-काले शहतीर दिखलाई पड़ रहे हैं। आँगन में कोई हैंडपम्प चलाकर पानी निकाल रहा है। नल से जल के खखारने जैसी आवाज सुनाई पड़ती है। वाचक उठना चाहता है, किंतु शरीर में बल नहीं है इसलिए पड़ा रहता है। इसके उपरांत वाचक के मन में फिर फैंटेसी परिचालित हो जाती है।

उसे चारों ओर की दुनिया के फैलाव, घिराव आदि का बोध होता है। उसे लगता है कोई उसको पकड़ने के लिए पीछा कर रहा है। जनक्रांति के दमन के लिए **मार्शल लॉ** लगा दिया गया है। वाचक कई मोड़ घूमता हुआ भागने लगता है। भागते-भागते एक स्थल पर उसे भयंकर **बरगद** (सभी उपेक्षितों, वंचितों, गरीबों का घर) दिखलाई पड़ता है। वहाँ कई गृहहीन प्राणी रहते हैं। एक **'सिरफिरा'** जन भी रहता है। आज वह प्रज्वलित बुद्धिवाला हो गया प्रतीत होता है और आत्मबोधमय गीत गा रहा है। गीत में आदर्शवादी-सिद्धान्तवादी मन से सवाल किया गया है कि उसने अब तक क्या किया। जिन्दगी जिस तरह जीनी चाहिए थी, उसका मन उस तरह उसे जी नहीं सका। वह अपने ही ख्यालों में निमग्न रहा, उदरपूर्ति में लगा रहा, उसने भावना के कर्तव्य त्याग दिए, बुद्धि का भाल फोड़ दिया, विवेक को स्वार्थ के तेल में बघार कर खा लिया और इस तरह अपनी ही कीचड़ में फँस गया।

सिरफिरे व्यक्ति के गीत का गद्यानुवाद देने के उपरांत वाचक सोच में पड़ जाता है कि वह कहाँ जाय। पागल के संबंध में स्पष्टीकरण देते हुए वाचक कहता है कि उसका व्यक्तित्व वैदिक ऋषि शुनः शेष के शापभ्रष्ट पिता अजीगर्त के समान ही अपने से खोया हुआ है। खोया हुआ व्यक्तित्व उसे रात में अचानक मिल जाता था, किंतु दिन में खो जाता था। वाचक उसके गीत के बारे में सोचने लगा। इसका परिणाम यह हुआ कि वाचक के सामने उसकी एक छायामूर्ति खड़ी हो गई और उसमें तथा छायामूर्ति में बहस होने लगी—यहाँ तक कि परस्पर तमाचे भी लगने लगे। बाद में उसे लगता है कि उसके ही कारण **मार्शल लॉ** लगा दिया गया है तथा दुर्घटना घटी है। चौथे खण्ड में, अंतिम अंश में वाचक स्वयं को बरगद के पास खड़ा पाता है। उसका चेहरा अथाह साँवले जल में धुल रहा है। रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित कोई गुरु गंभीर अस्तित्व महकने लगता है, मानो खंडहर प्रसार में गुलाब-चमेली के उद्यान हों। पता नहीं वह उद्यान कहाँ है, किंतु उसकी सुगंध सब ओर है—उस सुगंध में कोई छिपी वेदना, कोई गुप्त चिन्ता छटपटा रही है।

चौथे खंड में संबंध-सूत्र को देखने के लिए **मार्शल लॉ**, **सिरफिरा जन**, वाचक की छायामूर्ति से बहस, **गुप्त चिन्ता** आदि का स्पष्टीकरण आवश्यक है। मार्शल लॉ क्रान्ति के दमन का प्रतीक है। शासन व्यवस्था इस बात के लिए सतर्क रहती है कि विद्रोह भड़कने न दिया जाय। वह वर्ग जो सत्ता और उसके पिठों के निहित स्वार्थ को जान लेता है उसके खिलाफ विद्रोह कर सकता है, इसलिए विद्रोहियों के

प्रति दमनचक्र चलाना सत्ताधारी आवश्यक समझते हैं। कविता के लक्ष्य की दृष्टि से यहाँ अभिप्राय यह है कि यदि वर्ग-विशेष की पूर्णतम-अभिव्यक्ति के लिए विद्रोह की बात सोची गई तो उसे अविलंब मार्शल लों का सामना करना पड़ेगा। वाचक का कई मोड़ घूमता हुआ भागना उसकी अपनी व्यक्तिगत जिजीविषा के कारण है। वर्ग के संदर्भ में इसका संबंध वर्गगत जिजीविषा से भी जोड़ा जा सकता है। बरगद, जो कि उपेक्षितों, वंचितों का घर है, एक व्याख्याता के अनुसार वह मार्क्सवाद का पेड़ है, जहाँ वाचक को **सिरफिरा जन** मिलता है। **सिरफिरा** या पागल, मनु या रक्तालोक स्नातपुरुष का ही प्रतिरूप जान पड़ता है। वह सरल मन, नैतिक मन, आत्मनिर्वासित मन आदि का भी प्रतीक है। वाचक को कर्तव्य-पथ पर अग्रसर करने के लिए वह आत्मबोधमय गीत गाता है। **छायामूर्ति** वाचक का ही प्रतिरूप जान पड़ती है। नैतिकता बोध या कर्तव्य के उभरने से छायामूर्ति उठ खड़ी हुई है। वह वाचक के हृदय में उठ रहे द्वन्द्व और बहस को मूर्तित करती है। 'रात्रि के श्यामल ओस से क्षालित कोई **गुरु गंभीर महान अस्तित्व**' के संबंध में नामवर सिंह का कथन है—“संपूर्ण कविता में अंधकार के ऊपर अस्तित्व की एक अलौकिक सुगंध परिव्याप्त है। अस्तित्व की यह सुगंध वस्तुतः मानवीयता है—कविता के अंतर्गत मानवीय उपस्थिति ही सुगंध के रूप में व्याप्त है।” छिपी वेदना और गुप्त चिंता का संबंध अभिव्यक्ति की खोज की चिन्ता से ही है। इसका संबंध पीड़ित जनता के साथ एक होने की आकांक्षा, अपनी वर्ग-स्थिति से उबरने की चिन्ता से भी जोड़ा जा सकता है।

पाँचवाँ खण्ड किसी अजनबी के द्वारा वाचक के कंधे पर हाथ रखे जाने से शुरू होता है। ऊपर से बरगद का एक पत्ता उसके कंधे पर गिरता है। उसे लगता है शायद यह कोई संकेत है। दमनकारियों द्वारा पकड़े जाने के भय से भागने की क्रिया यहाँ भी पूर्ववत् जारी रहती है। भागते हुए वह एक ऐसे स्थल पर पहुँचता है, जहाँ मुँदे हुए घर की पत्थर की सीढ़ी दिखलाई पड़ती है। वाचक वहीं सिर पकड़कर बैठ जाता है। इसके बाद वह भूमि की सतहों के नीचे **अंधियारी प्राकृत गुहा** देखता है। उस गुहा में वह **चमकते पत्थर, तेजस्क्रिय रेडियो एक्टिव तत्त्व, द्युतिमान मणियाँ** आदि देखता है। बाद में वाचक स्वयं इसका स्पष्टीकरण देता हुआ कहता है कि वे चमकते पत्थर अथवा दीप्ति वलयित रतन आदि नहीं हैं, बल्कि उसके अनुभव, वेदना, विवेक-निष्कर्ष आदि के प्रतिरूप हैं। पाँचवाँ खण्ड इसी तथ्य के उद्घाटन से समाप्त होता है। प्राकृतिक गुहा में दिखाई पढ़ने वाले विवेक-निष्कर्ष रूपी चमकते पत्थर इस बात का संकेत देते हैं कि यदि वाचक को अपनी या अपने वर्ग की अभिव्यक्ति सचमुच करनी है तो उसे गुहावासी अनुभव, वेदना, विवेक निष्कर्ष आदि को गुहा से बाहर निकालना होगा, उन्हें मुक्त करना होगा।

छठा खंड वाचक की इसी पीड़ा से शुरू होता है कि उसने अपने तेजस्क्रिय (क्रांति धमी) विचारों को गुहावास दे दिया है। इस खंड में वाचक जूझने का निश्चय कर लेता है। इसे यों भी कह सकते हैं। कि अभिव्यक्ति का संकल्प यहाँ जूझने के संकल्प में बदल जाता है। जूझने, संघर्ष करने अथवा क्रांति के लिए प्रस्तुत होने के निश्चय के साथ ही दृश्य बदल जाता है। वाचक के सामने एक-एक कर कई दृश्य प्रस्तुत होते हैं। पहले सुनसान चौराहे पर गेरुआ घण्टाघर का दृश्य उभरता है, फिर संघर्ष भावना के संदर्भ में वाचक **तिलक, गाँधी, मृत कलाकार एवं मिस्टर गुप्ता** को देखता है।

पहले दृश्य में सुनसान चौराहा, गेरुआ घण्टाघर, चार घड़ी चेहरे, मिनट के काँटों की चार अलग-अलग गतियाँ आदि दिखलाई पड़ते हैं। इसके साथ ही घण्टाघर के तले गुम्बद विवर में बैठे हुए असंभव पक्षी, गश्त लगाती हुई पुलिस तथा टैकों के दस्ते का बिंब उभरता है।⁸ अगले दृश्य में वाचक

अपने को तिलक की पाषण मूर्ति के सामने पाता है। तिलक की मूर्ति पहले जड़ीभूत रूप में दिखती है, किन्तु बाद में चेतन हो उठती है। मूर्ति से नीले इलैक्ट्रान झरने लगते हैं, चिनगारियाँ निकलने लगती हैं। इतना ही नहीं, तिलक की मूर्ति की नासिका से गरम खून बहने लगता है, जिससे उनका अंगरखा भीग जाता है। ऐसा लगता है जैसे अतिशय चिन्ता के कारण तिलक का मस्तिष्क कोष ही फट पड़ा हो। तिलक की यह स्थिति देखकर वाचक बहुत दुःखी होता है, उसे पिता संबोधित करता हुआ कहता है—‘चिन्ता मत करो पिता, अभी हम जिंदा हैं।’ वह मूर्ति के पैरों से छाती को चिपकाकर रुआँसा हो उठता है—इसके बाद वाचक अपनी छाती के भीतर ठक-ठक और सिर से धड़-धड़ आदि महसूस करता है। उसे लगता है जैसे विवेक रन्दा चला रहा हो और कोई उसके निजत्व को छील रहा हो।⁹ इस अनुभूति के उपरान्त कोई भयानक जिद¹⁰ (जूझने या संघर्ष करने की अदम्य आकांक्षा) वाचक में जग जाती है।

अगले दृश्य में **बोरे को ओढ़कर, हाथ-पैर समेटे** जिस व्यक्ति की छवि उभरती है, वह गाँधी की है। गाँधी के ‘देव’ को अपने सम्मुख पाकर वाचक अत्यन्त दीन हो उठता है। उस छवि के करीब जाते ही उसे बिजली का झटका लगता है। बिजली का झटका वाचक को भाग जाने, हट जाने का आदेश देता हुआ उसे आगे बढ़ जाने को कहता है। गाँधी जी स्वयं वाचक से कह उठते हैं कि दुनियाँ कचरे का ढेर नहीं है, जिस पर दानों को चुगने के लिए चढ़ा हुआ कोई मुर्गा जोरदार बाँग दे उठे तो मसीहा बन जाये। भावी का उद्भव तो जनता के गुणों से ही संभव है। अगली पंक्तियों में गाँधी जी की तस्वीर एक नये सिरे से फिर उभरती है। इस बार उनकी नाक पर चश्मा, हाथ में डण्डा, कंधे पर बोरा और बाँह में बच्चा है। इस बच्चे के संबंध में गाँधी जी यह कहते हैं कि यह उनके पास चुपचाप सोया हुआ था, अब इसे वह (वाचक) सँभाले—गाँधी की छवि यह कहकर विलीन हो जाती है। बच्चा वाचक के गले से लिपट जाता है। बच्चा सुकुमार है, किंतु भारी है। वह रोने-चीखने लगता है। वाचक उसे मनाने की कोशिश करता है। किंतु इससे वह और जोर से रोने-चीखने लगता है। इसके बाद **अचानक बच्चा सूरजमुखी फूल में और सूरजमुखी फूल बन्दूक में बदल जाता है।**

गाँधी जी की छवि के इस पूरे प्रसंग में कई तथ्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है। तिलक के समान ही गाँधी जी का दर्शन भी संघर्ष के प्रसंग में प्रेरणा प्राप्ति के लिए हुआ है। गाँधी जी की छवि सिकुड़ी हुई या पंगु रूप में है। इससे ऐसा लगता है कि वाचक को गाँधी जी की अहिंसक क्रांति पंगु प्रतीत होती है। गाँधी की मूर्ति इसलिए उसे आगे बढ़ जाने को कहती है अर्थात् जो गाँधी न कर सके वह वाचक कर ले। **कचरे के ढेर पर चढ़ा हुआ मुर्गा** उन व्यक्तियों का सूचक है, जो स्वार्थ रूपी दानों को चुगने में तत्पर रहते हैं। जाहिर है कि ऐसा व्यक्ति न तो क्रांति कर सकता है, न मसीहा बन सकता है। संघर्ष के लिए जिन आवश्यक गुणों की आवश्यकता है, उनका विकास जनता के गुणों से ही किया जा सकता है। गाँधी जी की बाँहों का बच्चा सम्भवतः क्रांति शिशु ही है। इस शिशु की कई प्रकार से व्याख्या हुई। किसी को इसमें नवनिर्मित देश की असन्तुष्ट जनता की प्रतिछवि मिलती है, किसी को यह दायित्व-बोध का प्रतीक लगता है तथा एक अन्य व्याख्याता के लिए यह मार्क्स की वैज्ञानिक दृष्टि से युक्त नव सत्य का शिशु है। बच्चे का **सूरजमुखी फूल में बदल जाना** मानो क्रांति का स्वप्न-सुमन खिलना है। फिर **फूल का बन्दूक में बदल जाना** स्पष्टतः सशस्त्र क्रांति का प्रतीक बनता सा लगता है।

कविता आगे बढ़ती है। अब वाचक को एक खुले हुए कमरे में किसी एकांत प्रिय कलाकार का शव दिखलाई पड़ता है। कलाकार के सम्बन्ध में वाचक यह स्पष्टीकरण देता है कि वह कार्य क्षमता से

वंचित था। उसके पास शुचितर विश्व के मात्र सपने थे। वह अपना असंग व्यक्तित्व लिये अंधेरी गलियों का कलाकार था। वह किसी को भी कुछ दे नहीं पाया था। झोंक में आकर कुछ कर गुजरने के कारण संदेहास्पद समझा गया और मारा गया। उसके साथ ही एक युग और जीवनादर्श की मृत्यु हो गई। वाचक अब नये दोस्तों को खोजने की इच्छा से युक्त हो जाता है।¹¹

इसके बाद वाचक जीने से ज्यों ही उतरा उसे घेर कर पकड़ लिया गया। उसका गला दबाया गया, उसे पीटा गया। उसे जबरन अँधियारे कमरे में ले जाया गया, वहाँ उसे स्टूल पर बिठाकर उसके शीश की हड्डी तोड़ी जाने लगी। यह देखा जाने लगा कि उसके मस्तक-यन्त्र में विचारों की कौन सी ऊर्जा है, कहाँ स्फोटक सामान हैं इत्यादि। उसे मिस्टर गुप्ता के सामने **क्रॉस एक्जामिन** करने के लिए प्रस्तुत किया गया है।¹² यद्यपि मार पड़ रही है, किन्तु वाचक की कुशल आत्मा उसे सह लेती है, वह अपनी संकल्प शक्ति को विकसित करके सब कुछ सह लेता है। चारों तरफ दैत्य जैसे व्यक्तियों से वह घिरा हुआ है, किन्तु फिर भी बिजली मात्र बनकर वह जीवित है। उसका मन देह की हद से दूर अलग जगत में पहुँच जाता है। वह बिजली या प्रेरणा बनकर किसी की जेब में (फटे हुए मन की जेब में) गिरता है। उसे सहानुभूति मिलती है। वह पाता है कि भीतर-ही-भीतर तारों के जाले (सहानुभूति के तार) फैले हुए हैं। वाचक को आत्मा की भीषण शक्ति की प्रतीति भी होती है। छटा खंड यहीं समाप्त होता है। अन्तिम अंश में वाचक इस सत्य को उद्घाटित कर लेता है कि एक बार पकड़े जाने, पीटे जाने आदि का कष्ट उठा लेने पर आत्मा की शक्ति भीषण हो उठती है। कोई भी दमनचक्र फिर व्यक्ति को कुण्ठित नहीं कर सकता।

सातवाँ खंड वाचक की रिहाई से शुरू होता है। यद्यपि रिहाई के बाद भी कई छाया-मुख उसका पीछा कर रहे हैं, किन्तु अब वह साथियों (**काले गुलाब, श्याम चमेली रूपी साथी, ये श्रमिक जन** के प्रतीक हो सकते हैं) की तलाश में जुटा होता है। अभिव्यक्ति का प्रश्न उसके लिए व्यक्तिगत नहीं है, इसलिए साथियों को ढूँढ़ना आवश्यक है। अचानक वाचक स्फूर्ति से भर उठता है और **चमकीले पत्थर चुनकर बिजली के फूल** बनाने की कोशिश करता है। उसके अपने चमकीले पत्थर (विवेक, निष्कर्ष आदि) भी रश्मि विकीर्ण करने वाले रेडियो एक्टिव तत्व हैं, किन्तु उसे गहरा असन्तोष है। यह उसे शब्दाभिव्यक्ति-अभाव का संकेत देता है। वह पाता है कि **काव्य चमत्कार रंगीन तो है**, परन्तु ठंडा है (अर्थात् चमत्कार पूर्ण काव्य रचना करने मात्र से संघर्ष का स्वप्न सच नहीं हो सकता) इसलिए वह **बिजली को आलिंगन में लेकर प्रदीप्त लीला करना चाहता है** (संघर्ष में सक्रिय भाग लेना चाहता है)। वह अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने का संकल्प करता है। सोचता है कि अब उसे सारे गढ़-मठ तोड़कर, दुर्गम पहाड़ों पर पहुँचकर, हिमशीतल जल में धँसकर **अरुण कमल लाना ही होगा** (पूर्णता की सिद्धि करनी होगी अथवा क्रांति के स्वप्न को साकार करना होगा)।

भागने की क्रिया फिर शुरू होती है। वाचक पाता है कि ध्वस्त दीवारों के उस पार कहीं गरम बहस चल रही है। अंधेरे की सुरंग में बालक युवागण दृढ़ पद चल रहे हैं। वे किसी निजी बात में व्यस्त हैं, उनके भीतर कोई आग जल रही है। (संभवतः वे क्रांति की चर्चा एवं तैयारी कर रहे हैं। संघर्ष की उत्कट आकांक्षा ही आग बनकर जल रही है)। वाचक आगे बढ़ता है किन्तु जितना ही वह आगे बढ़ता है, अपने को पश्चात् पद पाता है किन्तु आदमियों का एक रेला पीछे से आकर उसके साथ हो लेता है। लोग उसके ही विवेक रत्नों को लेकर अंधेरे में सोत्साह बढ़ रहे हैं (संघर्ष के लिए तत्पर होकर चल पड़े हैं) गलियों के अंधेरे में कोई चुपचाप एक पर्चा दे जाता है। (पर्चे में वाचक के ही गुप्त विचार एवं अनुभव

हैं।) पर्चा पढ़कर वाचक को लगता है कि वह सर्वत्र सचेतन उपस्थित है, प्रत्येक चौराहे, दुराहे आदि पर, वह अपनी बात मनवाता हुआ खड़ा है। उसे लगता है कि अब उसका स्वप्न साकार होकर रहेगा। वह स्वप्नों की किरणों को द्युतिमान शिलाओं में परिणत होते हुए देखता है। उसे लगता है कि ये शिलाएँ कर्म-शिलाएँ हैं और इसकी किरणें ब्रह्मांड को नाप लेंगी। वह अपने को परिणत (व्यक्तित्वान्तरित) पाता है। सातवें खंड के अन्त में वाचक यह निष्कर्ष निकालता है कि पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता तथा व्यक्ति स्वातंत्र्य का वादी व्यक्ति मुक्ति चाहने वाले मन एवं जन को छल नहीं सकता। अर्थात् व्यक्तिवादिता से उसे उबरना होगा तभी पूँजी से जुड़े हुए हृदय को संघर्ष के माध्यम से बदल सकेगा।

आठवें खंड में क्रांति का स्वप्न साकार होता है। कहीं आग लग गई है तथा कहीं गोली चल गई। नगर में धुआँ उठ रहा है। जन-मन उद्देश्य अब एक साथ हो गये हैं। किन्तु साहित्यिक, कविजन आदि चुप हैं, उनकी दृष्टि में यह मात्र गप है। वे सभी रक्तपायी वर्ग से नाभिनालबद्ध हैं, नपुंसक भोग-शिरा-जालों में उलझे हैं। उनके पास प्रश्नों की उथली पहचान है। कायरता के कारण उनकी वाणी रोती हुई-सी है। पूरा का पूरा बौद्धिक वर्ग क्रीतदास है, किराए के विचारों को ही वह प्रकट करता है। समाचार, समीक्षा, टिप्पणी आदि सुविधानुसार गढ़ लिए जाते हैं। (इसलिए उनसे इस क्रांति में कोई उम्मीद नहीं की जा सकती) दूसरी ओर वाचक यह देखता है कि राह के पत्थर ढोकों, मिट्टी के लौंदे आदि में (अति साधारण जन में भी) अग्नि का उद्रेक होने लगा है। दादा का सोंटा भी दाँव-पेच करने लगा है। कक्का की लाठी, बच्चे की पें-पें भी उसमें शामिल है। (जन-क्रांति में आबाल-वृद्ध सभी का सहयोग मिल रहा है) वाचक को आग लगने या गोली चलने की ये बातें गप नहीं लगती।

अगले दृश्य में वाचक देखता है कि 'तम श्याम लुहार' ने कंडों में आग जला रखी है। उसमें लोह के चक्के को गर्म करके उसे लकड़ी के चक्के पर चढ़ाया जा रहा है। ठीक इसी प्रकार आत्मा के चक्के पर भी संकल्प शक्ति का मजबूत और ज्वलंत टायर चढ़ाया जा रहा है। (संघर्ष में हिस्सा लेने वाले जन की संकल्प-शक्ति दृढ़ हो रही है) वाचक को युग बदला हुआ लगता है। दृश्य की अगली कड़ी में वाचक के मानस-पटल पर वेदना-नदियों का बिंब उभरता है। वह देखता है कि ज्वलत प्रकाशित वेदना-नदियाँ बह रही हैं। इन नदियों के जल में सचेत होकर सैकड़ों सदियों अपने ज्वलंत बिंब फेंक रही हैं। वेदना-नदियों में युगानुयुग से पिताओं की चिन्ता का उद्भिन्न रंग, विवेक पीड़ा की गहराई, श्रमिकों का संताप आदि डूबे हुए हैं।¹³ वाचक पाता है कि इस नदी का जल पीकर युवकों में व्यक्तित्वांतर होता जा रहा है (युवक अब संघर्ष के दृढ़ संकल्प से युक्त हो गये हैं)।

वाचक एक बार फिर स्वप्न लोक से उतर आता है। चित्र बिखर गए हैं और वह अकेला रह गया है, किन्तु उसकी आत्मा में चमकीली प्यास¹⁴ भर गई है। उसे ऐसा लगता है मानो रात किसी अनपेक्षित क्षण में उसने जीवन भर के लिए किसी प्रणयिनी से प्रेम कर लिया हो। उसे उसके आलिंगन-चुंबन आदि की याद आ रही है। उसके मन में यह प्रश्न उठता है कि वह कौन थी तथा क्या वह प्रणयिनी उसे मिलेगी।¹⁵ कमरे में सुबह की धूप आ गई है। सब ओर विद्युतरंगीय हलचल है, चुंबकीय आकर्षण है। प्रत्येक वस्तु का अपना आलोक है। वाचक को लगता है कि उसके कमरे में आकाश उतर आया है और डेस्क पर रखे हुए महान ग्रंथों के लेखक उसकी मानसिक क्रियाओं के प्रेक्षक बन गये हैं।

कविता के अन्त में फैंटेसी फिर परिचालित हो जाती है। वाचक उठकर गैलरी में जाता है। एकाएक वह उसी व्यक्ति को देखता है, जिसे उसने गुहा में देखा था (मनु या रक्तालोकस्नात-पुरुष) इस

समय वह उसे गलियों में सड़कों पर लोगों की भीड़ में जाते देखता है। उसका दिल धड़कने लगता है; वह उसे पुकारने के लिए मुँह खोलता है, किंतु वह देखते-देखते ही जन-यूथ में विलीन हो जाता है। उसकी उठी हुई बाँहें उठी ही रह जाती हैं। वाचक उसे ही अपनी समृद्धि का परम उत्कर्ष तथा उसे ही अपनी परम अभिव्यक्ति मानता है। वह व्यक्ति त्वरितरंगीय गतिमयता, सकर्मक प्रेम की अतिशयता का प्रतीक है, किन्तु वह फटेहाल है। अंत में वाचक यह बताता है कि वह अब उसे हर गली में ढूँढ़ रहा है। वह प्रत्येक चरित्र, प्रत्येक आत्मा का इतिहास, हर एक देश एवं उसकी राजनीतिक परिस्थिति आदि को देखता-भालता है। प्रत्येक स्थल पर उसकी खोजबीन करता है, ताकि उसकी खोई हुई आत्मसंभव परम अभिव्यक्ति उसे मिल सके। इस प्रकार यह लंबी कविता अभिव्यक्ति के संकल्प से शुरू होकर परम अभिव्यक्ति की निरंतर चेष्टा में लगे रहने की स्थिति पर समाप्त हो जाती है। प्रारंभ से अन्त तक कविता में अभिव्यक्ति की खोज विद्यमान दिखलाई पड़ती है।

मूल संवेदना

इस कविता की मूल संवेदना क्या है, इसके निर्धारण से पूर्व यह जान लेना चाहिए कि कवि के शब्दों में कविता अभिव्यक्ति की खोज में लिखी गई है। इस खोज का अभिप्राय भिन्न-भिन्न रूप में लेने के कारण विद्वानों ने मूल संवेदना या कथ्य को अलग-अलग रूपों में देखा है।

‘अंधरे में’ कविता की अन्तिम पंक्तियों को उद्धृत करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने अपनी पुस्तक ‘कविता के नये प्रतिमान’ (परिशिष्ट के अंतर्गत निबंध—‘अंधरे में : परम अभिव्यक्ति की खोज’) में इस कविता के कथ्य के संदर्भ में लिखा है— ‘अंधरे में’ कविता की ये पंक्तियाँ (अन्तिम पंक्तियाँ) उस अस्मिता या आइडेंटिटी की खोज की ओर संकेत करती हैं, जो आधुनिक मानव की सबसे ज्वलंत समस्या है। निस्संदेह इस कविता का मूल कथ्य है अस्मिता की खोज।’ उनके अनुसार खोज में आध्यात्मिकता या रहस्यवादिता नहीं है बल्कि खोज सामाजिक परिप्रेक्ष्य में की गई है। ‘मैं’ को दो भागों में विभक्त कर लिया गया है। ‘मैं’ काव्य नायक या वाचक है तथा ‘वह’ ‘मैं’ का प्रतिरूप अथवा आत्मनिर्वासित पक्ष। स्वप्न कथा के रूप में तीन घटनाएँ वर्णित हैं। किसी मृत दल की शोभा यात्रा, सैनिक शासन और जनक्रांति का सूत्रपात। पहली दो अस्मिता के खोने का वस्तुगत कारण उपस्थित करती हैं। “किसी मृत दल की शोभा यात्रा और सैनिक शासन के आतंक से अस्मिता के खोने की बात एकदम स्पष्ट हो जाती है। संदर्भ की भयावहता अस्मिता के बोध की तीव्रता को और भी उभार देती है।” भाव-बोध की इस तीव्रता के रूप में कवि ‘भाव का वस्तुमूलक आकलन’ करता है और इसी संदर्भ में अस्मिता की खोज का प्रयत्न करता है। काव्य-नायक ने भयभीत होकर अपने बहुमूल्य भावों को अपने उपचेतन के तलघर में डाल दिया है, किन्तु कविता में सिर्फ निषेधात्मक पक्ष ही नहीं है। अंधकार के विरुद्ध लड़ने वाली शक्ति भी इसमें विद्यमान है, जो अस्मिता की खोज में सहायक होती है। इस प्रकार डॉ. नामवर सिंह को इस कविता का मूल कथ्य अस्मिता की खोज ही प्रतीत होती है। एक स्थान पर उन्होंने यह भी लिखा है—“कवि मुक्तिबोध के लिए अस्मिता की खोज व्यक्ति की खोज नहीं, बल्कि अभिव्यक्ति की खोज है। एक कवि के नाते उनके लिए परम अभिव्यक्ति ही अस्मिता है। भाषा स्वभावतः इस अभिव्यक्ति का आधार है।” ‘अंधरे में’ कविता के अंतर्गत जगह-जगह इस काव्यगत

अभिव्यक्ति की समस्याएँ भी उठाई गई हैं। जैसे कुछ नाटकों में नाटक के भीतर एक और नाटक होता है, 'अंधेरे में' कविता के अंदर कविता की निजी समस्याओं का निरूपण है। इस प्रकार एक स्तर पर यह 'कविता के बारे में कविता है।' इस विश्लेषण के जोड़ देने से मूल स्थापना में यह बात जुड़ जाती है कि अस्मिता की खोज काव्यगत अभिव्यक्ति की खोज भी है।

'अंधेरे में' कविता की कई व्याख्याएँ प्रकाश में आ चुकी हैं, परिणामस्वरूप डॉ. नामवर सिंह को अपनी पुस्तक 'कविता के नये प्रतिमान' के दूसरे संस्करण में 'अंधेरे में : पुनश्च' नाम से एक और निबंध जोड़कर इस कविता पर पुनर्विचार करना पड़ा है। इस निबंध में डॉ. सिंह अपनी पूर्व स्थापना पर दृढ़ हैं, किन्तु उन्होंने 'अस्मिता' शब्द का अर्थ-विस्तार कर दिया है। अपने पहले निबंध में उन्होंने अस्मिता के लोप का आधार 'आत्म निर्वासन' माना था, अब वे 'आत्मनिर्वासन' के साथ 'अलगाव' शब्द का प्रयोग भी करते हैं। अस्मिता-खोजी व्यक्ति वहाँ सामाजिक संदर्भ में अपनी अस्मिता की तलाश कर रहा था, किन्तु अब उन्होंने व्यक्तिगत अस्मिता का संबंध एक वर्ग की अस्मिता के साथ जोड़ दिया है। जिस वर्ग के द्वारा अस्मिता की खोज की जानी है, वह मुख्य रूप में निम्न-मध्य वर्ग है। जिस अलगाव अथवा आत्मनिर्वासन के कारण व्यक्ति के स्तर पर अस्मिता का लोप होता है, वह यदि समाज के स्तर पर हो तो वर्ग-भेद जन्म लेता है। मार्क्स के अनुसार, "पूँजीवादी व्यवस्था में इस अलगाव के शिकार सब वर्गों के लोग होते हैं, किन्तु इसका सबसे घातक प्रभाव मजदूर वर्ग पर पड़ता है—इस हद तक कि वह सर्वहारा हो जाता है।" अलगाव का शिकार पूँजीपति भी होता है। वह अपनी मनावीयता खोकर 'एक जड़ धन-पशु बनकर रह जाता है।' इस तरह दोनों ही वर्ग अपना व्यक्तित्व खो बैठते हैं—एक 'सर्वहारा' होकर; दूसरा, 'जड़-धन-पशु' बनकर। वर्ग व्यक्तित्व का खोना भी अस्मिता का लोप है। इस अर्थ-विस्तार में अस्मिता की खोज का अर्थ होगा एक पूरे वर्ग (यहाँ विशेष रूप से निम्न-मध्य वर्ग) की अस्मिता की खोज।

डॉ. सिंह ने मार्क्स की मान्यताओं का सहारा लेते हुए, वर्ग के संदर्भ में अस्मिता कैसे खोजी जाय इसका निर्देश भी दिया है। मजदूर वर्ग का व्यक्ति यदि अपनी अस्मिता को खोजना चाहे तो उसे वर्ग-चेतन होना होगा। दूसरे शब्दों में वर्ग चेतना का हास ही अस्मिता का लोप है और वर्ग-चेतना को जगा लेना ही अस्मिता की खोज है। मार्क्स ने वर्ग चेतना के लिए चार बातें आवश्यक मानी हैं—1. व्यक्ति विशेष द्वारा वर्ग की सदस्यता का बोध; 2. अपने वर्ग के तात्कालिक हितों का बोध; 3. वर्ग-हित को आगे बढ़ाने का संकल्प; 4. वर्ग के सार्वभौम हित के लिए आवश्यक साधनों की पहचान। मजदूर-वर्ग के लिए यह समझना भी आवश्यक है कि पूँजीवाद की समाप्ति में ही उनका वास्तविक हित है। मजदूर-वर्ग की अस्मिता की खोज में मध्य वर्ग कैसे सहायक होगा, इसका निर्देश भी लेखक ने दिया है। उनके अनुसार, "मध्य वर्गीय व्यक्ति की वर्ग चेतना केवल इतने ही तक सीमित नहीं है कि वह अपने आपको मध्यवर्ग का सदस्य मानकर उस वर्ग के तात्कालिक हितों के लिए संघर्ष करे, बल्कि उसकी सच्ची वर्ग चेतना इस बात में है कि वह मजदूर वर्ग के हितों की रक्षा में ही अन्ततः अपने हितों की रक्षा महसूस करे और इसके लिए पूँजीवाद के विनाश में मजदूर वर्ग का साथ दे।"

'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने होंगे' कविता-पंक्ति के संदर्भ में डॉ. सिंह भाषागत अभिव्यक्ति की चर्चा अपने पूर्व निबंध में ही कर चुके थे; दूसरे निबंध में उन्होंने 'अभिव्यक्ति' शब्द का संबंध मात्र 'शब्दाभिव्यक्ति' से न मानकर कर्म की अभिव्यक्ति से भी माना है। शब्द की अभिव्यक्ति से कविता बनती है और कर्म की अभिव्यक्ति से क्रांति। इस प्रकार 'अंधेरे में : पुनश्च' निबंध के अंतर्गत

दिये गये स्पष्टीकरण से 'अस्मिता' का संबंध खोये हुए व्यक्तित्व की खोज तथा काव्यगत अभिव्यक्ति के साथ-साथ वर्ग चेतना की जागृति, कर्म की अभिव्यक्ति या क्रांति आदि से जुड़ जाता है। इस व्यापक संबंध के आधार पर सामाजिक संदर्भ में अस्मिता की खोज का अर्थ होगा, वर्ग चेतना से युक्त होकर कर्म या क्रांति के माध्यम से एक पूरे वर्ग की अस्मिता की खोज करना। व्यक्ति स्तर पर अपना खोया हुआ व्यक्तित्व पा लेना तथा काव्य-रचना के स्तर पर शब्दाभिव्यक्ति के खतरे उठाकर गढ़-मठ तोड़ देना भी अस्मिता की खोज है। जहाँ-जहाँ अलगाव या आत्मनिर्वासन उत्पन्न हुआ है, वहाँ-वहाँ इसके विरुद्ध युद्ध करने की आवश्यकता है। प्रत्येक क्षेत्र के अलगाव के विरुद्ध युद्ध करने से ही क्षेत्र-विशेष की अस्मिता उपलब्ध की जा सकती है, इसलिए नयी व्याख्या के अनुसार डॉ. सिंह की दृष्टि में 'अंधेरे में' कविता का मूल कथ्य हर तरह के 'अलगाव के विरुद्ध' है।

डॉ. रामविलास शर्मा को इस कविता में निश्चित रूप से एक ही मूल संवेदना नहीं दिखलाई पड़ती। मुक्तिबोध की सारी कविताओं के संबंध में उनकी राय लगभग एक जैसी है। 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' पुस्तक में वे लिखते हैं—“मुक्तिबोध की कविता असुरक्षित जीवन की कविता है। उसमें भाव बोध की अस्थिरता और विचारों की उलझन है।” डॉ. शर्मा ने 'अंधेरे में' कविता पर स्वतंत्र रूप से विस्तृत लेख नहीं लिखा, किंतु उपर्युक्त पुस्तक के दो निबंधों¹⁶ में प्रसंगवश 'अंधेरे में' की चर्चा हुई है। उस चर्चा के आधार पर इस कविता का कथ्य एक सूत्र में निबद्ध होकर उपस्थित नहीं हो पाता। वे इस कविता में अस्तित्ववाद की छाया, रहस्यवाद का आलोक, अपराध-बोध, व्यक्तित्व विभाजन, व्यक्तित्वान्तरण आदि सब कुछ एक साथ देखते हैं। उनको लगता है कि मुक्तिबोध अपनी कविताओं में रहस्यवाद और अस्तित्ववाद से मार्क्सवाद का समन्वय करने का प्रयत्न कर रहे हैं। 'नयी कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' निबंध में वे लिखते हैं—“व्यक्ति को केन्द्र बनाने के कारण मुक्तिबोध अस्तित्ववाद का प्रभाव आसानी से ग्रहण करते हैं।... मुक्तिबोध के काव्य में जगह-जगह जो अपराध-बोध का अतिरंजित रूप मिलता है, वह मार्क्सवादी दायित्व बोध से भिन्न है। मुक्तिबोध की समस्या और भी जटिल इसलिए हो जाती है कि उनके व्यक्तित्व का जिस ढंग से विकास हुआ है, उससे दुःस्वप्न, पाप-बोध, त्रास की भावना-मन की असामान्य स्थिति के कारण अस्तित्ववादी प्रभाव के बिना भी उनमें विद्यमान है। विभाजित व्यक्तित्व की असाधारण स्थिति से मुक्तिबोध परिचित थे और उन्होंने अपने काव्य में उसका चित्रण किया है। यह विभाजित व्यक्तित्व पुनः अस्मिता की खोज, आत्मनिर्वासन आदि से बिलकुल भिन्न वस्तु है।”¹⁷ डॉ. शर्मा के अनुसार जब 'अंधेरे में' कविता का नायक कहता है—'मानो मेरे कारण ही लग गया/ मार्शल लॉ यह/ मानो मेरी निष्क्रिय संज्ञा से संकट बुलाया/ मानों मेरे कारण की दुर्घटना/हुई यह घटना', तो वह अतिशय दायित्व-बोध से पीड़ित है। यह अतिशय अपराध-बोध अस्तित्ववादी चिंतन धारा का परिणाम है। चौथे खण्ड में सिरफिरा पागल आत्मबोधमय गीत गाता है। डॉ. शर्मा उसे भी अपराध बोध से परिचालित मानते हैं। इस गीत में उनके अनुसार आत्मभर्त्सना का प्रखर स्वर है।

उनकी दृष्टि में, “मुक्तिबोध जिस मानव-मुक्ति का स्वप्न देखते हैं, वह सामान्य वर्ग-शोषण से मुक्त नहीं है, वह मनुष्य की साधारण संभावनाओं और क्षमता का विकास भी नहीं है। उन्हें चाहिए मानव-आत्मा की पूर्ण सत्ता।” पूर्णता की कामना रहस्यवादी प्रभाव के कारण है। मुक्तिबोध की यह चेष्टा उन्हें 'अंधेरे में' कविता में भी दिखलाई पड़ती है। लिखते हैं—“'अंधेरे में' कविता में जिस रहस्यमय व्यक्ति को मुक्तिबोध खोज रहे हैं, वह उनकी संभावनाओं, निहित प्रभावों, प्रतिमाओं की 'पूर्ण अवस्था है,

मेरे परिपूर्ण का आविर्भाव' है। रात का पक्षी उन्हें बताता है, 'वह तेरी पूर्णतम अभिव्यक्ति' है। इसलिए कविता के अन्त में यह अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं होती। यदि केवल सर्वहारा वर्ग से तदाकार होने का प्रश्न होता तो मजदूरों के जुलूस और संघर्ष में साथ रहने पर वह प्रक्रिया पूरी हो जाती।" रहस्यवादी चिरंतन सुख, चिरंतन सत्य, पूर्ण अवस्था आदि की तलाश करता है। उनके अनुसार मुक्तिबोध भी परिपूर्ण, पूर्णतम आदि विशेषणों से अतिरेकवादी पूर्णता की ही कामना करते हैं।

डॉ. शर्मा ने मुक्तिबोध की मानसिक स्थिति को असामान्य मानते हुए उन्हें सिजोफ्रेनिया से ग्रस्त माना है। एक स्थल पर इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—“सिजोफ्रेनिया से ग्रस्त व्यक्ति ईश्वर की या अपने शत्रुओं की आवाजें सुनता है। अथवा वह अनुभव करता है कि उसके शरीर में विभिन्न स्थानों में बिजली की किरणें प्रवेश कर रही हैं।” (कॉलमेन : *एबनार्मल साइकॉलोजी*, पृ. 281)। (मुक्तिबोध की कविताओं में अचानक बिजली के झटके लगने का उल्लेख मिलता है—यथा 'अंधरे में' कविता में—'हृदय को देता है बिजली के झटके) इसी रोग के अंतर्गत विभाजित व्यक्तित्व का उल्लेख किया जाता है। मनुष्य के अंदर दो या इससे भी अधिक व्यक्तित्व हैं। ऐसा बोध होने लगता है। (मुक्तिबोध में ऐसे विभाजित व्यक्तित्व के लक्षण विद्यमान थे।) डॉ. शर्मा ने 'अंधरे में' कविता से कई स्थलों को उद्धृत कर मुक्तिबोध की असामान्य मानसिक स्थिति को प्रमाणित करने की चेष्टा की है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—“मेरा सिर गरम है/इसलिए भ्रम है/सपनों में चलता है आलोचन/...छिः पागलपन है, वृथा आलोचन है।...सिर में है धड़-धड़/कट रही हड्डी!/...आत्मा में बहता लगता खून का तलाब/...पीटे गये बालक सा मार खाया चेहरा/उदास इकहरा” आदि। इन अनुभूतियों का संबंध वे कविता के नायक से न जोड़कर सीधे मुक्तिबोध से जोड़ देते हैं।

'अंधरे में' कविता को भाव-बोध के स्तर पर अनिश्चित पाते हुए भी डॉ. शर्मा ने 'व्यक्तित्वान्तर' को इस कविता की मूल समस्या माना है। 'वह जल पीकर मेरे युवकों में होता जाता व्यक्तित्वान्तर' पंक्ति को उद्धृत करते हुए वे लिखते हैं—'अंधरे में' कविता की मूल समस्या यही है—मध्यवर्ग का बुद्धिजीवी सर्वहारा वर्ग से तादात्म्य कैसे स्थापित करे। मुक्तिबोध इस प्रक्रिया को एक रूपक द्वारा प्रस्तुत करते हैं। एक बलवान लुहार ने बहुत-से कंडे जलाकर उस पर लोहे का चक्का रखा। कुछ अन्य बलवान लोग लकड़ी के चक्के पर जबरन घन मार-मार कर लाल-लाल लोहे की गोल पट्टी चढ़ाते हैं।...लुहार श्रमिक वर्ग का प्रतीक है। वह घन चोट से जबरन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी के व्यक्तित्व पर संकल्प का टायर चढ़ाता है।¹⁸ आगे चलकर व्यक्तित्वान्तर अथवा व्यक्तित्व परिवर्तन की बात को वे कविता के नायक से हटाकर कवि मुक्तिबोध पर लागू कर देते हैं और यह मानने लगते हैं कि 'अंधरे में' कविता के प्रतीकों द्वारा मुक्तिबोध से स्वयं अपने व्यक्तित्व परिवर्तन की बात कही है। इतना निश्चित है कि डॉ. शर्मा अस्मिता की खोज को इस कविता का मूल कथ्य नहीं मानते। उन्होंने अपने विस्तृत निबंध डॉ. नामवर सिंह की मान्यता की आलोचना की है। डॉ. सिंह जिस प्रकार अस्मिता का अर्थविस्तार करते हैं, उस पर डॉ. शर्मा ने चुटकी ली है—“अस्मिता भी खूब है। पूरी बहुरूपिया है। कब कौन-सा रूप धारण करेगी, कोई नहीं कह सकता। कहीं क्रांति है, कहीं कविता है, कहीं व्यक्तित्व है, और काव्य-नायक को खूब छकाती है।”

डॉ. इन्द्रनाथ मदान के मत में मुक्तिबोध की प्रायः हर कविता अधूरी होती है। उनकी कविता के संबंध में किसी मूल संवेदना की चर्चा तो दूर रही—“वे उनकी संवेदना को ही 'अंधकार से घिरी हुई'

पाते हैं। आत्मा के चक्के पर जिस संकल्प शक्ति के ज्वलंत टायर को चढ़ाने की बात मुक्तिबोध करते हैं। वह 'संकल्प शक्ति' डॉ. मदान के मत में 'असाध्य वीणा' की सृजन-शक्ति और 'राम की शक्ति पूजा' की 'शक्ति' से मेल नहीं खाती न भाषिक स्तर पर न संवेदना के स्तर पर।" कविता को उन्होंने अधूरी इसलिए कहा, क्योंकि वह पूरी नहीं होना चाहती इसलिए उनका निष्कर्ष है—'इनकी कविता तट की न होकर मझधार की कविता है।' अज्ञेय की कविता से मुक्तिबोध की कविता की तुलना करते हुए वे लिखते हैं—“अज्ञेय और मुक्तिबोध की कविता में संवेदना का गहरा अंतर है। एक 'पूरी' लगती है, दूसरी 'अधूरी', एक उपलब्धि का आभास देती है, और दूसरी खोज का, खोज की बात चाहे दोनों में है, एक में आत्मन्वेषण है, दूसरी में संशोधन-रूपान्तरण; एक में तलाश है, दूसरी में छील-छाल, एक में कविता की रचना है और दूसरी में मानव की रचना और कविता की प्रक्रिया एक-दूसरे से बुरी तरह जुड़ी है।”¹⁹ निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि डॉ. मदान की दृष्टि में 'अंधेरे में' कविता में खोज की चेष्टा है, संवेदना के स्तर पर वह अधूरी है, इसलिए किसी मूल संवेदना से जुड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस कविता को लेकर उत्तर-प्रत्युत्तर देने की परंपरा भी चल निकली है। डॉ. नामवर सिंह ने 'अंधेरे में पुनश्च' निबंध में डॉ. शर्मा के इस मत का खंडन किया है कि इस कविता में अस्तित्ववाद एवं रहस्यवाद है। इसका प्रत्युत्तर डॉ. शर्मा ने 'नयी कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन', निबंध में दिया है। दोनों आलोचक एक-दूसरे से सहमत नहीं हैं। डॉ. जगदीश कुमार, डॉ. सिंह एवं डॉ. शर्मा—दोनों से अपना मत किंचित् भिन्न रूप में रखते हैं। 'अंधेरे में : परम अभिव्यक्ति की प्रामाणिक खोज' शीर्षक निबंध में उन्होंने अपना निष्कर्ष इस रूप में दिया है, “कवि ने यहाँ आत्मनिर्वासित होकर अस्मिता की खोज नहीं की, आत्मसंघर्षरत होकर अस्मिता का विकास किया है।”²⁰ उनके अनुसार इस कविता में मुक्तिबोध के सृजनशील अन्तःकरण का चित्र प्रस्तुत हुआ है। 'कवि का अन्वेषी अन्तःकरण साहसपूर्वक जड़ीभूत सौंदर्यानुभूति और शिलीभूत अभिव्यक्त शैली से दीर्घ संघर्ष करता हुआ अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति का, आत्मा की प्रतिमा का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है।' चंचल चौहान, मुक्तिबोध की किसी भी कविता का मूल कथ्य अस्मिता की खोज नहीं मानते हैं। अपनी पुस्तक 'मुक्तिबोध : प्रतिबद्ध कला के प्रतीक' में लिखते हैं—'सत्य यह है कि मुक्तिबोध की किसी भी कविता का मूल कथ्य अस्मिता की खोज नहीं है, बल्कि उनके काव्य का संवेदनात्मक उद्देश्य है—अस्मिता का विलय, व्यक्तित्वान्तर, सर्वहारा वर्ग में अपनी मध्यवर्गीय अस्मिता का विलय।’²¹ 'अंधेरे में' कविता की अन्तिम पंक्तियों से इसका कथ्य अस्मिता की खोज निकालना उनकी दृष्टि में 'आलोचना की ऐसी तैसी करना है।' कविता का नायक आरंभ में अस्मिता को बचाये रखने वाला आत्मनिर्वासित व्यक्ति है, किन्तु कविता के अन्त तक वह अपनी अस्मिता का विलय करके अपने व्यक्तित्व को परिवर्तित कर लेता है। 'डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी के निबंध 'संघर्ष पुरुष की स्वप्न कथा’²² के अनुसार इस कविता की सिद्धि 'रहस्यमय व्यक्ति को अवचेतन के अंधेरे से निकालकर जगत की गलियों में सड़कों पर लोगों की भीड़ में' ले आने में है। 'रक्तालोक स्नात पुरुष' और सुविधाजीवी मध्यवर्गीय व्यक्ति दोनों एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। दोनों का द्वन्द्व ही हमारी विशेष सामाजिक अवस्था का ऐतिहासिक द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व ही इस कविता का केंद्रीय कथ्य है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मूल कथ्य एवं संवेदना के संबंध में आलोचक एवं व्याख्याता एकमत नहीं हैं। किंतु आश्चर्य की बात यह है कि एक-दूसरे से असहमति एवं मूल कथ्य की भिन्नता

प्रतिपादित करते हुए भी प्रायः सभी मत एक दूसरे के पूरक लगते हैं। डॉ. नामवर सिंह द्वारा प्रतिपादित 'अस्मिता की खोज' भले ही कुछ भिन्न मालूम पड़े किन्तु अस्मिता का विलय, अस्मिता का विकास एवं व्यक्तित्वान्तर लगभग एक ही बात है। अस्मिता का विकास अस्मिता में परिवर्तन-परिवर्धन किये बिना नहीं हो सकता। इसी तरह व्यक्तित्वान्तर के लिए संकुचित अस्मिता का विलय पहली सीढ़ी है।

कुछ उद्धरणों के आधार पर भले ही इस कविता में अपराधबोध एवं व्यक्तित्व विभाजन आदि सिद्ध होता हो, इन्हें कविता का मूल कथ्य नहीं माना जा सकता। द्वन्द्व-चित्रण इस कविता में अवश्य हैं, किन्तु यही केन्द्रीय कथ्य है, ऐसा नहीं लगता। डॉ. सिंह ने 'अस्मिता' शब्द का जो अर्थ विस्तार किया है, यदि हम उसे स्वीकार लें तो इस कविता की मूल संवेदना को 'अस्मिता की खोज' शीर्षक दिया जा सकता है। 'अंधेरे में : पुनश्च' के अनुसार 'अस्मिता' शब्द व्यक्तिगत अस्मिता मात्र का पर्याय नहीं रह जाता, बल्कि एक पूरे वर्ग की चेतना से इसका संबंध जुड़ता है। जब कोई व्यक्ति वर्ग चेतना से युक्त होकर अपनी अस्मिता खोजेगा तो वह किसी सीमा तक व्यक्तिगत अस्मिता को अवश्य भूल जायेगा। व्यक्ति-हित के बदले वह वर्ग-हित की बात करेगा। ऐसा करने के लिए उसे अपने व्यक्तित्व को बदलना ही पड़ेगा। अतएव यदि 'अस्मिता की खोज' का व्यापक अर्थ लें तो इसे मूल कथ्य मानने में विशेष आपत्ति नहीं रह जाती। यदि व्यक्तित्वान्तरित होने का अर्थ वर्गापसरित (डिक्लास) होने की प्रक्रिया है तो बात दूसरी है। ऐसी हालत में इस कविता का कथ्य मध्यवर्गीय वाचक के संदर्भ में यह होगा कि वह अपना वर्ग छोड़कर सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाये।

सन्दर्भ ग्रन्थ-

1. यह कमरा स्थूल जगत का कमरा नहीं है इसलिए कवि ने पहले ही जिन्दगी के.....'लिखकर इसका संकेत दे दिया है' अर्थात् ये अंधकार भरे कमरे बाहर के उतने नहीं हैं, जितने जिन्दगी के हैं।
2. "नाटकीय कौशल के लिए कविता का 'मैं' दो व्यक्ति चरित्रों में विभक्त कर दिया गया है : एक है काव्य नायक 'मैं' और दूसरा है, उसका प्रतिरूप 'वह'।".... (कविता के नये प्रतिमान-द्वितीय संस्करण) पृष्ठ-236
3. विवेचन की सुविधा के लिए 'मैं' के स्थान पर इससे आगे सर्वत्र 'वाचक' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है।
4. वाचक के व्यक्तित्व का अनभिव्यक्त पक्ष अन्तर्मन की तहों में बंद है। यह जंग खायी सिटकनी उस अन्तर्मन के दरवाजे की है, जिसको खोलने से वाचक कतराता रहा है। बहुत दिनों से उपयोग में न आने के कारण ही सिटकनी में जंग लग गई है।
5. वाचक अथवा कवि व्यक्तित्व का वह अंश जो उसे संवेदनात्मक उद्देश्य की ओर प्रेरित करता है।
6. एक व्याख्या के अनुसार, "सामाजिक जंगल में हो-हो (टू बी, टू एग्जिस्ट) की आवाज करने वाले सियार सामूहिकता विरोधी तत्त्व हैं।" तथा "रेलगाड़ी गत्यात्मक सामूहिकता का प्रतीक है।...वाचक अन्तर्मन से कहीं न कहीं सामूहिकता से जुड़ चुका है, इसलिए उसे चिन्ता हो जाती है कि कहीं कोई रेल एक्सीडेंट न हो जाय।"
7. रामायण, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारतपुराण, श्रीमद्भागवत आदि में इस ऋषि की चर्चा आती है। महर्षि अजीगर्त ने अपने पुत्र शुनः शेष को बलि-पशु के रूप में रोहित के हाथ बेच दिया था। यहाँ आत्मनिर्वासित व्यक्ति का प्रतीक।
8. जूझने के संकल्प के साथ ही वाचक दमनकारी शक्तियों से साक्षात्कार करता है। दमनकारी शक्तियाँ हैं-सरकारी अफसरशाह, पुलिस तथा सेना। बूढ़ा असंभव पक्षी संभवतः सरकारी अफसर का प्रतीक है। पुलिस का स्पष्ट निर्देश है ही। टैकों के दस्ते सेना का संकेत देते हैं।

9. 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है' का नारा देने वाले तिलक मुक्ति संग्राम के क्रांतिकारी नेता थे। वाचक उनसे प्रेरणा लेने उनके पास पहुँचता है। तिलक की चिन्ता एवं उनकी नासिका से खून बहना इस बात का संकेत है कि वे अपने क्रांति के स्वप्न को पूरा न कर सके। उनके चरणों का स्पर्श वाचक के विवेक को तीव्र कर देता है और उसके व्यक्तित्व को नये सिरे से गढ़ने लगता है। निजत्व की छीलछाल से ही क्रांति के योग्य मजबूत व्यक्तित्व बन सकेगा।
10. डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार यह जिद व्यक्तित्व-परिवर्तन की प्रक्रिया के विरोध में उठती है।
11. एकान्तप्रिय कलाकार का शव इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि अभिव्यक्ति की खोज में लगा हुआ वाचक जो स्वयं कवि भी है अपने व्यक्तित्व के उस हिस्से को नष्ट कर देता है जो सिर्फ सपने देखता है, कर्मण्य नहीं है। अकेलेपन में शुचितर विश्व के सपने देखना एक बात है और संघर्ष के लिए प्रस्तुत होना बिलकुल दूसरी बात। इसलिए इस कलाकार की मृत्यु आवश्यक है। इसके बाद वाचक कर्म की दिशा में बढ़ता है अर्थात् नये-नये दोस्तों को खोजने की इच्छा से युक्त हो जाता है।
12. पकड़े जाने, पीटे जाने एवं क्रासएक्जामिन किए जाने का पूरा प्रसंग इस बात का संकेत है कि संघर्ष या क्रांति में कूद पड़ने पर उसका परिणाम भुगतना पड़ सकता है।
13. कवि ने यहाँ श्रमिक के संताप आदि को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा है।
14. इसका सम्बन्ध क्रांति की प्यास से जोड़ा जा सकता है।
15. यह प्रणयिनी एक व्याख्याता के अनुसार क्रातिरूपिणी प्रणयिनी है, जबकि डॉ. रामविलास शर्मा को लगता है कि मुक्तिबोध को एक मानव प्रणयिनी की आवश्यकता थी ("मैं इतना ही कह सकता हूँ कि मुक्तिबोध को एक प्रेमिका की सख्त जरूरत थी")। जैसा कि उन्होंने 'अँधेरे में' कविता के अन्तिम अंश में लिखा है : "मानो कि चुम्बन की याद आ रही है।" –नयी कविता और अस्तित्ववाद, पृ.-221)।
16. 'मुक्तिबोध का आत्मसंघर्ष और उनकी कविता' तथा 'नयी कविता और मुक्तिबोध का पुनर्मूल्यांकन' नामक निबन्ध। देखिए-नयी कविता और अस्तित्ववाद (डॉ. रामविलास शर्मा)।
17. नयी कविता और अस्तित्ववाद, प्रथम सं., पृ.-233।
18. नयी कविता और अस्तित्ववाद, प्रथम सं., पृ.-172।
19. गजानन माधव मुक्तिबोध-सं. डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम, देखिए-डॉ. इन्द्रनाथ मदान का निबन्ध, 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', पृ.-133।
20. नयी कविता की चेतना (प्रथम संस्करण) –डॉ. जगदीश कुमार, पृ.-90।
21. मुक्तिबोध : प्रतिबद्ध कला के प्रतीक, पृ.-107।
22. देखिए, गजानन माधव मुक्तिबोध-संपादक –डॉ. लक्ष्मणदत्त गौतम, पृ.-191।

महत्त्वपूर्ण प्रश्न

1. “हम व्यक्तिवाद के गहन दण्डकारण्य में से बाहर निकल पड़ें, जिन-जिन स्थानों पर मनुष्य अपनी अस्तित्व रक्षा में लीन है, वहाँ-वहाँ हमारे हित लगे हुए हैं। हमारे काव्य का चरित नायक, आज स्वयं मूर्तिमान यथार्थ ही हो।” –इस कथन से परिप्रेक्ष्य में मुक्तिबोध के यथार्थबोध का विवेचन करें।
2. ‘नये कवियों में मुक्तिबोध को जीवन-यथार्थ का जितना गहरा बोध है उतना शायद ही किसी को हो।’ क्या आप इस कथन से सहमत हैं? मुक्तिबोध के यथार्थ-चित्रण के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट करते हुए उत्तर दें।
3. यथार्थ के सम्बन्ध में मुक्तिबोध के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
4. ‘कवि हृदय आज के जगत् में मूल द्वन्द्वों का अध्ययन करे अर्थात् अपनी सम्पूर्ण चेतना द्वारा आज की वास्तविकता की तह में घुसे और ऐसी विश्व-दृष्टि का विकास करे, जिससे व्यापक जीवन-जगत् की व्याख्या हो सके...।’ मुक्तिबोध के इस कथन से आप कहाँ तक सहमत हैं? क्या मुक्तिबोध विश्वदृष्टि का विकास करने वाले आत्मचेतस् कवि हैं।
5. ‘अँधेरे में’ कविता देश के आधुनिक जन-इतिहास का, स्वतंत्रता पूर्व और पश्चात् का एक दहकता दस्तावेज है।’ –इस कथन की समीक्षा करें।
6. ‘अँधेरे में’ कविता की मूल संवेदना अथवा इसका मूल कथ्य क्या है? क्या मुक्तिबोध की संवेदना अंधकार से घिरी हुई है? –स्पष्ट करें।
7. ‘मुक्तिबोध की कुछ लम्बी कविताएँ आधुनिक हिन्दी काव्य की विशिष्ट देन हैं, जिनमें ‘अँधेरे में’ प्रमुख हैं।’ –आधुनिक हिन्दी साहित्य की लम्बी कविताओं के संदर्भ में ‘अँधेरे में’ कविता का मूल्यांकन करें।
8. ‘मुक्तिबोध के सारे प्रयोग विषय-वस्तु को लेकर हुए हैं। यह कुछ उनकी सीमा भी है और एक भारी विशेषता भी’—क्या आप इस कथन से सहमत हैं? मुक्तिबोध के वस्तु और शिल्प की विशेषताओं को निरूपित करते हुए उत्तर दें।
9. फैंटेसी-शिल्प की कमियों को स्पष्ट करते हुए यह बताएँ कि मुक्तिबोध ने इसे अपना माध्यम क्यों चुना?

पाठ्य-सामग्री के लिए सहायक ग्रन्थ

1. नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध –गजानन माधव मुक्तिबोध
2. एक साहित्यिक की डायरी –गजानन माधव मुक्तिबोध
3. नयी कविता और अस्तित्ववाद –डॉ. रामविलास शर्मा
4. कविता के नये प्रतिमान –डॉ. नामवर सिंह
5. नयी कविता की चेतना –डॉ. जगदीश कुमार
6. गजानन माधव मुक्तिबोध –लक्ष्मणदत्त गौतम (संपादक)
7. मुक्तिबोध : प्रतिबुद्ध कला के प्रतीक –चंचल चौहान
8. ‘तार सप्तक’ के कवियों की समाज-चेतना –डॉ. राजेन्द्र प्रसाद (मुक्तिबोध सम्बन्धी अंश)